श्री स्वामी चतुर्भुज दास प्रणीत

द्वादश यश

(प्रेम और भक्ति - रस पर दुर्लभ और सशक्त दार्शनिक विवेचन)

✦ भाष्य, टीका एवं रूपान्तर कार ✦

आचार्य १००८ श्री युगल वल्लभ गोस्वामी

आचार्य १००८ वृन्दावन वल्लभ गोस्वामी

✻ आज्ञानुसार प्रकाशित ✻

श्रीहित राधावल्लभीय संप्रदायाचार्य,

गो. १०८ श्रीबंशीवल्लभजी महाराज, वृन्दावन

श्री वृन्दाविपिन प्रकाशन, श्रीधाम वृन्दावन

॥ जय श्रीराधे ॥

श्री स्वामी चतुर्भुज दास प्रणीत

द्वादश यश

(प्रेम और भक्ति – रस पर दुर्लभ और सशक्त दार्शनिक विवेचन)

◆

✻ भाष्य, टीका एवं रूपान्तर कार ✻

आचार्य १००८ श्री युगल वल्लभ गोस्वामी

आचार्य १००८ वृन्दावन वल्लभ गोस्वामी

◆

✻ आज्ञानुसार प्रकाशित ✻

श्रीहित राधावल्लभीय संप्रदायाचार्य,

गो. १०८ श्रीबंशीवल्लभजी महाराज, वृन्दावन

◆

✻ सम्पादक ✻

आचार्य योगेन्द्र वल्लभ गोस्वामी

◆

✻ रसिक भक्तिमती-सेवक ✻

श्रीमती रतनीदेवी नवरंगलालजी सिंघानिया

श्रीधाम वृन्दावन (नागपुरवाले)

◆

श्री वृन्दाविपिन प्रकाशन

श्रीधाम वृन्दावन

हिताब्द ५३६

श्री हितोत्सव सम्वत्-२०६८

पुस्तक मिलने का स्थान :

* **आचार्य यतीन्द्रवल्लभ गोस्वामी**
  श्री वृन्दाविपिन प्रकाशन
  श्रीधाम वृन्दावन (मथुरा)
  मो.: ०९८९७२७११५६, ०९४१२८८४५७४

* **श्री. शंकर मुरारका**
  मुरारका प्रिन्टर्स, मोदी नं. २, सिताबर्डी, नागपूर
  फोन : ०७१२-२५२६३५३

* **श्री. ब्रजमोहनदास अग्रवाल**
  झण्डा चौक, गाडरवारा (म.प्र.)
  फोन : ०७७९१-२५४८३२

न्योछावर : रु. २५१/-

अक्षरांकन :
मुरारका प्रिन्टर्स
मोदी नं. २, सिताबर्डी, नागपूर
फोन : ०७१२-२५२६३५३

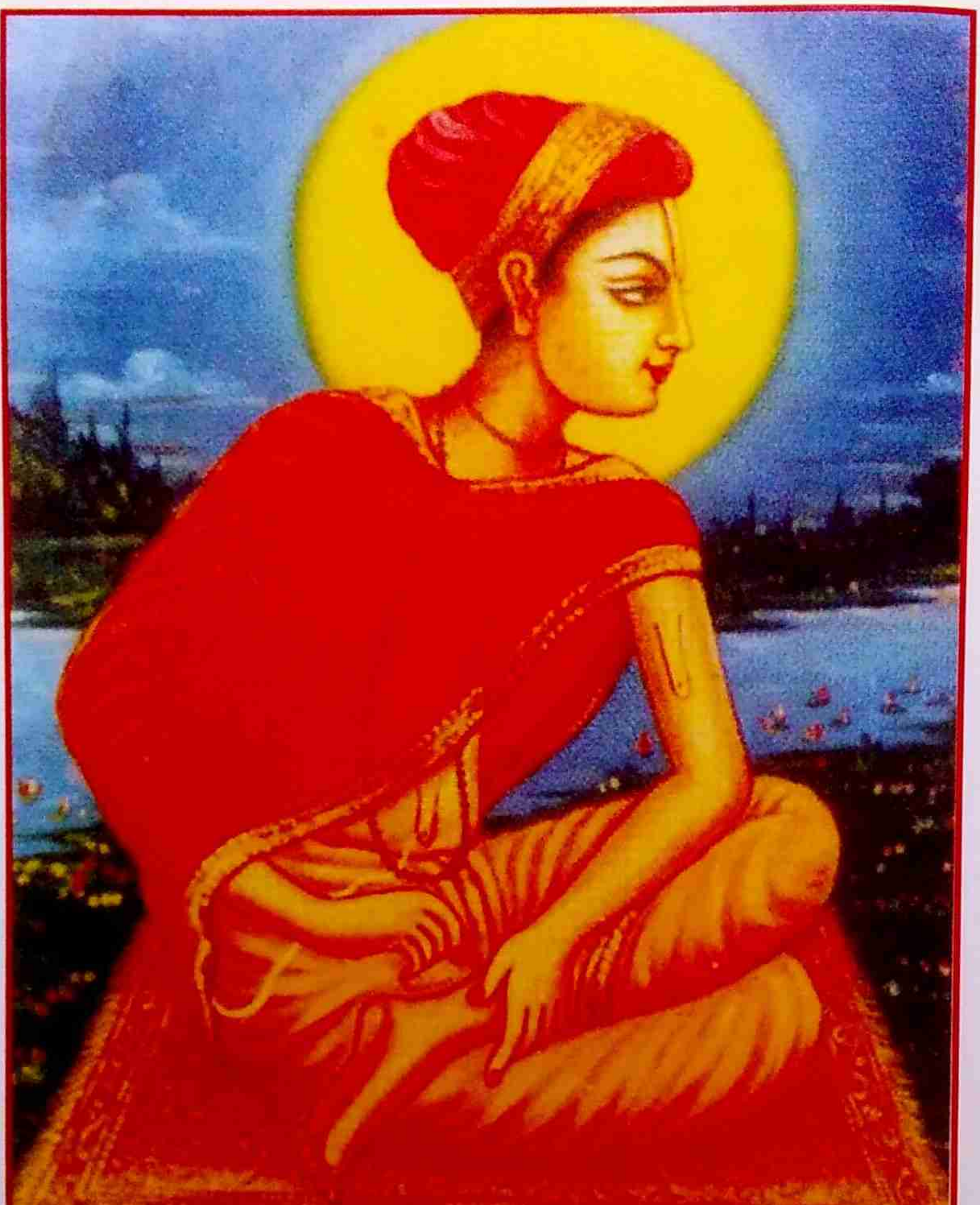

रसावतार भगवान श्रीकृष्ण वंशी स्वरूप
श्रीधाम वृन्दावन प्राकट्यकर्त्ता
गोस्वामी श्री हित हरिवंश महाप्रभुजू महाराज

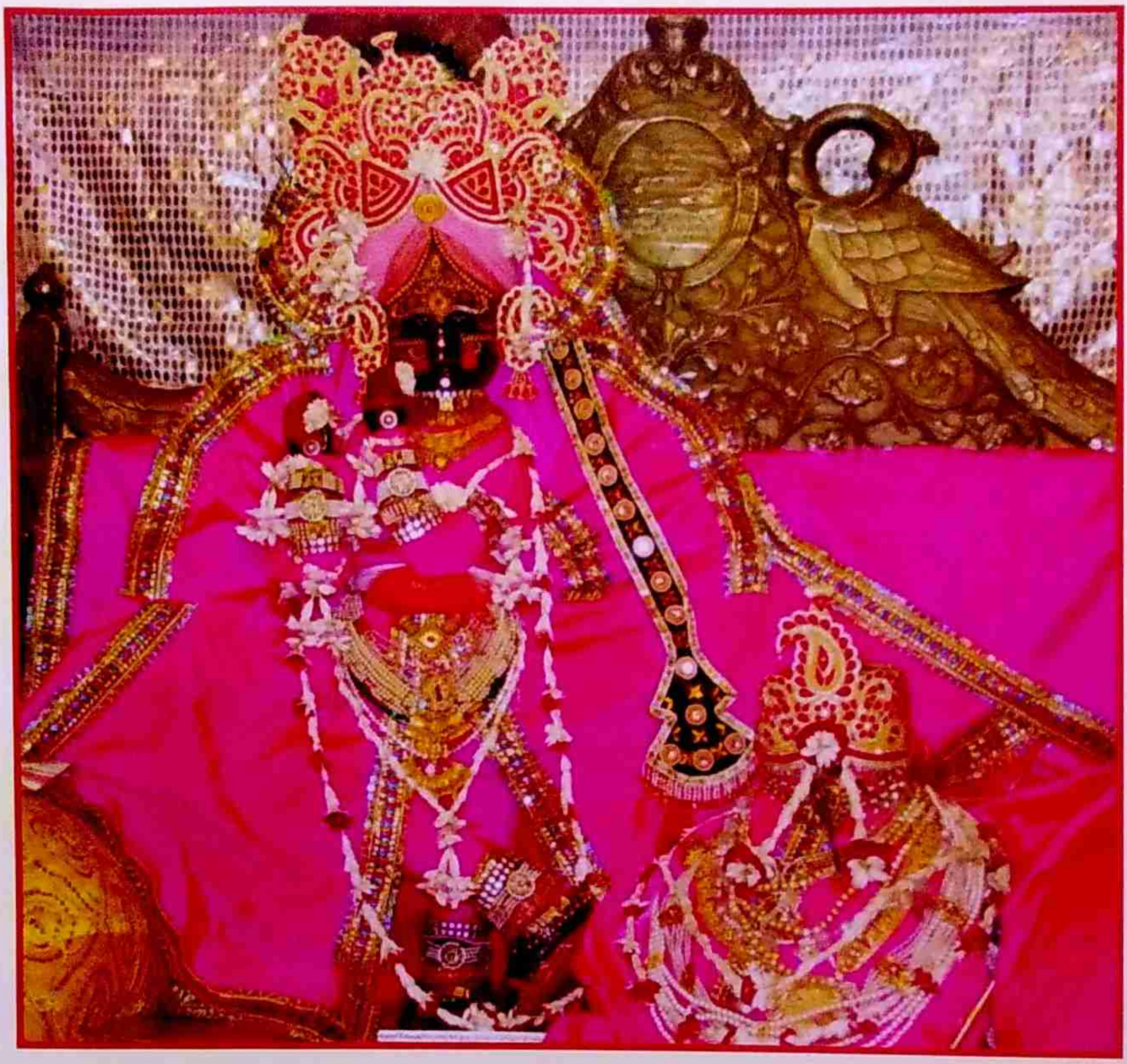

आद्यब्रह्म श्री हितहरिवंश लाड़ले परमाराध्य विराजमान

ठाकुर श्री राधावल्लभजी महाराज

श्रीवृन्दावन धाम

सुमनिका-मञ्जरी

दर्शन : प्रभुमिलन :

मनुष्य का जीवन कर्म, प्रारब्ध, संस्कार आदि से प्रेरित रहता है, लेकिन यथार्थ रूप से जीव भगवान का अंश है। जीवमात्र का जीवन भगवत् चेतना से संचालित होता है और सम्पूर्ण भी। भगवत् चेतना द्वारा जीव के कर्मों में भगवदीय गुण परिलक्षित होने लगते है। इस स्थिती में कर्तव्यपरायणता या निष्काम भाव से जीव कर्म करता है यही धर्म का सेवापरायण होना है अन्यथा कर्म या अहंकार।

दर्शन : सबतौ हित निष्काम मति, श्री वृन्दावन विश्राम।
श्रीराधावल्लभ लाल को, हृदय ध्यान मुख नाम ॥

श्री नवरंगलाल सूरजमलजी सिंहानिया सनातन धर्म व हिन्दू संस्कृति के सच्चे पुजारी थे। किशोरावस्था मे अपने पिताजी से असमय वियोग से न केवल परिवार के पोषण का मार आपने सँभाला अपितु कुटुम्ब के प्रति कर्तव्यों का भी आपने बखूबी निर्वाह किया।

कालान्तर में यह कर्तव्य निष्ठा, दीन-दुःखी की सेवा व सामाजिक उत्थान के रूप में पल्लवित हुई। यही कारण है कि आपकी जीवन शैली आदर्श व ईश्वर परक होकर, जल्द ही पुष्ट (स्थिर) हो गयी।

कुल-देवी-देवताओं से समृद्ध हो आपकी ईश्वर निष्ठा श्रीधाम वृन्दावन रस भक्ति में गोता लगाने लगी। जैसे ही इस प्रभु-प्रेम में फूल-फल आने का समय आया; आपकी जीवन-लीला ने असमय विराम ले लिया।

इसके फलस्वरूप नवरंगलालजी के कई कार्य अधूरे रह गये। आपके तीनों

पुत्रों ने संयुक्त रूप से उन कार्यों को पूरा ही नहीं किया वरन् उन्हें नये आयाम भी दिये है।

आपकी पत्नी श्रीमती रतनीदेवी सिंहानिया श्री वृन्दावनधाम में श्रीहित हरिवंश महाप्रभु द्वारा प्रदत्त श्रीहित राधावल्लभीय रसोपासना में मग्न हो नित्यसेवा में तल्लीन रहती है। एवं इनके द्वारा परिवार का भक्ति-मार्ग भविष्य में प्रशस्त हो और प्रखर व प्रचुर हो।

आपके द्वारा कई महत्वपूर्ण सेवायें हो चुकी है। आज 'द्वादश-यश' ग्रन्थ को प्रकाशित करने की सेवा आपके द्वारा सम्पन्न हो रही। भविष्य में यह इसी प्रकार विकसित हो यही तो प्रभु-कृपा है, सेवा है, नित्यता है एवं आशीर्वाद भी।

-प्रकाशक

अनुक्रम

प्रस्तावना

सम्पादकीय

भूमिका

आचार्य युगल वल्लभ गोस्वामी-
वंश परम्परा और कृतित्व

मंगल और बधाई

स्वामी चतुर्भुज दास-
व्यक्तित्व और कृतित्व की झलक

राम रसिकावलि का 'अनुपम परबन्ध'

शिला लेख का एक प्रमाण

चरित ग्रन्थों में स्वामी चतुर्भुज दासजी

द्वादश यश-

१ शिक्षा सकल समाज यश

२ धर्म विचार यश

३ भक्ति प्रताप यश

४ सन्त प्रताप यश

५ शिक्षा सार यश

६ हितोपदेश यश

७ पतित पावन यश

८ मोहिनी यश

९ अनन्य भजन यश

१० श्रीराधा प्रताप यश

११ मंगल सार यश

१२ विमुख-मुख भंजन यश

द्वादश यश : सन्दर्भ और स्त्रोत

वेद और श्रुतियाँ	चर्पट पंजरी
आगम और नीतियाँ	विष्णु रहस्य
महाभारत	विरंचि सर्वस्व
श्रीमद्भगवद्गीता	हरि भक्ति सुधोदय
श्रीमद्भागवत	आदि पुराण
याज्ञवल्क्य स्मृति	ब्रह्मवैवर्त पुराण
योग वाशिष्ठ	स्कन्द पुराण
गर्ग संहिता	मारकण्डेय पुराण
सनत्कुमार संहिता	ब्रह्माण्ड पुराण
अगस्त्य संहिता	पद्म पुराण
विष्णु धर्म संहिता	वृहन्नारदीय पुराण
वाल्मीकि रामायण	नृसिंह पुराण
लघु भागवत	गरुड़ पुराण
नारद पांचरात्र	अग्नि पुराण
हय शीर्ष तंत्र	नारद पुराण
विष्णु यामल तंत्र	वामन पुराण
रुद्रयामल तंत्र	भविष्य पुराण
हरगौरि तंत्र	वाराह पुराण
भक्ति तंत्र	आनन्द लहरी
मुक्ति मृग्य सागर तंत्र	पाण्डव गीता
अमर कोष	मुकुन्द माला
	कर्णानन्द काव्यम् आदि

अन्य संस्कृत ग्रन्थकार

विल्वमंगलाचार्य 'लीला शुक' : भर्तृहरि : कालिदास : जगद्गुरु शंकराचार्य : जयदेवः श्रीधर स्वामी : रघुनाथ उपाध्याय : यादवेन्द्र कविः रूप गोस्वामी : रघुनाथ भट्ट : प्रबोधानन्द सरस्वतीपाद् : आचार्य कृष्णचन्द्र गोस्वामी : आदि

सन्त-वाणीकार

कबीरदास : नामदेव : तुलसीदास : रैदास : नाभाजी : प्रियादास : सूरदास : नन्ददास आदि

श्री राधावल्लभीय वाणी-साहित्य

आचार्य हित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु : दामोदरदास 'सेवक जी महाराज' : महात्मा ध्रुवदास : हरीराम व्यास : आचार्य ललिताचरण गोस्वामी - श्रीहित हरिवंश गोस्वामी - सम्प्रदाय और साहित्य : श्री विजयेन्द्र स्नातक-राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धान्त और साहित्य : पं. प्रियादास - - राधावल्लभ भक्तमाल आदि

द्वादश यश-परिपेक्ष्य

सारे वाह्य-जंलालों को छोड़कर वैष्णव भक्ति-मार्ग को उपासना का सहज-क्रम बताने वाले ग्रन्थों में द्वादश यश का अपना महत्व है। इसमें ग्रन्थकार स्वामी चतुर्भुज दास जी द्वारा 'अनन्य उपासना' की गरिमा सहज ही उभर कर ऊपर आ गयी है। यह उनके ग्रन्थ प्रणयन के उद्देश्य के सर्वथा अनुकूल था। स्वामीजी स्वयं श्री राधावल्लभीय प्रेम-लक्षणा पथ के अनुयायी थे; जिसका 'हित परिकर' १७ वीं शताब्दी की युगान्तर वादी देन थी।

राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से हो, या उपासना-परक भावना से, अथवा भले ही सामाजिक या कौटुम्बिक जीवन के परिप्रेक्ष्य में हो; श्री राधावल्लभीय 'हित-भावना' सर्व-भावेन एक 'श्वपच' को भी तद्नुकूल आचरण अपनाने पर हित-परिकर का मानती है। वास्तव में भी देखा जाय तो 'प्रसाद' जैसी प्रासादिकता भरी वस्तु में आचार-विचार पूर्ण रूढ़ता से ही हमारे समाज का यह वाह्य-जंजाल शुरू होता है। इस प्रपंच-भरे जीवन में ईश्वर का दिया प्रसाद सभी पाते हैं। सभी कुछ उसी तत्व का दिया हुआ है। परन्तु उसमें भी जाति-पांत का भेद, व्रत और यज्ञोपवीत खण्डित होने का भय सारे प्रपंचों की जड़ बनता है। इसे इस सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी श्री हित हरिवंशचंद्र महाप्रभु के 'हित की यहां उपासना' तत्व ने सभी हित किंवा प्रेम-रस के मार्गियों के लिये सहज ढंग से निर्मूल कर दिया था।

राष्ट्रीय भावात्मक गठबन्धन के लिये इससे सरल और कौन माध्यम होगा, जिसका सन्देश हमारे युग-नेता राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने भी दिया था। हमारे प्राचीन सन्त साहित्य में मिलने वाले अनेक ऐसे उदाहरणों में पं. हरीराम व्यास (ओरछा वाले) का प्रमाण इतिहास-प्रसिद्ध है जिन्होंने वृन्दावन में प्रसादी जूठन

भरे स्वपच के टोकरे में से अपने 'ठाकुर श्री राधावल्लभ युगल' की प्रसादी ग्रहण कर 'एक पकौड़ी में जग जीत्यौ' की कहावत चरितार्थ कर दी।

द्वादश यश ग्रन्थ की विषय-वस्तु इसी प्रकार की है। इसके रचयिता स्वामी चतुर्भुज दास जबलपुर के उपनगर गढ़ा वासी थे। मिश्र बंधु विनोद से लेकर परवर्ती सभी इतिहास और समालोचनात्मक इतिहास ग्रन्थों में ये 'बाबा' भ्रमवश अष्ट-छापी चतुर्भुजदास बने रहे। अद्भुत चमत्कारी, प्रखर प्रतिभाशील और शतायुभोगी इस ज्ञान-वृद्ध वपु को ऐसे अज्ञात वास से छुटकारा प्रथम बार सन् १९१२ में प्रयाग कुंभ के अवसर पर रीवा महाराज द्वारा आमंत्रित वैष्णव चतुःसम्प्रदायों के रीवा सम्मेलन में मिला, जब विद्वान राधावल्लभीय आचार्य श्री गोवर्धनलाल गोस्वामी 'प्रेम कवि' के भाषण 'अनन्य वैष्णव धर्म' (प्रकाशित) में स्वामी चतुर्भुज दास जी पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला गया। इन आचार्य पाद ने देश के अनेक हिन्दी भाषी राज्यों में अपनी लोकप्रियता अर्जित की थी; और कलकत्ता से सम्पूर्ण कविता के कलेवर के साथ 'प्रेम-पुष्प नामक पत्र का संचालन-सम्पादन किया था। उल्लेखनीय है कि पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी एक कवि के रूप में इन गुसाईं जी के साथ पत्र-व्यवहार में सुविदित हैं। द्वादश यश मूल का प्रकाशन राधावल्लभीय निर्मोही अखाड़े के महात्मा बाबा माखनचोर दासजी ने भी अहमदाबाद से सन् १९३६ में कराया। संभव है कि इसी अवधि में आचार्य युगलवल्लभ जी गोस्वामी द्वादश यश के ज्ञान-समुद्र के प्रस्तुत सम्पादन कार्य में लगे हों।

स्वामी चतुर्भुजदास जी मध्यप्रदेश वासी होने और यहां निरन्तर परिव्रजन करते रहने के कारण विगत चार सौ बरसों में यहाँ के जिलों में बहुश्रुत रहते आये हैं। उनकी चमत्कारिक कहानियां भिण्ड से लेकर मण्डला तक और वहां से शिवपुरी तथा श्योपुर-बरोदा स्थित राज्य के सीमान्त तक में सुनी जाती हैं। संयोग की बात है इन उल्लखित स्थानो कें मार्ग में पड़ने वाले स्थानों को जोड़ कर ब्रज से

मध्यप्रदेश में आवागमन का एक बड़ा ही मौलिक मानचित्र बनता है। सिरोंज, सागर, भौड़िया, सीयर मऊ, शोभापुर के अतिरिक्त महाकौशल और भोपाल के गोंड राज्यों में उनका एक छत्र प्रभाव था। प्राचीन साहित्य में उन्हें 'गोंड देश तीर्थ कर्ता' छाप से विभूषित किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में यह एक संयोग की बात है कि उसका मूल भाष्य विशद् टीका मेरे दादाजी श्री राधावल्लभीय आचार्य श्री युगलवल्लभ जी गोस्वामी के हाथों हुआ। वे रायसेन जिले में अपनी बाड़ी-दूबतलाई की प्राचीन जमींदारी संभालते वृन्दावन वास करते थे। निरन्तर अध्ययन-साधन और लेखन-प्रकाशन के लिये समर्पित उनका जीवन साधुओं जैसा था। सौ बरस से ऊपर आयुजीवी 'दादा जी महाराज' और बाबा चतुर्भुज दास जी की आत्माओं का सम्मिलन जैसे द्वादश यश पर ग्रन्थ-प्रणयन के साथ साकार हो गया था। इसकी रचना वि. सं. १६८६ तक चलती रही। ग्रन्थ के बारह यशों का वर्तमान क्रम कदापि काल-क्रम के अनुसार नहीं माना जाना चाहिये, क्योंकि एक दूसरे से वे सर्वथा स्वतंत्र हैं।

उपर्युक्त युग में देव-वाणी संस्कृत का बुद्धिजीवी-जगत में बहुल प्रचार था। समालोचना और शास्त्रीय विवेचन के लिये जन-भाषा या जनपदीय बोलियां पूर्णतः माध्यम नहीं बनें पायी थीं इसलिये विद्वद्समुदाय में वाणी-काव्य को प्रामाणिक भी नहीं माना जाता था। अपने इस विलक्षण कृतित्व की प्रतिष्ठा के लिये उन्होंने 'तत्व बोध' नामक संस्कृत-ग्रन्थ की रचनाद्वारा और भी गौरवान्वित कर दिया, जो द्वादश-यश वाणी के तथ्यों की एक-एक कड़ी की पुष्टि के लिये की गयी थी। संस्कृत में स्वलिखित तर्कों और वेद-शास्त्रों के प्रमाणों और उद्धरणों से यह एक पृथक ज्ञान कोष ही तैयार हो गया। तत्वबोध-संकलन-ग्रन्थ के प्रणयन के उपर्युक्त कारण अपनी टीका में विद्वान टीकाकार ने विस्तार से प्रकट किये हैं। द्वादश यश

और उसके प्रबल समर्थन स्वरूप तत्वबोध का संकलन तथा उसी के समान उन दोनों के परस्पर समावेश से ऐसी विशद् टीका किन्हीं निरन्तर विद्या-व्यसनी मनीषियों के लिये ही संभव थी; जो इन दोनों महापुरुषों ने संभव बना दी जो द्वादश-यश के संदर्भ ग्रंथों की सूची के द्वारा भी स्पष्ट है। स्वामीजी ने द्वादश यश के द्वारा आपने सनातन धर्म के सद्ग्रंथों के प्रमाणों से इस ग्रंथ को भागवत धर्म के सार के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। जिससे संस्कृत साहित्य के शास्त्रियो, वेदान्त वादियों और नैयायिको ने इसको परमतत्व के रूप मे स्वीकार किया। यही द्वादश-यश की भुमिका है एवं प्रतिष्ठा भी। यदि मूल टीका को यथास्थिति प्रकाति किया जाता तो लगभग दो भागों का यह कलेवर होता। आचार्य युगल वल्लभजी के ज्येष्ठ पुत्र मेरे पिताजी आचार्य वृन्दावन वल्लभजी गोस्वामी ने १९४५-४६ में इस टीका का पुनर्लेखन ब्रज भाषा शैली से हिन्दी में रूपान्तरित करके कराया। उन्हीं दिनों इस गुरुद्वार में मंत्र-शरण लेकर आये तीन प्रतिभाशाली तरुण वैष्णव सर्वश्री हितदास जी, वंशीदास जी तथा हितशरण जी ने बड़े मनोयोग से यह कार्य किया। चतुर्भुजदासजी के अठारह सिद्धान्त के पद एव आठ-दस पद लीला गान के भी मिलते हैं। इन पदों में भी उनकी जाज्वल्यमान निष्ठा एवं गहन रसिकता के दर्शन होते है। नाभाजी से लेकर वर्तमान काल तक भक्तगण स्वामी जी का विपुल यश गान करते रहे हैं। इनसे स्वामी जी के महिमा मंडित व्यक्तित्व पर काफी प्रकाश पड़ता है।

द्वादश यश की रचना के प्रेरणा स्रोत्रों पर भी यहाँ संक्षेप उल्लेख करना आवश्यक है। प्रथमतः इस सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री हित प्रभु की वाणी में विधि निषेधादि साधन-क्रमों के स्थान पर प्रेमपरक भक्ति साधन पर जो जोर दिया गया है, उस परिप्रेक्ष्य में स्वामी चतुर्भुजदास द्वादश यश लिखकर ऐतद्विषयक अधिकृत प्रवक्ता का स्थान पा गये हैं। जबकि उनके सम-सामयिक रसिक वाणीकार महात्मा ध्रुवदासजी, पं. हरीराम व्यास (ओरछा) ने ही नागरीदास (टीकमगढ़) तथा श्री

सेवक जी महाराज (गढ़ा म. प्र. ने अन्यान्य) विधायें अपनायीं। दूसरा एक विशाल परिप्रेक्ष्य है लोकजीवन के सम्बन्ध में; जिसमें उस समय वैष्णवेतर अखाड़ों की बड़ी धूम थी। परकीय सत्ता के विस्तार के कारण हमारे राजनैतिक ह्रास, और उपासना में वाह्याचार के कारण सामाजिक-धार्मिक अधःपतन ने हमें अन्ध-विश्वासों और धर्म भीरुता जनित विसंगतियों में ग्रसकर रख दिया। वैष्णव सम्प्रदायों के विकास के साथ वैष्णव निर्मोही अखाड़ों का भी गठन आवश्यक हुआ । अध्ययन और खोज-शोधकार्य के लिये यह अब तक एक अछूता विषय है जिसे शोध-संस्थाओं अथवा विश्वविद्यालयीन स्तर पर किया जाना संभव है। राधावल्लभीय निर्मोही अखाडे के 'मानसरोवरीय थोक' के प्रधान महात्मा चतुर्भुजदास जी थे। आचार्य युगलवल्लभजी महाराज के पूर्वज आचार्य राधावल्लभ दासजी गोस्वामी इसके संगठक माने जाते हैं। स्वामी चतुर्भुजदास जी अपनी खासी बड़ी जमात लेकर लोक-जीवन में विचरण करते और आडम्बर और पाखण्ड पूर्ण उपासना साधनों का खण्डन करके भक्ति का सन्देश देते थे।

स्वामीजी के शब्दों में मैने जिस भजन रीति का वर्णय किया है वह गो.श्री हितहरिवंशजी द्वारा प्रकाशित है और उनकी कृपा से श्री मुरलीधरन को हृदय में धारण करके मैंने चेत (जाग्रति) प्राप्त की है।

ये कबित्त कृति कवन-ठवन, विमुखन मुख भंजन।
जन अनन्य आनन्द दैन, भ्रम भार निकन्दन।।
श्रुति स्मृति भागौत संत बुधि वंत विचारै।
छीन-नीर ज्यौं करि विवेक, हरि भजन निहारै।।
श्री हरिवंश सुरीति प्रकट कीनी करुणा करि।
चतुर्भुज हित चित्त चेत रह्यौ मुरलीधर मनधरि।।

द्वादश यश का रचना काल-

द्वादश यश केवल एक यश-धर्म विचार यश-में रचना काल सं. १६८६ दिया हुआ है।

सम्वत् सोरह सो चौरासी अधिक द्वै बरस सिरानी जू।
मुरली धर वर भक्ति चतुर्भुज दास प्रताप वखानी जू।।

यशों को देखने से मालूम होता है कि उनका संकलन सिद्धान्त-विकास को दृष्टि में रखकर किया गया है, रचना काल के क्रम से नहीं। अतः 'धर्म विचार यश' द्वितीय होते भी यह नहीं कहा जा सकता कि शेष 'यश' इसके बाद बने हैं। उदाहरण के लिए दशम यश-श्रीराधा प्रताप यश-में उन्होंने बतलाया है कि श्रीहित महाप्रभु के बाद उनकी रस रीति का निर्वाह श्री प्रकोधानन्द ने अपनी रचनाओं में किया और कब श्री वनमाली दास (श्री वनचन्द्र गोस्वामी) कर रहे हैं।

पुनि परबोधानन्द जुलही-रस सागर लीला कथि कही।
श्री राधा सु प्रताप जस।।
श्री वनमाली दास सुरीति-निर्वाही दिन-दिन अति प्रति।
भजन भक्ति अगनित करत।।

इससे स्पष्ट है कि इस यश की रचना श्री वनचन्द्र गोस्वामी के जीवन काल में हुई है। श्री वनचन्द्र गोस्वामी का निकुंज गमन १६६५ में हुआ था और यह यश इससे पूर्व बन गया होगा। सम्भव है कि 'धर्म विचार यश' की रचना सबसे पीछे हुई हो और इसको अपनी अन्तिम कृति समझकर स्वामीजी ने इसमें रचना काल दे दिया हो। इतना निश्चित है कि इन यशों की रचना सुदीर्घ कालावधि में हुई और धर्म विचार यश को रचना के समय श्रीचतुर्भुज दासजी की आयु ९०-९५ वर्ष के लगभग रही होगी।

द्वादश यश में विविध पुराणों की कथाओं के संकेत दिये हुये हैं। इन कथाओं से अनिभिज्ञ व्यक्ति ग्रन्थ का पूरा आशय नहीं समझा पाता। पुराणों में से सब कथाओं को ढूँढ़कर निकालना अत्यन्त दुष्कर कार्य था और किसी बहुश्रुत विद्वान द्वारा ही यह सम्भव था। आचार्य युगलवल्लभजी महाराज ने यह कठिन कार्य पूर्ण करके भक्त जनों का महान् उपकार किया हैं।

आचार्य श्रीवृंदावनवल्लभजी एवम् आचार्य श्रीबिपिनवल्लभजी महाराज छः महिने के अंतराल में निकुंज गमन कर गये और इस ग्रंथ का प्रकाशन संभव ना हो सका। श्रीराधारानी की ऐसी कृपा, जिसके फलस्वरूप यह ग्रंथ, उनकी सुखद स्मृती एवम् सद्उपदेश के रूप में उन्हीं के निकुंजोत्सव में सभी वैष्णव परिकर के समक्ष प्रकाशित हुआ।

आज करीब ४० वर्ष के अंतराल से यह ग्रंथ पुनः रसिक भक्तिमती-सेवक श्रीमती रतनीदेवी नवरंगलालजी सिंघानिया द्वारा प्रकाशित हो रहा है। इस सेवा के फलस्वरूप इनकी सपरिवार व सपरिकर ठाकुर श्रीराधावल्लभलालजी महाराज के श्रीचरणों में स्थिर मति हो वास्तव में इसी मंगलमय आशीर्वाद के पात्र होने का, प्रभुसेवाही एकमात्र सोपान है।

इस ग्रंथ के संपादन में श्रीवृंदावनबिहारी गोस्वामी 'निम्बार्क कोट', बाबा राधेश्याम का एवं श्री मुरारका प्रिन्टर्स ने अक्षरांकन करने मे विशेष सहयोग दिया।

श्रीहित राधावल्लभीय संप्रदायाचार्य, गोस्वामी
श्रीबंशीवल्लभजी महाराज, वृन्दावन

परम रसिक वैष्णव हितानुशील

श्री नवरंगलाल सूरजमलजी सिंघानिया,

नागपुर

॥ श्री राधे ॥

श्री द्वादश यश का मूल

द्वादश यश ग्रंथ की शैली और ज्ञान श्रीमद्‌भागवत् पर आधारित है। श्रीमद्‌भागवत् समाधि की भाषा है क्योंकि इसमें श्रृंखला नहीं है। श्री शुकदेवजी बोलते बोलते भगवान में समाधिस्त हो जाते थे और समाधि के टूटने पर नई श्रृंखला में बोलने लगते थे। उनकी महाशक्ति थी कि श्रोता को वक्तव्य दृष्ट करा देते थे। श्रीमद्‌भागवत् में भगवान के निराकार-साकार रूप का वर्णन, सृष्टि की उत्पत्ति के विज्ञान की प्रक्रिया, भक्त और भगवत् अवतारों का वर्णन, भगवान की कार्यशैली, संसारी कर्मनीति, भगवत् रस, कर्तव्य, वैद्य-अवैद्य कर्मो का वर्णन, कर्मफल, आदि का ज्ञान है। श्रीमद्‌भागवत् हृदय को प्रेममय बनाता है और इनके मंत्रों से शुद्धि होती है। ऐसा शुद्ध मानव अपनी इच्छानुसार अपना भक्तिमार्ग (संप्रदाय) चुन सकता है।

द्वादश यश दृढता देता और भगवान में विश्वास जगाता है। संकल्प दृढ नहीं हो तो सिद्धि नहीं होती। कष्ट सहने की क्षमता नहीं हो तो दृढता नहीं आती। दृढता और स्थिरता में अंतर है। स्थिरता हिमालय के जैसी अचलता है और दृढता आंतरिक शक्ति है। दृढता विश्वास से आती है। जिस जीव में या जिस मार्ग में विश्वास होता है, उसमें दृढता रहती है। द्वादश यश से दिव्य सृष्टि का गूढज्ञान होता है। दिव्य सृष्टि के ३ भेद हैं:- १) **पुष्टि सृष्टि-** यह जीवन जीने का उद्‌देश्य है। भैतिकवादी मानव की पुष्टि नश्वर पदार्थो से होती है और व्यर्थ है। ज्ञानी की पुष्टि मुक्ति होती है और भक्त

॥ श्री राधे ॥

श्री द्वादश यश का मूल

द्वादश यश ग्रंथ की शैली और ज्ञान श्रीमद्‌भागवत् पर आधारित है। श्रीमद्‌भागवत् समाधि की भाषा है क्योंकि इसमें श्रृंखला नहीं है। श्री शुकदेवजी बोलते बोलते भगवान में समाधिस्त हो जाते थे और समाधि के टूटने पर नई श्रृंखला में बोलने लगते थे। उनकी महाशक्ति थी कि श्रोता को वक्तव्य दृष्ट करा देते थे । श्रीमद्‌भागवत् में भगवान के निराकार-साकार रूप का वर्णन, सृष्टि की उत्पत्ति के विज्ञान की प्रक्रिया, भक्त और भगवत् अवतारों का वर्णन, भगवान की कार्यशैली, संसारी कर्मनीति, भगवत् रस, कर्तव्य, वैद्य-अवैद्य कर्मो का वर्णन, कर्मफल, आदि का ज्ञान है । श्रीमद्‌भागवत् हृदय को प्रेममय बनाता है और इनके मंत्रों से शुद्धि होती है। ऐसा शुद्ध मानव अपनी इच्छानुसार अपना भक्तिमार्ग (संप्रदाय) चुन सकता है।

द्वादश यश दृढता देता और भगवान में विश्वास जगाता है। संकल्प दृढ नहीं हो तो सिद्धि नहीं होती। कष्ट सहने की क्षमता नहीं हो तो दृढता नहीं आती। दृढता और स्थिरता में अंतर है । स्थिरता हिमालय के जैसी अचलता है और दृढता आंतरिक शक्ति है । दृढता विश्वास से आती है। जिस जीव में या जिस मार्ग में विश्वास होता है, उसमें दृढता रहती है। द्वादश यश से दिव्य सृष्टि का गूढज्ञान होता है। दिव्य सृष्टि के ३ भेद हैः- १) **पुष्टि सृष्टि-** यह जीवन जीने का उद्‌देश्य है। भैतिकवादी मानव की पुष्टि नश्वर पदार्थो से होती है और व्यर्थ है। ज्ञानी की पुष्टि मुक्ति होती है और भक्त

की पुष्टि भगवत्प्रेम की प्राप्ति है। परमहंस सृष्टि से परे जीवनमुक्त होते हैं। २)**मर्यादा सृष्टि**- यह अपने भावानुसार जीवन को जीने का तरीका है। द्वादश यश में अनेक भक्त, राजा, गुरू, धर्मात्मा, दोषी, आदि के संदर्भ से इसका मार्गदर्शन किया गया है। ३)**चेतन सृष्टि**- यह जीवनदाता, पूज्य, शाश्वत्, भगवान, सेव्य, आत्मा और प्राण का ज्ञान है।

द्वादश यश का मूल **प्रेम** है। प्रेम बुद्धि के विकार से मुक्त शुद्ध भाव है। बुद्धिगत प्रेम में लौकिकता होती है, लेकिन शुद्ध प्रेम अलौकिक दिव्य विवशता है। इसलिये कहा गया है कि प्रेम अंधा (बुद्धि के विकार से शून्य) होता है। बुद्धिगत प्रेम अपूर्ण होता है और इसकी अलग अलग रीतियाँ होती हैं। उदा. माता का वात्सल्य , पिता का पुत्रोन्नति का भाव, आदि। ये विभिन्न भाव प्रेम को अखंड और शाश्वत् नहीं रहने देते। शुद्ध प्रेम की १ ही रीति है कि प्रेमास्पद पर न्यौछावर हो जाना। शुद्ध प्रेम आत्मिक वृत्ति है। जग में किसी से भी शुद्ध प्रेम करें, उसके एकमात्र पात्र भगवान होते हैं और वह भगवत् आराधना होती है। इसका कारण है कि शुद्ध प्रेम में आसक्ति-मोह नहीं होते। जगदीश से प्रेम करना भक्ति है और जग से प्रेम करना आसक्ति है। आसक्ति नश्वर है, इसलिये द्वादश यश का आधार नहीं हो सकती। जैसे शिशु को पदार्थ नहीं माता चाहिये, वैसे प्रेमी भक्त को संसार नहीं भगवान चाहिये। प्रेम मदिरा का आनंद प्रेमी ही जानते हैं। जीवन की आवश्यकता और वास्तविकता आनंद है।

बिना आधार के प्रेम मन में नहीं टिक सकता और शाश्वतता तक नहीं पहुँचता। प्रेम के २ आधार हैं:-

१) रूप (श्री राधा)- परमतत्व (भगवान) की भी स्वामिनी शक्ति श्री राधा हैं। ऋग्वेद राधामूलक है और इंगित करता है कि परमशक्ति या स्वयं

के आल्हाद के बिना परम तत्व भगवान का अस्तित्व नहीं हो सकता। यह वर्णनातीत परम शक्ति श्री राधा हैं। श्री राधा प्राकृत-अप्राकृत सृष्टि का सौंदर्यसार, रसिकानंद स्वरूपा और सारी शक्तियों से परिपूर्ण परम सत्ता हैं। यह कला, यश, लीला आदि की उत्पत्ति स्वरूपा और जगत की महाभावरूपा हैं। श्रीराधा विभु हैं और जग उनकी अनंत विभूतियाँ है। उदा. स्मृति, मेधा, क्षमा, आदि लोकपालों की कन्याऐं, समुद्रपुत्री लक्ष्मीजी, पर्वतपुत्री पार्वतजी, ब्रम्हापुत्री सरस्वतीजी, आदि श्री राधा की ही विभूतियाँ हैं। सारांश में श्रीराधा सारे ब्रम्हांड का सौंदर्य, शक्ति, आनंद, मूलज्ञान, आदि से परिपूर्ण परमसत्य हैं।

२) **गुण(श्रीकृष्ण)**- यह सृष्टि का कर्षणतत्व है। उदा.अनंत अंतरिक्ष की संकर्षणशक्ति से ग्रहों पर गुरूत्वाकर्षण शक्ति उत्पन्न होती है। इससे प्राणी और पदार्थ ग्रहों पर बसते हैं और अंतरिक्ष में जाकर नष्ट नहीं होते। पृथ्वी के पंचतत्वों का कर्षणतत्व भी श्रीकृष्ण हैं। उदा. पृथ्वीतत्व का कर्षण धरती है , जलतत्व का समुद्र, वायुतत्व का वातावरण, अग्नितत्व का सूर्य, आकाशतत्व का सत्य है। इससे ही सृष्टि चलती है। यह भगवान का विशुद्ध, सर्वोत्तम प्रेमी रूप है। यह अहंकाररहित, मोहासक्तिरहित, चराचर के स्वामी, योगेश्वरेश्वर, ललित लीलाधाम, नित्य वर्धित प्रेमस्वरूप, सनातन भगवत् स्वरूप आदि हैं। अर्थात श्रीकृष्ण का स्वरूप क्लीं (कामबीज) और वेणुनाद (प्रेममद, अनहदनाद, ब्रम्हनाद, हृदयधाम) है। यह स्वरूप परम स्वतंत्र है और जीवों को संसारी बंधनों से मुक्त करके स्वतंत्र करता है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण (रूप-गुण) एक ही तत्व के दो रूप हैं। उदा. रूपये के सिक्के का रूप उसका आकार प्रकार है और उसका गुण उसकी क्रयशक्ति या मुल्य होता है।

द्वादश यश का स्वरूप- द्वादश= बारह (१२)। शास्त्रानुसार भगवान षड़गुणेश्वर (६ गुणधारक) हैं :- सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, सर्वांतर्यामी, सर्वातीत, सर्वोपादान, सर्वरूप। ६ गुण रूप के और ६ गुण गुणों के मिलाकर १२ गुण होते हैं। यह संपूर्ण अप्राकृत जगत और जगत की विधायक शक्ति है। यह अचिंत्य, अनादि, अनंत आदि है। शास्त्रानुसार आत्मा के भी १२ गुण हैं।

वास्तविक भगवत् प्रेमी ब्राम्हण (द्विज, विप्र) हैं। ये १२ गुण धारक होते हैंः- शम, दम, तप, स्वाध्याय, त्याग, संतोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, आसूया, आत्मज्ञान, आनंद। १२ गुण रूप के और १२ गुण गुणों के मिलाकर २४ गुण होते हैं। यह संपूर्ण प्राकृत जग है। शास्त्रानुसार प्राकृत जग २४ तत्वों से बना हः- ५ विषय, ५ ज्ञानेंद्रियाँ, ५ कर्मेंद्रियाँ, अहंकार, मन, आदि।

ब्राम्हण, प्रेमी भक्त, द्विज प्रेम से भगवान को बांध लेते हैं। प्रेमतत्व (श्रीहरिवंश, वंशी) भगवान को भगवान नहीं रहने देता और भक्त को भावलीन करके मानव नहीं रहने देता। वहदोनों को एक बनाकर परब्रम्ह (परमात्मा, परमतत्व, परमानंदस्वरूप, सच्चिदानंद) बना देता है। किंतु गुण अधिक होने, भगवान को बांधने और निराकार भगवान को साकार करने के कारण ब्राम्हण-द्विज भगवान के भी पूज्य होते हैं। उदा. १) सनकादि मुनियों द्वारा भगवत् पार्षद जय-विजय को दिये गये शाप को भगवान विष्णु नहीं काट सके। २) पांडवों के राजसूय यज्ञ में भगवान श्रीकृष्ण ने ब्राम्हणों की चरणसेवा की। ३) महाभारत युद्ध में भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के सारथी बने। ४) भगवान का राजा बलि के पाताल के महल के पहरेदार बनना।

भगवान के सारे नाम उन्हें ब्राम्हणों-भक्तों ने ही दिये हैं, इसलिये वे भगवान के भी दाता हैं। वे भगवत्प्राप्ति करा देते हैं, इसलिसे भगवान का यश उन्हीं का यश है। उदा. रूप (श्रीराधा) की यशदाताशक्ति माता कीर्तिदा (कीर्ति दाता) हैं और गुणों (श्रीकृष्ण) की यशदाता शक्ति माता यशोदा (यश दाता) हैं। ये दोनों १ ही तत्व हैं।

भगवान में रहनेवाली अष्टसिद्धियों में से दूसरे नंबर की सिद्धि महिमा (यश) है। भगवत्कृपा से इसके अंश भक्तों को प्राप्त होते हैं। यह भगवान का यश है और उनकी कृपा से भक्तों का भी यश बन जाती है।

द्वादश यश का विवरण और साधना - द्वादश यश में भगवान और भक्तों-ब्राम्हणों के बारह यशदाता लक्षणों का निरूपण और फल उदाहरण सहित दिया गया है । इसके साथ इससे विमुखजनों के अपयश, पतन और बुरे फलों का भी वर्णन है।

१२ यशदाता लक्षण- १) **शम-** यह मानसिक संयम है। यह चित्त का निग्रह या निरोध करना है, इसलिये यह निर्गुण वृत्ति है । इससे निर्विकार-निराकार मनोवृत्ति हो जाती है और रूप, आकार, प्रकार के भेद नहीं रहते। ऐसे मन में गुरू के वचनों द्वारा बताया गया भगवत्स्वरूप सरलता से बस जाता है। शम की साधना में मन मारने या जबरदस्ती विषय त्यागने से लाभ नहीं होता क्योंकि जितनी कोशिश करते हैं, उतने विषय मन में आते रहते हैं । इस साधना के लिये जीवन को वैसा बनाना पड़ता है। अर्थात साधु, वैरागी, सन्यासी को सुख की इच्छा छोड़कर साधना की आग में जलने के लिये तैयार रहे और संसारीजन सम तरीके से रहें। शम के बाद ही दम में सफलता मिलती है।

२) **दम**- इंद्रियों के दमन से दम आता है। दम से बल आता है। केवल देह को ही

तपाने से दम नहीं होता। दम में क्षमा और दया के गुण हो तो परोपकार, विनय, समता और उत्थान होते हैं। यदि क्षमा-दया नहीं हो तो दम व्यर्थ है। इससे अहंकार आता है और दंभ, अपरोपकार आदि नाश कर देते हैं। बल नश्वर है, इसलिये समय रहते ही इसका सदुपयोग करके सुकृत करना चाहिये। विवेक से ऐसा होता है। उदा. सादा पौष्टिक भोजन एक तरफ हो और गारिष्ठ स्वादिष्ट भोजन दूसरी ओर हो, तो सादे पौष्टिक भोजन को खाना दूरदर्शिता और विवेक है। यह जीवन की आवश्यकता, स्वास्थवर्धक, मर्यादितता है और अच्छे फल देता है। स्वादिष्ट गारिष्ठ भोजन करना अदूरदर्शिता, लोलुपता, आसुरी वृति और हानिप्रद है।

३) तप- कष्ट बाहर से दिया जाये तो दंड होता है और स्वयं स्वीकार करना तप है। किसी ध्येय के लिये कष्ट सहना तप है और बिना ध्येय के कष्ट सहना मूर्खता है । तप = त्याग (त) +परिश्रम (म)। तप के कई प्रकार हैं। इनमें ४ प्रकार मुख्य हैं :- अ)देहिक तप-धाम आदि में देशाटन , परिक्रमा, देह तपाना । केवल देह को कष्ट देना भगवान की दी हुई काया को व्यर्थ सुखाना है । इससे केवल लौकिक प्राप्तियॉं होती हैं। ब्रम्हज्ञानी तपस्वी गर्मी में धूनी तपाते, सर्दी में मैदान या सरोवर आदि में नंगे बदन रहते, आदि प्रकार से तप करते हैं। इससे वे अनुभव करते हैं कि कष्ट देह को है आत्मा को नहीं। यह आत्मा (भगवान) का साक्षात अनुभव करना है। आ)वाणी का तप- भजन, मीठे वचन बोलना, अपशब्द-गाली-झूठ नहीं बोलना। इ)मानसिक तप- शुद्ध-शांत-सौम्य-सम रहना, मन का निग्रह करना। ई) परम तप- गुरू आज्ञा मानना, धर्माचरण-नवधा भक्ति आचरण करना,

आदि। अर्थात सत्यमार्ग पर चलने में कष्ट सहना और नहीं डिगना सच्चा तप है। यदि तप में लापरवाही करें या अभीष्ट प्राप्ति की साधना अधूरी रह जाये तो संसार और अभीष्ट- दोनों नहीं मिलते। उदा.भ्रष्ट योगी, असावधान ब्रम्हचारी, आदि।

४) **स्वाध्याय** - हठ, स्वार्थ, पक्षपात, अन्याय, दुराग्रह, आदि छोड़ना। ॐ (शून्य) का अर्थ मननपूर्वक जप करना। शुद्ध बुद्धि से अपने धर्मग्रंथों का, बुद्धि के प्रमाणों द्वारा, पाठ और प्रचार करना। अन्य धर्ममार्ग नहीं अपनाना। इससे आत्मिक शक्ति बढती है।

५)_**त्याग**- त्याग और वैराग्य में फर्क है। त्याग प्रयत्नपूर्वक किया जाता है और वैराग्य हो जाता है। त्याग मन की वृत्ति है, इसलिये विभिन्न लोग इसे अलग अलग प्रकार से करते हैं । उदा. साधु बड़े से बड़ा कष्ट सह सकता है, भक्त सब कुछ त्याग सकता है, ज्ञानी कोई बात की अपेक्षा नही करता, आदि। लेकिन सर्वत्याग से निष्काम अनन्य भगवत्प्रेम जागता है। यह सच्चे ब्राम्हण-विप्र का गुण है और इसका परिणाम विशुद्ध दिव्यानंद है। ऐसे लोग परम विवेकी होते हैं। वे जानते हैं कि बुढापे, स्वयं का लालच, आदि के कारण लोग धोखा देते हैं और मृत्युपरांत तो सबकुछ छूटता ही है। इसलिये इष्ट-गुरू का आश्रय लेकर संसारी तृष्णा त्याग देना चाहिये। अर्थात भगवान को पाने के लिये सबकुछ छोड़ना पडे.तो छोड़ दें, लेकिन सबकुछ पाने के लिये भगवान को नहीं छोडें।

६) **संतोष** - यह समता है और महानुभावों का गुण है। ऐसे लोग आंतरिक आनंद से

परिपूर्ण रहते हैं। वे सुख-दुख में शांत रहते हैं और दुख के पहाड़ भी आये तो विचलित नहीं होते। असंतोषी को सारे जग के ऐश्वर्य और धन

मिल जाये तो भी वह आभाव का ही अनुभव करता है। यह आभाव उसे दरिद्र और अशांत बनाता है।

७) **तितिक्षा-** यह स्वभावतः सहन करने की शक्ति है। लालच, मजबूरी, मोह आदि के कारण सहन करना तितिक्षा नहीं है। तितिक्षा मे विनय, दैन्य और धैर्य के साधु गुण होते हैं। विवेकपूर्ण तितिक्षा ब्राम्हण-द्विज के गुण हैं। अपनी अपनी हद में सभी लोग सहन करते हैं, लेकिन अनंत सहनशक्ति और क्रोधत्याग आ जाये तो समझ लें कि साधुता आ गई। तितिक्षा भगवत्प्राप्ति करा देती है। तितिक्षापूर्ण अभीष्ट प्राप्ति के सुकृत करने और धीरज (भगवान की प्रतीक्षा) रखने से भगवान पकड़ में आ जाते हैं।

८) **विनय-** सच्चे ब्राम्हण-विप्र जानते हैं कि सबकी चैतन्यता या आत्मा का स्त्रोत एक ही है। इसलिये वे सबको नमन करते हैं। अहंकारी नहीं झुकता। उसका नहीं झुकना अहंकार की जीत है, अहंकारी की नहीं। विनय से जग को जीत सकते हैं। यदि सामर्थ्यवान मानव में विनय नहीं हो तो उसे कोई भी शाश्वत् प्राप्ति नहीं होती और भगवान भी नहीं मिलते।

९) **विद्या-** यह ४ प्रकार की है:- अ)संसारी- यह स्कूल, कालेजों में पढाई जाती है। आ)योगविद्या- यह संसारी विद्या में निखार लानेवाली विद्या है। इ)आत्मविद्या- यह योग की पराकाष्टा या भगवत् प्रेमविद्या है। ई)सर्वोच्च विद्या- यह जग की तृष्णा-आसक्ति छोड़कर भगवत् चरणों को प्रेम से याद रखना है। केवल साक्षरता और पेट पालने का ज्ञान ही विद्या नहीं है क्योंकि पशु-पक्षी भी पेट पाल लेते हैं। विवेक की जागृति वास्तविक विद्या है। केवल मानवों में ही विवेक होता है। अपनी आत्मा के सत्य को जानना मन, बुद्धि और विवेक की उचित खुराक है। सभी आत्माऐं शुद्ध और भगवत्अंश हैं, इसलिये सर्वोच्च विद्या या ब्राम्हण-विप्रों की यह विद्या भगवत्प्राप्ति करा देती है।

१०) **आसुया-** आसु= प्राण, जीवनीशक्ति। आसुया= आसु (जीवनरस) + या (नहीं)= मन में जलन, ईर्ष्या, द्वेष, वैर, कष्ट आदि होना। ये सब आग जैसे हैं और जीवनरस, आनंद और सुख को जला देते हैं । यह भेदबुद्धि है और मन को अस्थिर करती है। इसके कारण मानव कुकर्म, हिंसा आदि करता है । आसुया के २ कारण हैं :- १)अहंकार- यह अंदर की आसक्ति है। २)स्वार्थ- यह बाहर की आसक्ति या संसारी लालसा है। इसके कारण स्वजन, हितैषी भी शत्रु लगते हैं। आसुया नष्ट नहीं हो सकती, केवल इसकी दिशा बदली जा सकती है। भगवान में आसक्ति होने से आसुया भक्ति बन जाती है। सच्चे ब्राम्हण यही करते हैं।

११) **आत्मज्ञान-** यह मानव की चैतन्यता से संबंधित ज्ञान-विज्ञान है और इसे अध्यात्म कहते हैं । मानव स्थूल पंचतत्व और चैतन्यता (आत्मा) का मिश्रण है। स्थूल पंचतात्विक देह नश्वर है और आत्मा शाश्वत् है। इन दोनों को अलग अलग अनुभव करना ही आत्मज्ञान है। स्थूलतत्व (देह) स्थूल प्राप्ति के लिये कर्म करता है। सूक्ष्मतत्व (मन, चित्त, बुद्धि, हृदय) द्वारा गुरू आश्रय में आत्मचिंतन करने से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। अर्थात ध्यान को जग से हटा कर अंदर आत्मा में स्थित करना । अर्थात अपने प्रेम-आसक्ति को जग के बदले भगवान में लगाना । जब ऐसे साधक को जग के भोग और विषय नश्वर लगने लगते हैं तो माया हट जाती है और आत्मस्वरूप दिखता है। इस अंतर्मुखी स्थिति में चित्त सहज को जाता है, जग भगवत्लीला के रूप में दिखता है, देहात्मबुद्धि मिट जाती है, कर्तापन का अहंकार नहीं रहता और संसार के बंधन (भोगासक्ति, मोह, लोभ आदि) भी नहीं रहते। यह आत्मविस्मृति और आत्मसमर्पण है। जीव का जीवन आत्मा से है। आत्मा भगवान है, इसलिये आत्मारामी ब्राम्हण-महापुरूष अविनाशी पद पाकर भगवान के भी पूज्य बन जाते हैं।

१२) **आनंद-** मजा मन को होता है, सुख देह को होता है और आनंद आत्मा को होता है। जब सुख भी सुखी होता है, तो आनंद होता है। जब आनंद भी आनंदित होता है, तो आल्हाद होता है। यह ३ प्रकार का है :-
१) आल्हाद- यह भक्ति का उद्‌देश्य है और सारे कर्म, प्रपंच, भक्ति आदि आनंदप्राप्ति के लिये किये जाते हैं। आनंद आ जाये तो भक्ति, भजन, सेवा, स्वाध्याय आदि करो या नहीं करो, सबकुछ भजन और कल्याणप्रद होता है। उदा. जब आनंदाश्रु बहते हैं तो प्रेम विह्‌वलता होती है, देह नियंत्रण में नहीं होती, स्तुति करने के लिये शब्द नहीं मिलते और मग्नता रहती है। यह भगवान के प्राकट्‌य जैसी स्थिति और अभीष्ट है। जैसे कूँए से जितना पानी निकालो वह बढता है, वैसे आनंद जितना बाँटो उतना बढता है।

द्वादश यश में वर्णित विवरण सृष्टि के १४ भुवनों का विस्तार तत्व और सार है। यह परम अभीष्ट, निभृत निकुंज, भगवत् परमपद, मुक्ति आदि पाने का मार्ग है।

- सुरेश सराफ, नागपुर

- इति -

स्वामी चतुर्भुजदासजी का व्यक्तित्व और कृतित्व की एक झलक

स्वामी चर्तुभुजदास जी श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय के उन प्रारम्भिक रसिक महानुभावों में हैं जिन्होंने अपने लोकोत्तर चरित्र एवं वाणी के द्वारा सम्प्रदाय के विविध अंगों की पूर्ति की है और अनन्य रसिकता के नवीन मान दण्ड स्थापित किये हैं। इनमें सर्वश्री व्यास जी, सेवकजी, चर्तुभुजदासजी और ध्रुवदास जी के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री व्यास जी ने श्रीमद्भागवत की रास पंचाध्यायी का स्वतंत्र ब्रजभाषा में रूपांतर करके आचार्य श्री हित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु के रासलीला पक्ष से सम्बन्धित दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया और उनकी शैली पर नित्य-विहार का विशद गान किया। सेवकजी ने अपनी वाणी में श्री हिताचार्य के लीला पदों के आधार से उनके सिद्धांत को व्यवस्थित करके राधा वल्लभ सम्प्रदाय को स्वतंत्र स्वयं पूर्ण व्यक्तित्व प्रदान किया। चर्तुभुज दास जी ने हित-सिद्धांत पर समन्वयात्मक प्रणाली से विचार करके उसे श्रुति-स्मृति और पुराणादिकों से पुष्ट किया। ध्रुवदास जी ने सम्प्रदाय के रस-सिद्धांत का मार्मिक विवेचन करके उसकी स्वतंत्र विधा को रेखांकित कर दिया।

विक्रम की सोलहवीं शती में, उत्तर भारत में, जिन श्री कृष्ण भक्त वैष्णव-सम्प्रदायों का उदय हुआ; उनकी कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियाँ थीं। इनको नवीन उद्‌भावनायें तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु उस युग की विशेष परिस्थितियों के कारण इन सम्प्रदायों में इन पर विशेष बल दिया गया था। वर्तमान युग की भाँति वह युग भी धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का था। इस्लाम के एकेश्वरवाद, एक जाति एवं एक संस्कृति से टकराकर हिन्दू धर्म एवं समाज अपना संतुलन खो रहा था और चारों ओर कर्त्तव्य-विमूढ़ता छाई हुई थी। हिन्दुओं के धर्माचरण पर उस

सत्ता ने अनेक प्रतिबंध लगा रखे थे और धर्म साधना के क्षेत्र में समर्थ व्यक्तित्वों के अभाव में स्वार्थी लोग अपढ़ एवं पीड़ित जनता में क्षुद्र देवी-देवताओं की सकाम एवं तामसी पूजा-अर्चना का प्रचलन कर रहे थे। परिणामतः हिन्दू समाज में नैतिक बल और निष्ठा का अभाव बढ़ रहा था और चारों ओर विश्रृंखलता फैली हुई थी।

भारतवर्ष के इतिहास में, जिसे मध्यकालीन युग कहते हैं, अनेक संत हुए हैं। उत्तर में महात्मा नानक देव, कबीर, गोस्वामी तुलसीदास जी आदि, पश्चिम में दादू, पलटू, घरिया साहब, दक्षिण में स्वामी रामदास जी; तुकाराम, नामदेव तथा अनेकों आलबाल संत, पूर्व में विद्यापति, कृष्णदास, चण्डीदास, जयदेव, श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु, आदि थोड़ेसे नाम गिनाये हैं, पूरी नामावली में सैकड़ों नही सहसो मिलेंगे। इस देश का मध्यदेश भी इनसे खाली नहीं रहा। उन दिनों मध्यपदेश का गढ़ा मंडला एक स्वतंत्र राज्य था जहां दो महान् संतो ने जन्म लेकर सारे भारतवर्ष में प्रसिद्धि पायी। इनका जन्म गढ़ा ग्राम में हुआ था, आज आजकल जबलपुर का एक उपनगर है।

गढ़ा के संतों में से एक थे श्री दामोदरदासजी सेवक जी के नाम से श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय में विशिष्ट स्थान पा चुके है। श्री वृन्दावनधाम में यह पद प्रत्येक के मुख से सुनने को मिलेगा :-

श्री राधावर नाम सों, न वृन्दावन धाम सों।
न सेवक सो सेवक, न गुंसाईं हरिवंश सों।।

इन्हीं सेवकजी के अन्तरंग मित्र जिन्हें सेवक जी का चचेरा भाई भी माना जाता है श्री गिरिधरदासजी थे, जो स्वामी चतुर्भुजदास जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके कारण श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रचार गोंड देश में हुआ तथा जिसके वे गोंड देश तीर्थ-कर्ता माने जाते हैं।

प्रायः देखा गया है कि भारतवर्ष के संत-महात्माओं ने अपने ग्रन्थों में अपने सम्बन्ध में कुछ भीनहीं लिखा, इसलिए उनका जीवन-वृतान्त इतिहासकार ठीक-ठीक नहीं लिख सके। मिश्र-बन्ध-विनोद में मिश्र बन्धुओं ने गढ़ा के महान संत स्वामी चतुर्भुजदासजी तथा अष्टछाप के कवि श्री चतुर्भुजदास को एक मानकर भ्रम उत्पन्न कर दिया। उसका परिणाम यह हुआ कि इनके लिखे ग्रन्थों को अष्टछापी चतुर्भुजदासजी के लिखे ग्रन्थ मान लिया गया। उन्हीं के अनुकरण पर पं. रामचंद्र शुक्ल तथा डॉक्टर राजकुमार वर्मा ने अपने लिखे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में गढ़ा के राधावल्लभीय संत चतुर्भुजदासजी को अष्टछाप के श्री चतुर्भुजदास मान लिया। इस भ्रम का निराकरण पहली बार डॉक्टर दीनदयाल जी गुप्त ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय' मे सप्रमाण सिद्ध किया है तथा दोनो के ग्रन्थों का विवेचन कर पुराने लेखकों की भूलो का सुधार कर दिया है।

वृन्दावनवासी वृद्ध महात्माओं द्वारा हमारे सन्तद्वय की जीवनी के संबंध में यही बताया गया है कि गढ़ा ग्राम में श्री सेवक जी तथा चतुर्भुजदासजी बड़ी भक्ति भावना में रहते थे तथा वृन्दावन से पहुँचनेवाले महात्माओं का आगत-स्वागत बड़ी श्रद्धा और लगन से करते थे। एक बार श्री नवलदासजी अपनी जमात के साथ गढ़ा पहुँचे तो इनने रात्रि में समाज का आयोजन किया जिसका प्रभाव इन दोनों गढ़ा-वासियों पर विशेष पड़ा तथा इनने मंत्र-दीक्षा की उत्कण्ठा प्रकट की तो श्री नवलदासजी ने महाप्रभु गोस्वामी श्री हितहरिवंश जी की यशो गाथा सुनाई तथा इनसे आग्रह किया कि वृन्दावन पहुँचकर उनसे दीक्षा मंत्र ले अपने जीवन को सार्थक करो। पर कई दिनों तक ये दोनों घर-गृहस्थी के कारणों से निकल नहीं पाये। यहाँ समाचार मिला कि महाप्रभु निकुंजवास कर गये तो चतुर्भुजदास जी ने वृन्दावन चलकर महाप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र गोस्वामी वनचन्द्रजी से

दीक्षा लेने का आग्रह किया, पर श्री सेवकजी ने अपना दृढ़ संकल्प सुनाया कि मैं तो महाप्रभु से ही दीक्षा लूंगा, अन्यथा इस शरीर को छोड़ दूंगा। कहते हैं कि वे एक आसन पर सात दिन-रात ''श्री राधावल्लभ श्री हितहरिवंश'' की रट लगाये बैठे रहे तो महाप्रभु प्रकट हुए और उनने सेवकजी को मंत्र दीक्षा दी, कंठी दी तथा चतुरासीजी की पोथी दे वृन्दावन का सब वैभव दिखाया। उसके पश्चात् सेवक जी की चित्तवृत्ति इतनी परिष्कृत तथा उदात्त हो गई कि उन्हें चतुरासी के प्रत्येक पद का गूढ़ातिगूढ़ अर्थ अपने आप समझ में आगया। उसके परिणामस्वरूप उन्होंने १६ प्रकरणों में श्री हरिवंश माहात्म्य तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्विक विवेचन करने वाली वाणी की रचना की। जब इस वाणी की प्रतिलिपि वृन्दावन पहुंची तो महाप्रभु वनचन्द्रजी ने उसे पढ़ घोषणा कर दी कि--

''चतुरासी अरु सेवक वाणी, इक संग लिखित पढ़त सुख दानी''

उसी समय से श्री चतुरासीजी तथा सेवक वाणी एक ही साथ लिखी तथा पढ़ी जाती हैं।

गिरधरदास से स्वामी का नाम चतुर्भुजदास किस प्रकार चल पड़ा, इस सम्बन्ध में एक बड़ी रोचक जनश्रुति श्री वृन्दावन में निकुंज वासी बाबा निकुंजीशरण ने बतायी थी कि श्री सेवक जी तथा गिरिधरदासजी आगंतुक महात्माओं की सेवा सुश्रुषा में तन-मन-धन से लगे रहते थे। एक बार साधुओं की एक जमात गढ़ा पहुँच गई। सब को प्रसाद पाने के लिए पंक्ति में बैठा दिया गया। श्री गिरिधरदासजी केवल एक लंगोटी लगाये थे। उनके शरीर पर भगवान का बचा हुआ केशरिया चंदन का लेप लगा था। कुछ साधुओं ने उसे कोढ़ समझ लिया। वे आपस में चर्चा करनेलगे कि इस साधु के हाथ और छांती पर देखो कोढ़ दिखता है, इसके हाथ का भात नहीं खाना चाहिये। इन शब्दों की भनक श्री गिरिधरदास के कानों पर पड़ी तो वे हाथ में भात का थाल लिये एक क्षण भगवान का ध्यान कर स्तब्ध खड़े होकर मन-ही-मन

भगवान से प्रार्थना करने लगे कि यह क्या सुना रहे हो, यदि ये साधु उठकर चले गये तो मेरी और तुम्हारी क्या दशा होगी। इसी समय उनकी लंगोटी भी छूट कर गिर गई, तो वे और भी असमंजस में पड़कर भगवान से कहने लगे कि अब रही-सही लज्जा भी मिटा रहे हो क्या? भात का थाल नीचे रख नहीं सकते और लंगोटी कैसे लगावें। तभी क्या चमत्कार हुआ कि गिरिधरदासजी की दोनों कोहनी से दो हाथ प्रकट हुए और उनने लंगोट यथावत लगा दी। इसे देखकर वे ही साधुगण जो अभी दोषारोपण कर रहे थे, चिल्ला पड़े "चतुर्भुजदास जी की जय, चतुर्भुज जी की जय" और उनके चरणों पर गिरकर क्षमा याचना करने लगे कि उनके शरीर पर कोढ़ नहीं, वह तो भगवान के चन्दन का लेप है। आपके ही अंग से दो हाथ और प्रकट हुए जिनने आपकी लंगोटी ठीक कर दी, इसीलिए अब आज से आप स्वामी चतुर्भुजदास हो गये। इस घटना का उल्लेख मेरे परदादा महाराज जी परमपूज्य पाद श्री श्री १०८ श्री गोस्वामी युगल वल्लभजी महाराज ने भी द्वादश-यश की टीका की भूमिका में किया है।

एक बार चर्तुभुजदास जी महाकोसल प्रदेश के किसी नगर में चातुर्मास कर रहे थे। अहर्निश कथा-कीर्तन में व्यतीत होता था। एक दिन एक नामी चोर दिन दहाड़ किसी बनिये की रुपयों की थैली छीन कर भागा। उसके शोर मचाने पर राज कर्मचारियों ने चोर का पीछा किया और उसे घेर लिया। चोर भागता हुआ उस स्थान पर पहुंचा जहाँ चतुर्भुजदास जी की मंडली जमी हुई थी और कथा-कीर्तन चल रहा था। उसे एक तरकीब सूझी और उसने अपने वस्त्र उतार कर साधुओं जैसा वेश बना लिया और अपने कपड़ों में थैली छुपाकर साधुओं के बीच में जा बैठा। राज-कर्मचारी उसका पीछा करते हुए वहाँ पहुँचे और उसे कहीं न देखकर विस्मय में पड़ गये। कथा चल रही थी और किसी का साहस वहाँ एकत्र भक्तजनों से पूछ-ताछ करने का न हुआ और वे निराश होकर लौट गये।

कथा में शरणागति का प्रसंग चल रहा था। स्वामी जी कह रहे थे कि गुरु की शरण ग्रहण करने पर जीव का देह प्राकृत से अप्राकृत हो जाता है, उसके कोटि जन्मों के पाप जल कर राख हो जाते हैं। और तीनों लोकों में उसको दण्डित करने की किसी की सामर्थ्य नहीं रहती। चोर का भाग्योदय होने वाला था और उसके चित्त में यह बात गड़ गई। वह एकांत में स्वामी जी से मिला और निष्कपट भाव से उनको अपना सब वृत्तांत सुना दिया। उसने उनसे प्रार्थना की कि मैंने आपकी कथा सुनी है और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि शरणागत व्यक्ति का नया जन्म हो जाता है और वह निर्भय होकर सर्वत्र विचरण कर सकता है। अब आप कृपा करके मेरे मस्तक पर अपना हाथ रख दीजिये और मुझे भगवत शरणागति प्राप्त करा दीजिये।

स्वामी जे ने उसकी निष्ठा देखकर उसे वैष्णव वेष धारण कराया और शिक्षा देकर शरणागति मंत्र प्रदान कर दिया। गुरु-गोविंद की सुदृढ़ आशा लेकर वह सर्वत्र निर्भय घूमने लगा। एक दिन उसे उस बनिये ने पहचान लिया, जिसकी थैली उसने छीनी थी। वह उसे पकड़कर राजा के पास ले गया। 'नया भक्त' प्रसन्न हो रहा था और उसने दृढ़तापूर्वक राजा के सामने कह दिया कि मैंने इस जन्म में किसी का कुछ नहीं लिया, वैसे अपने पिछले जन्मों में तो मैंने अनेक हीन कर्म किये ही हैं। राजा को उसकी बातों पर सन्देह हो गया। और उनने उससे अपनी सत्यता प्रमाणित करने के लिये 'फारा' लेने के लिये कहा। 'नया भक्त' इस महा कठिन कार्य के लिये भी तैयार हो गया।

नगर में सूचना दे दी गई और सब लोग राजमहल के प्रांगण में इस अद्भुत कौतुक को देखने के लिये एकत्रित हो गये। 'नये भक्त' के हाथों में पहिले तो सूत लपेटा गया, फिर उस पर घी में सना हुआ पीपल का पत्ता रखा गया और फिर उस पर अग्नि में लाल किया हुआ लोहे का कुस रख दिया। किन्तु आश्चर्य की बात

यह हुई कि **'नये भक्त' का हाथ न जलकर बनिये के हाथ में फफोले पड़ गये।** यह देखकर राजा ने एवं उपस्थित लोगों ने एक स्वर से बनिये को दोषी घोषित कर दिया और उसके लिये मृत्यु दण्ड का विधान कर दिया। नये भक्त ने राजा से प्रार्थना की कि बनिये को क्षमा प्रदान कर देनी चाहिए क्योंकि सच्चा मैं भी हूँ, और यह भी है और फिर उसने राजा को सारी घटना ज्यौं की त्यौं सुना दी। राजा सहित सब लोग शरणागति का प्रभाव देख-सुनकर आश्चर्यचकित हो गए। दूसरे दिन राजा ने सब प्रजाजनों के साथ स्वामी जी के दर्शन किये और सब लोग अनन्य धर्म में दीक्षित हो गये।

इस कथा को विस्तार से देने का हेतु यह दिखाना है कि उस प्रतिकूल युग में भक्ति के मौलिक सिद्धांतों के प्रति कैसी सुदृढ़ निष्ठा लेकर इन भक्तराजों ने इस अनन्य धर्म की स्थापना की थी।

स्वामी चतुर्भुजदासजी के साथ अनेक चमत्कारिक घटनाये जुड़ी हुई हैं, एक बार स्वामी चतुर्भुजदासजी जिला रायसेन, तहसील उदयपुरा के उडद मऊ गाँव में पहुँचे जहाँ सभी ग्रामवासी देवी को भैंसे की बलि चढ़ाने के लिए पूजन में व्यस्त थे। तभी स्वामीजी ने मंदिर के पंडा से पुछा की यह कौनसी पूजा है और इसका प्रयोजन क्या है ? तो पंडा ने उत्तर दिया की इससे देवी माता प्रसन्न होती है और गाँव में बीमारी आदि नही फैलती है और अनेक पातकों से हमारी रक्षा होती है। पंडा के वचन सुनकर स्वामीजी को बड़ा क्रोध आया तभी बहोत तेज हवा चलने लगी और मंदिर की सारी सामग्री उडने लगी और देवी घबडाकर प्रतिमा छोड़कर, एकसाथ बरसी कन्या के सिरपर आकर पंडा से कहने लगी की, इस वैष्णव तेज का सामना करना मेरे बस में नही है। इसलिए तुम स्वामीजी से प्रार्थना करो की वे कृपा करके मुझे शिक्षा और दीक्षा प्रदान करें । स्वामीजी ने कृपा करके और देवी प्रतिमा के गले में **तुलसी की कंठी** पहना दी और समस्त ग्रामवासियों

से कहाँ की आजसे तुम्हारी देवी का नाम **वैष्णवी देवी** हो गया। आज भी दर्शन करने पर देवी माँ के गले में सैकड़ों तुलसी की मालाएँ विराजमान है। इसी प्रकार प्रेतों के उद्धार की घटना का सम्बन्ध सियर मऊ स्थान से बताया जाता है। इसे सीमर मऊ की घटना को द्वादश यश की हस्तलिखित टीका में निकुंज वासी पूज्यपाद श्री श्री १०८ श्री गोस्वामी युगलवल्लभजी महाराज ने भी उल्लेखित की है।

- गोस्वामी यतीन्द्रबल्लभाचार्य

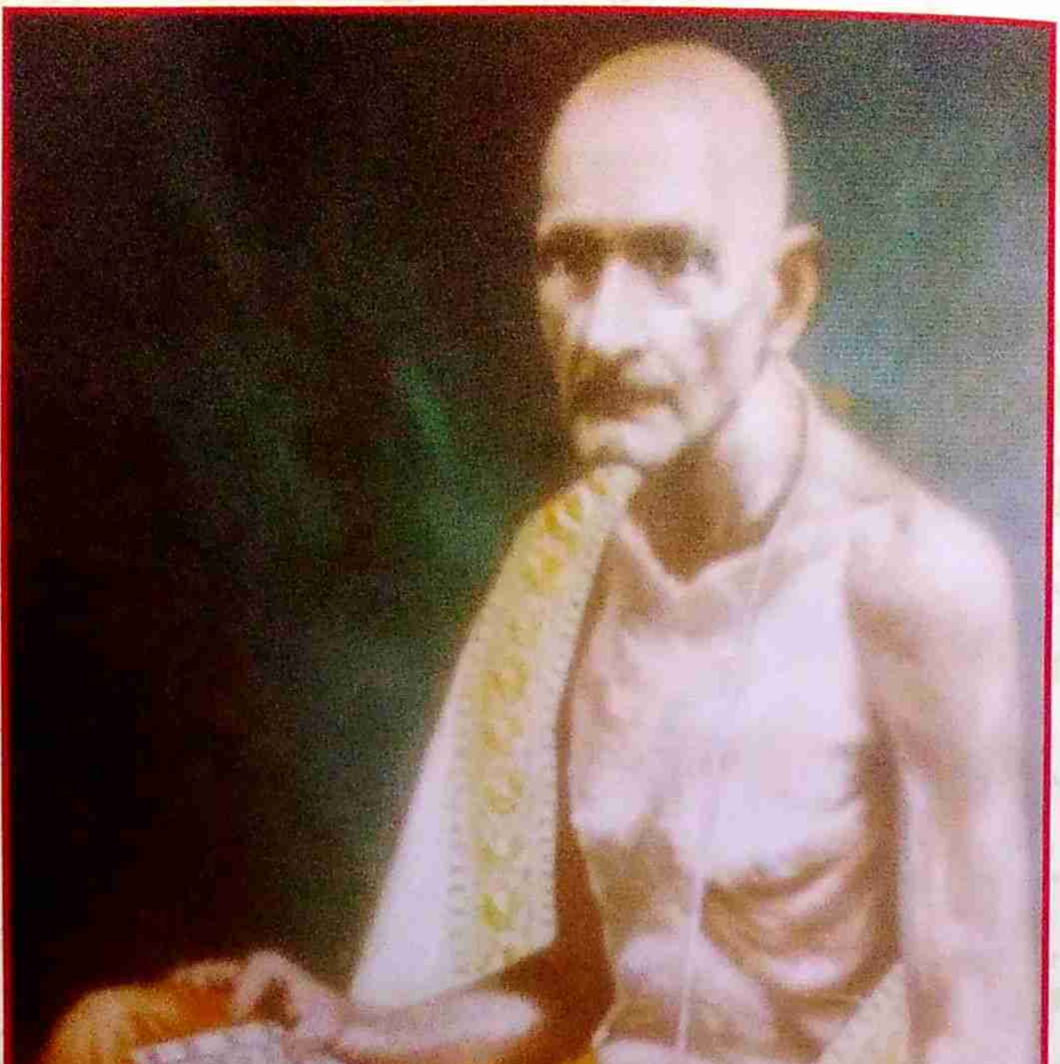

श्री हित राधावल्लभीय सम्प्रदायाचार्य श्री श्रृँगार सेवाधिकारी
द्वादश-यश टीकाकार
श्री १०८ आचार्य युगल वल्लभजी महाराज

आचार्य युगल वल्लभ गोस्वामी : वंश परम्परा-कृतित्व

श्री राधा वल्लभ सम्प्रदाय में विन्दु-परिकर और नाद परिकर (अथवा परिकार) दो विशेष अर्थवाही शीर्षक शब्द है। इस सम्प्रदाय के आचार्य हित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु के कुल में जन्मे बालक विन्दु परिकर के और गोस्वामी आचार्यों से मंत्र ग्रहण करने वाला वैष्णव समुदाय नाद परिकर का कहलाता है। वस्तुतः यह दोनों एक ही महावृक्ष 'हित-परिकर' की दो शाखाएं हैं जिन्होंने संस्कृत और हिन्दी साहित्य को अमृत-से दिव्य फल प्रदान किए हैं। पं. बलदेव जी उपाध्याय ने लिखा है-"इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों की विशेषता है, वृन्दावन की माधुरी का वर्णन और राधा कृष्ण की दिव्य लीलाओं का मनो मुग्धकारी चित्रण।"[१] नाद वंशियों में गृहस्थ और साधू दोनों का समावेश हुआ है। इस प्रकार श्री राधा वल्लभ सम्प्रदाय का सुरम्य पट विन्दु और नाद दोनों परिकरों की प्रतिभा के ताने-बाने से बुना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ 'द्वादश-यश' में इन दोनों परिकरों की साहित्य-साधना का मणि-कांचन-सा योग हुआ है। यह श्री स्वामी चतुर्भुजदास जी की सत्रहवीं शताब्दी में रची हुई कृति है। स्वामी जी श्री हिताचार्य जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचन्द्र महाप्रभु के शिष्य थे। गोस्वामी वनचन्द्र जी स्वयं संस्कृत और ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवि थे जो श्री बनमालीदास के नाम से काव्यरचना किया करते थे।

इस ग्रन्थ के भाष्यकार हैं, उन्हीं श्री वनचन्द्र महाप्रभु के यशस्वी वंशधर श्री श्री १०८ श्री पूज्य गोस्वामिचरण आचार्य युगल वल्लभजी महाराज तथा उनके आत्मज पूज्य आचार्य श्री वृन्दावन वल्लभजी गोस्वामी। यद्यपि मूल ग्रन्थ के प्रणयन और भाष्य की रचना में शताब्दियों का अंतर है फिर भी विचार और स्वभाव-साम्य का एक सेतु दोनों को मिलाए हुए है। यही कारण है कि 'विमुख पचीसी' के इन

रचयिता ने भारतीय वाङ्मय में से द्वादश यश जैसे ज्ञान और वैराग्य-परक ग्रन्थ को उठा लिया; मूल प्रणेता और भाष्यकार दोनों ज्ञान वृद्ध; दोनों शतायु और दोनों को संसार के पार्थिव पदार्थों की नश्वरता की तीव्र अनुभूति। श्री गोस्वामी युगल वल्लभजी महाराज ने संस्कृत साहित्य का महा-मंथन करके समान चमक और भाव-साम्य वाले मोती लाने का अथक श्रम किया। उन्होंने अपना भाष्य ब्रजभाषा में पूर्ण किया, जिसे आचार्य श्री वृन्दावन वल्लभ जी गोस्वामी ने अपने शिष्य वर्ग के सहयोग से वर्तमान रूप दिया। इस प्रकार इस ग्रन्थ में दोनों परिकरों का सम्यक रूप से प्रतिनिधित्व हुआ है।

श्री राधा वल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य श्री हित हिरवंशचंद्र महाप्रभु की उपासना माधुर्य भक्तिमयी है। उनकी आराध्या वृन्दावनेश्वरी श्री राधा, श्री कृष्ण के साथ वृन्दावन विपिन में जो साक्षात् गो-लोक है, नित्य सहचरि रूप में प्रकट हैं।

इसीलिए श्री नाभादास जी ने लिखा है-

'हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोऊ जानि है।'

श्री राधा वल्लभ सम्प्रदाय में श्री राधा आराध्या हैं- उनके आश्रय के बिना श्री कृष्ण की कृपा की प्राप्ति 'आकाश कुसुम' है प्रियादास जी ने लिखा है-

श्री हित जू की रीत कोऊ लाखन में एक जाने।
राधा ही प्रधान माने, पाछे कृष्ण ध्याइए।।

श्री हितप्रभु का संस्कृत और ब्रजभाषा पर समान अधिकार था। संस्कृत पर ऐसा अधिकार स्वाभाविक था किन्तु ब्रजभाषा उनकी मातृ-भाषा न थी। अर्जित भाषा में इतनी श्रेष्ठ काव्य-रचना निश्चित ही एक असाधारण बात है। उनकी कृतियों में श्री राधा सुधा निधि की रचना देव-वाणी में हुई। इस ग्रन्थ की भाषा प्रांजल, सरस और माधुर्य पूर्ण है और सौष्ठव तथा प्रासादिकता इसकी विशेषता है। हित चौरासी जी उनके ब्रजभाषा में लिखे गये चौरासी पद हैं। इन पदों

के सम्बन्ध में आचार्य श्री ललिता चरण जी गोस्वामी ने लिखा है - 'हित चौरासी के पदों में कहीं भी आयास किंवा श्रम दिखलाई नहीं देता। इस प्रकार के काव्य का जन्म हृदय की भाव-विवशता में से होता है। संवेदनशील मन जब किसी सरस और सुन्द भाव के द्वारा अभिभूत हो जाता है तो उसमें से काव्य वैसे ही फूट निकलता है जैसे वसंतागम में कोकिल के कंठ से गान*।"

हित चौरासी का एक शब्द चित्र देखिए --

अति ही अरुण तेरे नैन नलिन री।
आलस जुत इतरात रंग मगे,
भये निशि जागर मखिन मलिन री।।
शिथिल पलक में उठति गोलक गति,
विंधयौ मोहन मृग सकत चलि न री।।
(जै श्री) हित हरिवंश हंस कल गामिनि,
संभ्रम देत भ्रमरनि अलिन री।।

श्री हिताचार्य जी की अन्य रचना स्फुटवाणी है, जिसमें दोहे, सवैया, पद, छप्पय और कुंडलियाँ सम्मिलित हैं। ब्रज-भाषा में यदि किसी काव्य को कोमल कान्त पदावलि की संज्ञा दी जा सकती है तो वह एकमेव हिताचार्य प्रभु की वाणी है।

हितकुल कौं गेही कहैं अच्युत कुलकों रंक।
गुरु द्रोही ते जानिये जमपुर जाँय निसंक।। -सुधर्म बोधिनी

श्री वृन्दावन धाम प्राकट्यकर्ता भगवान श्रीकृष्ण की वंसी अवतार गोस्वामी श्रीहितहरिवंश महाप्रभु को ही हितकुल की संज्ञा से अलंकृत किया गया है। गुरू परम्परानुसार श्रीहितहरिवंश महाप्रभु की श्रीगुरूदेव श्रीराधारानी है। इसलिये 'सुधर्म बोधिनी' का कथन तात्विक होने के साथ साथ मौलिक भी है। सच्चा संत वास्तव में गृहस्थ है जो संपूर्ण कर्तव्योंपर निर्वाह करते हुए, प्रभु की सेवा-पूजा आदि कृत्य

भी अपना परमकर्तव्य मानकर करता है। इसी प्रकार सच्चा संत अच्युत (विरक्त) होकर अथवा प्रभु के श्रीचरणोंमे पूर्ण रूप से समर्पित होकर एक वृक्ष के नीचे, प्रभुस्मरण में लीन होता है और हम पैसे उछालकर उसके भजन में विघ्न डालते है। यह इस युग की विडंबना है, की चाँदी के सिंहासन पर बैठे पाखंडी हमें संत प्रतीत होते है।

आद्य ब्राह्म हित सम्पदा, राधा वल्लभ इष्ट।
आचारज हरिवंश हित, कुंजवास अति मिष्ट ॥
तिनकी यह वंशावली, जे हित वंशी रूप।
करी प्रकट रसिकावली, अपने ही रूप॥

श्री हिताचार्य प्रभु के ज्येष्ठ पुत्र और उनके उत्तराधिकारी श्री वनचन्द्रजी महाराज के चार पुत्र रत्न हुए -- श्री सुन्दर वर जी, श्री राधा वल्लभदासजी, श्री नागर वर जी तथा श्री ब्रजभूषण जी।

बड़े पुत्र वनचन्द्र जू, इनके चार सुतात।
इनकों मन-वच ध्याय कें, कुंज महल नर जात॥
सुन्दर वर करुणानिकार, राधा वल्लभ दास।
नागर वर, व्रज भूषणहि, हित चरन विश्वास॥

श्री सुन्दरवरजी भक्ति भावना में आकंठ मग्न रहने वाले उपासक थे। उनके छोटे भाई श्री राधावल्लभदास का जन्मोत्सव संवत् १६१० की कार्तिक सुदी पूर्णिमा को हुआ माना जाता है। श्री राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी अपने तिलक के मध्य में श्री राधा कुंड की काली रज की एक छोटी सी बिन्दी लगाया करते हैं। इस सम्प्रदाय के अनुयायियों के धार्मिक विश्वास के अनुसार श्री राधावल्लभदास पर वृन्दावनेश्वरी श्री राधा की विशेष कृपा थी और उन्होंने स्वयं प्रकट होकर, अपने काजल की रेखा से श्री राधावल्लभदासजी के माथे पर

श्याम बिंदु लगाई थी। श्री राधावल्लभदासजी गोस्वामी का उपासना-स्थल वृन्दावन का मान सरोवर नामक स्थान है। राधा वल्लभीय निर्मोही अखाड़े का मान सरोवरिया थोक इसी सदर्भ में आरम्भ हुआ माना जाना चाहिए। श्री राधावल्लभदास ने रस तरंगिनी, सम्प्रदाय प्रश्नोत्तर निरूपण और पद्यावली लता की रचना की।

श्री वनचन्द्र जी महाराज ने अपने निकुंजवास से पूर्व अपने चारों पुत्रों को सेवा विभाजित कर दी थी। उन्होंने श्री सुन्दरवर जी को संध्या-शयन, श्री राधावल्लभदास जी को श्रृंगार-आरती, श्री नागरवर जी को राजभोग-आरती और श्री ब्रजभूषणजी महाराज को मंगला-आरती दी। श्री राधा वल्लभदासजी के वंशधर श्रृंगार सेवाधिकारी कहलाते हैं। श्री राधा वल्लभदासजी ने अपनी इस श्रृंगार सेवा को लक्ष्य करके लिखा है-

सेवा शुचि श्रृंगार बनाउँ।
मेरी रुचि अनुकूल दई पितु वागो, सरस सुपाग धराउँ॥
सेवा पितृ पितामह दीनी लीनी, सिर धर लाड़ लड़ाउँ॥
मोर चन्द्रिका, कुण्डल कंकण, बाजू पहुंची हार सजाउँ॥
कंठलरी, धुकधुकी, मल्लिका, छुद्र घंटिका कटि पहराऊँ॥
नुपूर नक-बेसर, केसर की खौरि, खुभी पत्रावलि भाऊँ॥
चिबुक सुचारु थरक नव मोती, मन गोती धोती धरवाऊँ॥
सिरपेची, तुर्रावर कलगी, पटका पट छबि पाऊँ॥
फूलन माल, भाल बैंदा भल, धूप दीप नैवेद्य कराऊँ॥
जै श्रीराधा वल्लभ दास, अति, आरती करि न्यौछावर जाऊँ॥[२]

श्री राधा वल्लभ दासजी का यह पद मध्यकालीन आभूषणों के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। उनके 'रास रंगीले प्यारे' और 'रास मध्य राधिका अतोल नत्यकारी' पदों में रास का सुन्दर चित्रण हुआ है।

राधा वल्लभदास हिय उदधि रत्न दो दीन।

रसिक शिरोमणि दास जू, रसिकन दुखकर हीन।।

दूजे ब्रजमणि दास जु, ब्रज के मणि के दास।

श्री कीरति वृषभानुजा नित प्रति चरनन आस।

प्रथम शिरोमणि किरण तें, ब्रज निधि भये उद्योत।

तिनके वल्लभ नाथ हित, चार शास्त्र की जोत।।

गोस्वामी श्री ब्रज निधि वल्लभजी एक उत्कृष्ट कवि थे। उनके स्फुट पदों का संग्रह हस्तलिखित प्रति के रूप में अहमदाबाद में सुरक्षित है। श्री ब्रजनिधि वल्लभ जी के पुत्र श्री नाथ वल्लभ जी महाराज को उनके प्रकाण्ड पांडित्य के कारण ही 'चार शास्त्र की ज्योति' बतलाया गया है। श्री राधा वल्लभ भक्तमाल से ज्ञात होता है कि उनकी कीर्ति को सुनकर भोपाल तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशों के राजा चेनशाह जसवन्त शाह वृन्दावन आए और उनकी ज्ञान-गरिमा से प्रभावित होकर उनको अपने साथ ले गए। उन्होंने आचार्य श्री से दीक्षा ली और श्री राधावल्लभ जी के विग्रह की प्रतिष्ठा कराई।

वल्लभ कुमुद मुकुन्द जू, शास्त्रा मोद प्रचार ।

द्वादश वाक्यन तत्व कौ, प्रकट जनन निर्धार ।।

श्री मुकुन्द वल्लभजी गोस्वामी ने बोध दीपिका महाकाव्य पर भाष्य तैयार किया। उनके यहाँ गोस्वामी श्री हित वल्लभजी का प्राकट्य हुआ जिनकी वाणी स्फुट पदों के रूप में प्राप्त होती है।

हित वल्लभ तिनकें भये, हित के तन मन प्रान।

करी उजागर संप्रदा, गोंड देश दुःख जान ।।

गोंड राज्य में इन गोस्वामी परिवार के पहुँच जाने के कारण एवं धार्मिक चेतना आई। जैसा कि श्री ललिता प्रसाद पुरोहित ने लिखा है कि **रायसेन जिले**

के बाड़ी स्थान में श्री राधा वल्लभ जी के मन्दिर की स्थापना हुई और अपनी जीवंत गतिविधियों के कारण वह स्थान चमन कहा जाने लगा। हित वल्लभजी गोस्वामी के पाँच पुत्र रत्न हुए-गोस्वामी लाल वल्लभजी, गोस्वामी ज्ञानवल्लभजी, गोस्वामी टीकम वल्लभजी, गोस्वामी जीवन वल्लभजी और गोस्वामी श्री निधि वल्लभजी।

पांच तत्व के रूप इन, पुत्र जु प्रकटै पाँच।
लाल ज्ञान टीकम निधि, जीवन वल्लभ सांच॥
इनके यश कहँ लग कहौं म्लेच्छन बस किए सर्व।
भक्तिभाव भाजन प्रकट, दुरित किए सब खर्व॥

यह सभी आचार्य विद्वान् व्यक्ति थे। श्री लाल वल्लभ ही महाराज का काव्य और संगीत दोनों पर अच्छा अधिकार था। संगीत में उनके दो शिष्य थे लाल रङ्ग और कृष्ण रङ्ग।[१] श्री लाल वल्लभ जी के पदों का संग्रह 'पदावली' हस्तलिखित वाणी के रूप में वृन्दावन में प्राप्त है।[२] आचार्य श्री वृन्दावन वल्लभजी महाराज के ग्रंथ संग्रहालय को देखते समय मुझे श्री लाल वल्लभजी महाराज का एक हस्तलिखित काव्य-संकलन भी मिला है। उनकी वाणी में सम्प्रदाय के वणिकारों की विशेषता कांत पदावली और माधुर्य भावना का परिपाक हुआ है। उनकी कविता में 'लालहित' 'हितलाल', 'वल्लभ लाल' और 'वल्लभ हित लाल' छापें मिलती हैं। उनका एक अत्यन्त मनोहारी पद है।

"छवि कवि कौन पै कहि जात।
आज दै गल बाँहि ठाड़े गौर श्यामल गात॥"

एक अन्य पद में भाव भीना उलाहना दिया गया है--

सुन्दर श्याम कहो कहाँ आये।
भूले कै, अनुकूले मोहन, किन सोतिन सिखराये।
उघरत पलक लगत युग भीतर, मानहु भामिनि भेष छुपाये।
'वल्लभ लाल' भले पै दर्शन, भाग बड़े हम पाये॥

श्री लालवल्लभजी महाराज के अतिरिक्त उनके भाई श्री टीकम वल्लभ भी ब्रजभाषा के एक श्रेष्ठ कवि थे। उनकी पदावली भी वृन्दावन में संग्रहीत है इन विद्वान् बन्धुओं के कारण गोंड देश में सम्प्रदाय के सिद्धांतों का व्यापक प्रसार हुआ और आस पास के गोंड नृपतियों ने उनसे दीक्षा ली। उनका उपासना-स्थल अपनी गतिविधियों के कारण 'चमन कहा जाने लगा।

''धीरे-धीरे होशंगाबाद, बैतूल, सागर, मंडला, नरसिंहपुर और दमोह के प्राचीन गोंडराज घरानों में ज्ञानवल्लभ और लालवल्लभ गोस्वामी की आध्यात्मिक मान्यता प्रचलित हो गयी। बाड़ी और दूबतलाई के आस-पास के इक्कीस गांवों में इन गोस्वामियों की जमींदारी चलती थी। उनका निवास-स्थान बाड़ी कालान्तर में संगीत, कला की साधना और शिक्षा का केन्द्र-स्थान बन गया। भोपाल के नवाब दोस्त मोहम्मद खां के विश्वासघात पूर्ण षड्यंत्र से गोंड राजा का पराभव हो गया। गोस्वामी आचार्य इस स्थिति से दुःखी होकर वृन्दावन लौट आए, किंतु भोपाल नवाब ने उन्हें पुनः आग्रहपूर्वक बुला लिया। भोपाल की बेगम की इन पर विशेष श्रद्धा थी। एक बार जब भोपाल ताल में प्रबल आँधी के कारण नाव डांवाडोल होने लगी तब उन्होंने बेगम को प्रभु का स्मरण करने को कहा- श्री राधावल्लभजी का नेत्र मूँदकर स्मरण करने से आंधी का वेग सहसा थम गया और विपत्ति टल गई। श्री गोस्वामी जीवनवल्लभ के गोस्वामी आनन्दवल्लभजी महाराज का प्राकट्य हुआ।

जीवन वल्लभ के भए, जीवन प्राण अधार।
वल्लभ आनन्द नाम जिन, आनन्द सब परिवार।।

द्वादश-यश के यशस्वी भाष्यकार श्री आचार्य युगलवल्लभ जी महाराज इन्हीं गोस्वामी आनन्दवल्लभजी के पुत्र थे। अपने पितृ श्री के सम्बन्ध में श्री गोस्वामी वृन्दावन वल्लभजी महाराज ने लिखा है--

आनन्द कंद निकुंजवर, नित दुलहिन हिय मांहि।
युगल नेह से नित पगे, अनुक्षण तिहि दुलराहिं॥
युगल कृपा ते युगल पद, सेवत हित प्रभु दान।
वल्लभ युगल विहार मधि, डूबत नित प्रति जान॥
शास्त्र अनेकन मथन करि, हित माखन लियौ काढ़।
हित के यश गावत रहे, हित में प्रेम प्रगाढ़॥

गोस्वामी युगल वल्लभजी महाराज की एक लोक-विश्रुत विद्वान् के रूप में कीर्ति है। उनका संस्कृत तथा हिन्दी पर बहुत अच्छा अधिकार था। वे फारसी और अंग्रेजी के भी ज्ञाता थे। उनके ग्रन्थागार में मुझे बंगला, मराठी, गुजराती, और फारसी का भी भक्ति-विषयक साहित्य मिला। उनका प्राकट्य संवत् १९०९ विक्रमी में हुआ और एक लम्बी आयु प्राप्त करके संवत् २००१ विक्रमी में उनका निकुंजवास हुआ। उनके सम्बन्ध में वृन्दावन में प्रत्यक्षदर्शियों की देखी एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना है। नित्य संध्या को उनके लिए रबड़ी मिला हुआ दूध लेकर उनका शिष्य एक आया करता था। उस दिन जब वह आया तब उसे ज्ञात हुआ कि आचार्यजी तो निकुंज-वास कर गए हैं। वह दूध लेकर ही रोता-पीटता हुआ श्मशान पहुँचा। उसकी इच्छा थी कि वह दूध गोस्वामी जी को पिलाया जाय। उसकी इच्छा पूरी की गई और सब लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि जहां लोगों के कंठ में पानी तक नहीं जाता वहाँ अनेक कंठ में लोटा भर रबड़ी मिला हुआ दूध चला पाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे ज्ञान के लिए समर्पित एक पुण्य-पुरुष थे। **'स महात्मा सुदुर्लभः'**

उन्होंने संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनके प्रोत्साहन से वृन्दावन में कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ करता था जिसमें समस्या पूर्ति की जाती थी। इस सम्मेलन में वृन्दावन के अतिरिक्त बाहर के भी कवि अपनी रचनाएँ भेजा करते थे। एक कवि-सम्मेलन में समस्या की पूर्ति

उन्होंने इस प्रकार की थी।

धृत्वा गोकुल नंद नंदन वपुः कौमार कै हर्षयत्।
क्वापि भांड दधि लुठन् प्रिय तर हैयङ्गवभक्षयत्।।
गोपीनां प्रहशन्ननेक कृतिकां कुर्वन् मुदं वर्द्धयन्।
गोपाला कृति धारिणा भगवता गाश्चरिता पालिता।।

आचार्य श्री ने संस्कृत तथा हिन्दी में जिन ग्रन्थों की रचना की उनकी तालिका यह है--

१. हितामृत तरंगिणी २. हितोपदेश टीका ३. हित चन्द्रिका सटीक ४. सुधा शशि, ५. हित शत नाम ६. हित नाम माहात्म्य ७. रस-तरंगिणी ८. श्री उपसुधानिधि जी की टीका ९. द्वादश यश की टीका १०. रस भूमि ११. हित गीत १२. वैराग्य मंजूषा १३. आदि पुराण के प्रथम अध्याय पर टीका १४. द्विदल सिद्धांत टीका १५. युगल सहस्र नाम १६. हितामृत १७. प्रेमसरोवर १८. पद्यावली १९. टीका यमुनाष्टक २०. समय शतक २१. श्री राधाननय विनोद २२. विमुख पचीसी २३. श्री हित युगल अष्टयाम २४. आत्म विचार २५. श्री हित वृन्दावन विलास २६. सिद्धांत स्मृति सार तथा २७. श्री राधा वल्लभ अष्टयाम उनके द्वारा किया गया संग्रह है, इस छोटे से परिचयात्मक लेख में इन समस्त ग्रन्थों की विस्तार से विवेचना सम्भव नहीं है।

आचार्यश्री ब्रज भाषा का अत्यन्त प्रवाहपूर्ण गद्य लिखते थे, जिसकी झलक श्री हित चन्द्रिका की टीका से मिलती है। वे अपने नाम के आगे 'निर्मोही' शब्द लगाते थे। कविता में उनकी रुचि भक्ति और ज्ञान की ओर थी--

'नर पशु बहुत ढोयो भार।
नारि सुत मित बहु नचायौ कर वचन सिंगार।
धर्म धन छांड़ौ कियौ अपजसन कौ व्योपार।

अथवा--'अरे नर झूठहि जन्म बितायौ'

आचार्य श्री युगल वल्लभजी महाराज के दो पुत्र रत्न उत्पन्न हुए। आचार्य श्री वृन्दावन वल्लभजी और आचार्य श्री विपिन वल्लभजी महाराज। श्री वृन्दावन वल्लभजी ने लिखा है कि गोस्वामी श्री युगल वल्लभजी ने अपना वंश-वृक्ष चलाने के लिए वृन्दावन में वास किया। संवत् १९५९ में उनके यहाँ श्री गोस्वामी वृन्दावन वल्लभ जी का प्रादुर्भाव हुआ।

वंश चलावन हेतु इन, वृन्दावन कियौ बास।

बृन्दावन के युगलवर पुजई इन मन आस॥

बृन्दावन वल्लभ विपिन, नाम दोय रस एक।

युगल चरन की आस हिय, हित पद रज की टेक॥

ज्येष्ठ पुत्र गोस्वामी श्रीवृन्दावनवल्लभजी महाराज की एक लोक-विश्रुत विद्वान् के रूप में कीर्ति है। उनका संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी, अरबी, फारसी भाषा पर समान रूप से अधिकार था। आपको श्रीमद्भागवत, १०८ उपनिषद्, षड्दर्शन, अनेक श्रुति-स्मृतियाँ कण्ठस्थ थीं। आपका व्यक्तित्त्व अत्यन्त तेजस्वी एवं भक्तिपूर्ण था, आप अंधेरे में भी दृष्टिगोचर होते थे अर्थात् साक्षात् प्रकाशस्वरूप।

आचार्य श्रीवृन्दावनवल्लभजी महाराज स्वयं अच्छे लेखक होने के साथ एक मननशील पाठक भी थे। इसका आभास तब होता था जबकि प्रवचन के लिए व्यासगादी पर विराजमान होते थे। वे श्रोताओं के बौद्धिक स्तर का ध्यान रखते थे यही कारण था कि वे विद्यापीठ के विद्वान् आचार्यों से लेकर सामान्य जन तक को मुग्ध कर देते थे। श्रीगोस्वामीजी स्वभाव से बड़े ही विनम्र, सबके सच्चे हितैषी, सत्यवादी, शिष्य परिकर के परम पोषक एवं प्रखर राष्ट्रचिन्तक थे। इन सद्गुणों से सम्बन्धित अनेक पुष्ट घटनायें हैं जिनसे सिद्ध होता है कि आप साक्षात् कोई अवतारी महापुरूष थे।

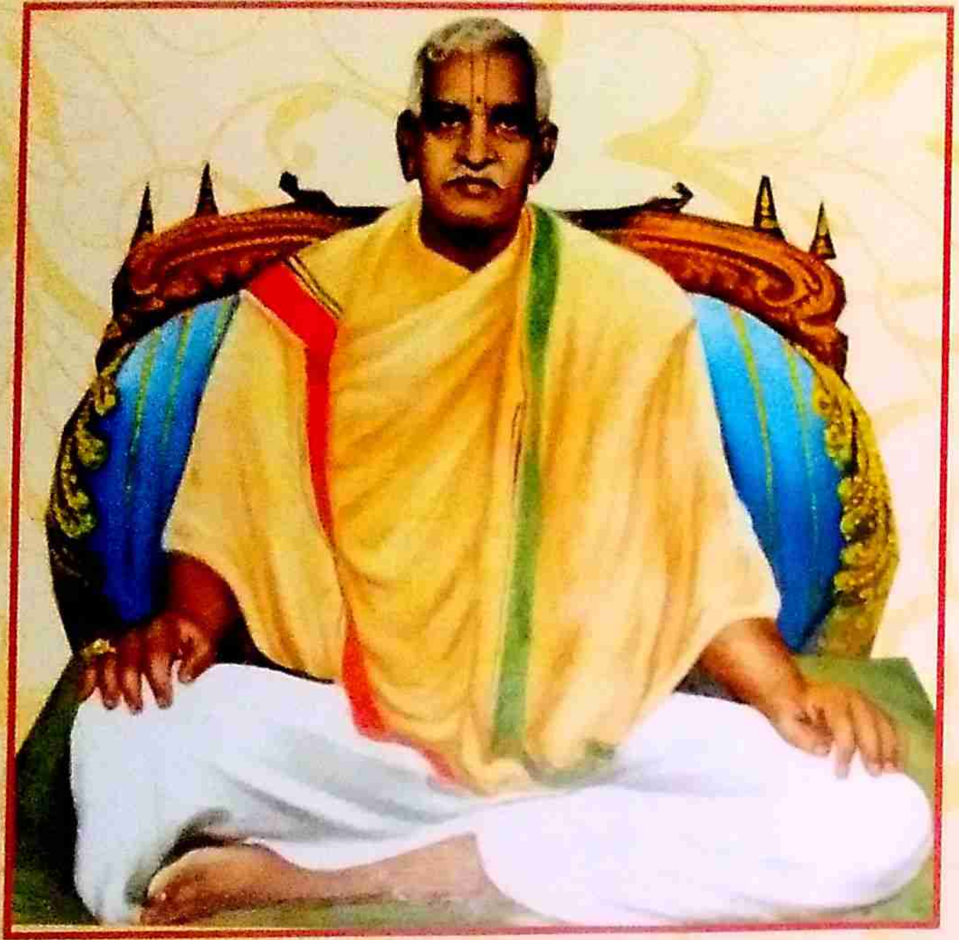

अनंत श्री विभूषित गोस्वामी हित हरिवंश चन्द्र कुलोद्भव
प्रात:स्मरणीय श्री गुरुवर
श्री हित वृन्दावन वल्लभ लालजू महाराज

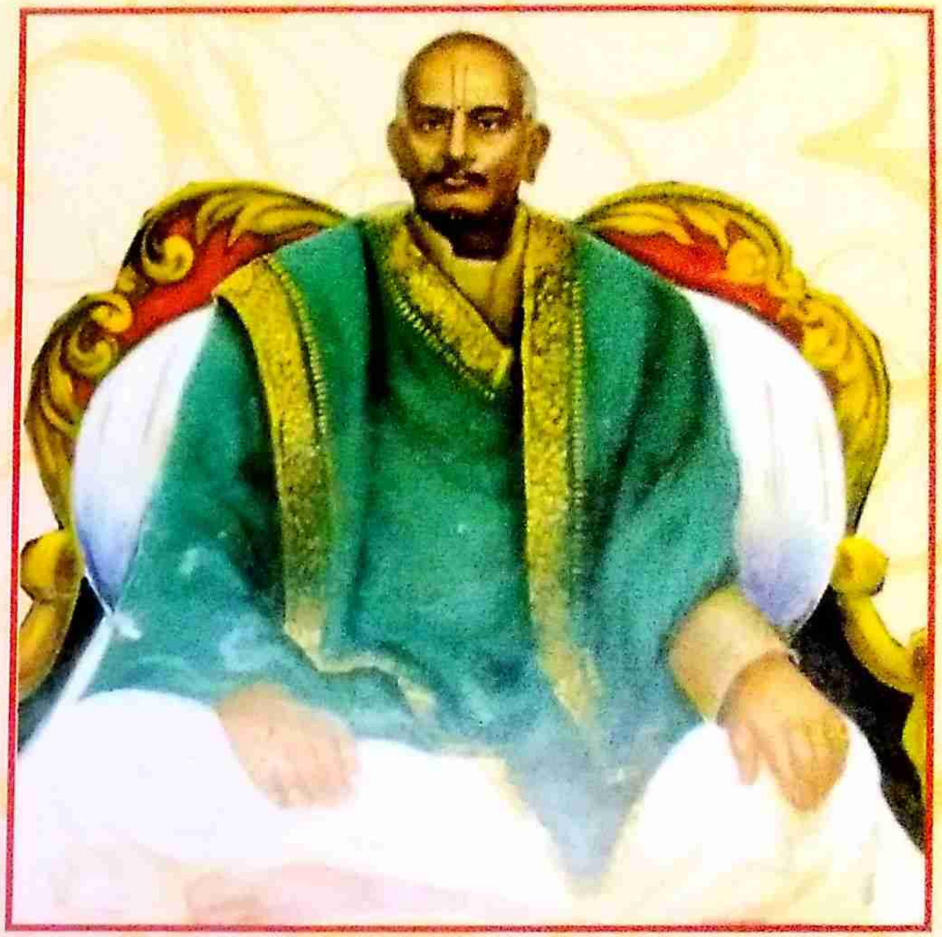

अनंत श्री विभूषित गोस्वामी हित हरिवंश चन्द्र कुलोद्भव
प्रात:स्मरणीय श्री गुरुवर
श्री हित विपिन वल्लभ लालजू महाराज

सद्गुरूदेव श्री वृंदावनवल्लभजी गोस्वामी

श्री वृंदावनवल्लभ तत्व-गुरू व्यक्ति या व्यक्तित्व नहीं, संपूर्ण अस्तित्व है। वे कृपासागर, आचार्य, नररूप में साक्षात भगवान है। वे बौद्धिक, धार्मिक समझ से भी ऊँची हार्दिक समझ देकर शिष्य के महामोह के बंधन अज्ञानानंधकार को दूर करते हैं । इन सभी गुणों से युक्त श्री वृंदावनवल्लभ तत्व पहले था, आज और भविष्य में भी रहेगा। उनकी स्थूल देह को ४ तत्व (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि) ही विलय हुए है। उनकी सूक्ष्म देह (आकाशतत्व, मन-चित्त-बुद्धि) और दिव्य आत्मिक शक्ति आज भी है और समय समय पर अपनी उपस्थिती प्रमाणित करती है। अर्थात वे अविनाशी तत्व हैं।

इसका कारण :- १) उनके शिष्य उनकी प्रेरणा से हितमार्ग पर चलकर भक्ति और भगवत्रस का लाभ ले रहे हैं। २) उनकी आदि भौतिक, आदि दैविक और अध्यात्मिक भूलें माफ हो जाती हैं। ३) शिष्य उनकी स्मृति को आदर-प्रेम से हृदय में धारण करते है। ४) उनके वचन और साधना की महाशक्ति उनके शिष्यों की प्रगति कराती है। ५) उनके शिष्य रसमय राधावल्लभ धर्ममार्ग पर चलते है और कठोर तप, शैव उपासना, कर्मकांड, जादू-टोना आदि के व्यर्थ चक्कर में नहीं पड़ते। ६) उनकी दीक्षा की छत्रछाया में पाप-ताप-दोषों से मुक्त रहते है। ७) उनके वैदिक, शास्त्रीय, दिव्य ज्ञान के अंश उनके शिष्यों में भी आते है। इसी प्रकार के अनेक लाभ और उदाहरण उनके शिष्यों में समय-समय पर देखे जाते हैं, जो उपरोक्त वक्तव्यों के प्रमाण है।

श्री वृंदावनवल्लभजी गोस्वामी है। गोस्वामी = गो (इंद्रियाँ) + स्वामी (वल्लभ, मालिक) = परम संयमी और समर्थ। उदा. १) सन् १९६६ में मैं

प्री युनिवर्सिटी में पढ़ता था। फरवरी माह में मेरे हाथ पर एक जहरीले कीड़े ने काट लिया। उसका जहर सारे शरीर में फैल रहा था और हाथ सूजकर हाथी के हाथ जैसा हो गया। डाक्टर ने आपरेशन करके हाथ का जहर निकाला, लेकिन शरीर में जहर फैला हुआ था। कमजोरी इतनी थी की मैं बिस्तर से उठ नहीं सकता था और दिन के अधिकांश समय बेहोश रहता था। मार्च में परीक्षा थी। डाक्टर और घरवालों ने परीक्षा देने के लिये मना किया, क्योंकि फरवरी के बाद मैं पढ़ाई नहीं कर सका था। मैंने जिद ठान ली कि परीक्षा दूंगा। आखिर घरवालों ने परीक्षा देने की बात मान ली। मुझे दवाई देकर होश में लाते थे। पिताजी मुझे परीक्षा स्थल पर छोड़ते थे। मैं परीक्षापत्र लिखते लिखते बेहोश हो जाता था और पिताजी मुझे घर ले आते थे। मुझे नहीं पता था कि मैंने क्या लिखा और परीक्षापत्र पूरा लिखा या नहीं। कुछ दिनों बाद श्री वृंदावनवल्लभजी नागपुर आये। घर में पधरावनी के समय मुझसे पुछे कि क्या कोई चिंता है? मैंने परीक्षा देने का सारा वृत्तांत सुना दिया। वे बोले कि तू प्रथम श्रेणी से पास होगा। कुछ दिन बाद जब परीक्षाफल आया तो मैं सचमुच प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ।

२) सन् १९६३ में श्री वृंदावनवल्लभजी की श्रीमद्भागवत कथा नागपुर की पचेरीवाला धर्मशाला, सीताबर्डी में हो रही थी। उनके रसमय विद्वत्तापूर्ण विवेचन चमत्कृत करनेवाले थे। कथा के तीसरे दिन, कथा समाप्त होने के बाद उन्होंने मुझे आज्ञा दी की उनके शरीर में दर्द है और मैं दबा दूँ। यह मेरे जीवन का सबसे अधिक आल्हादकारी सुअवसर और मंगल विधान था। उनका बदन दबाते समय मुझे उनकी देहिक, मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक शक्ति की ऐसी विलक्षण अनुभूति हुई जो वर्णनातीत है। वह शक्ति मुझे आज तक प्रेरणा दे रही है।

३) सन् १९७५ में मेरी माताजी श्रीमती सुमित्रदेवी सराफ वृंदावनवास करती थी और हनुमान बाग में रहती थीं मैं और मेरी धर्मपत्नी श्रीमती उमादेवी वृंदावन आये। रात्री में करीब साढ़ेआठ बजे श्रीराधावल्लभजी के दर्शन करके हम श्रीराधावल्लभजी के घेरे में श्री वृंदावनवल्लभजी के निवासस्थान में गये। उनके सुपुत्र और मुझे कंठी-गुरूमंत्र देनेवाले गुरू श्री वंशीवल्लभजी ने धर्म और भक्ति संबंधी उपदेश दिये। उनके अमृतमय वचनों से मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा था। करीब सवा नौ बजे गुरूजी की आज्ञा लेकर मेरी माताजी घर चली गई। करीब साढ़े नौ बजे मैं और मेरी पत्नी घर जाने के लिये निकले। गुरूजी के घर की चौखट पर गुरू श्री वृंदावनवल्लभजी की साक्षात् अनुभूति हुई कि श्रीराधावल्लभजी के दर्शन करो। मैं और मेरी पत्नी मंदिर के सामने गये, तो मंदिर के दरवाजे खुले थे। हम अंदर गये तो केवल एक बल्ब जल रहा था और काफी अंधेरा था। ऊपर श्रीराधावल्लभजी के सिंहासन के सामने का द्वार खुला था और एक सेवायत विराजमान थे। उन्हें मैं नहीं पहचानता था। द्वार के बाहर कई लोग थे जिनके चेहरे साफ नहीं दिखते थे। सेवायत के हाथ में फूलों का हार और फूलों का मुकुट जैसा था। कई लोगों के हाथ उन्हें लेने के लिये आगे बढ़े, लेकिन सेवायतजी ने सबको हटाकर मुकुट मेरे हाथ में और हार मेरी धर्मपत्नी के हाथ में दे दिये। उन्हे लेकर जब घर में माताजी के पास गये और उन्हें दिखाये तो वे बोली कि यह श्रीराधावल्लभजी का संपूर्ण सेहरा है। यह संपूर्ण किसी को दिया नहीं जाता, केवल इसके फूल बाँटे जाते हैं। जब उन्हें मंदिर में अंधेरा और समय का पता लगा तो वे बोली कि उस समय श्रीजी का शयन हो जाता है और मंदिर बंद रहता है। यह सत्य घटना है और श्री वृंदावनवल्लभजी की असीम अनंत महिमा है।

ये घटनाएँ प्रमाणित करती है कि भगवान और भक्ति अदृष्य हैं, लेकिन सद्गुरू के रूप में आकर दर्शन देते हैं और कल्याण करते है। श्री वृंदावनवल्लभजी इंद्रियों के प्रेरक, अमोघ ज्ञान भंडार, ज्ञानदाता सनातन, प्रेमदाता और कृपासागर

हैं। वे शिष्यों को सत्यज्ञान देकर जीवन सुधारते हैं। सत्यज्ञान देना प्रेम है और प्रेम के दाता भगवान हैं। इसलिये श्री वृंदावनवल्लभजी भगवत्स्वरूप हैं।

उदा. १) सारे धर्मशास्त्रों में गुरू सहस्त्रनाम और गुरू अष्टकम् कहीं नहीं था। उन्होंने अपनी देहत्याग के बाद इनकी रचना कराकर भक्तों के अभीष्टप्राप्ति के मार्ग खोल दिये। २) इस कलियुग में उन्होंने संजीवनी विद्या का ग्रंथज्ञान प्रकट करके जग को अनुग्रहित किये। ३) नागरी अष्टक रहस्य नामक ग्रंथ में अप्राकृत जग, मृत्युपरांत जीवात्मा की गति, स्वर्ग-पितृलोकादि का वर्णन, दिव्य ज्योतिष्य, आदि का विशद वर्णन किया। ४) श्री राधावल्लभ निभृत में विशुद्ध भगवत् प्रेमलीला, श्रृंगाररस और कुंज-निकुंज का पद्य रूप में वर्णन किया। ५) श्री सेवक वाणी रहस्य में सारे धर्मों का सार, सृष्टि के रहस्य, ज्ञान-विज्ञान, आदि का वर्णन करके श्रीहितधर्म में सारे धर्मों को यथोचित स्थान-सम्मान देकर उनके गूढ़ दिव्य स्वरूपों का निरूपण किये।

ज्ञान, ग्रंथ और प्रवचन की दृष्टि से गुरू के २ रूप होते हैं :- १) व्यास- जो विस्तार करें। यह सत्यज्ञानी-ब्रह्मज्ञानी ही कर सकते है। २) समास-जो संक्षिप्त करे। यह ग्रंथ के पारंगत आचार्य-संत होते है। श्री वृंदावनवल्लभजी कृत श्री मद्भागवत् रहस्य विस्तार है और श्री वृंदावनवल्लभजी व्यास हैं। इस ग्रंथ में धर्म का यथार्थ सत्य बताया गया है। सारी सृष्टि का यथार्थ सत्य एक ही है, इसलिये यथार्थ सत्य वही होता है जिसे सारे धर्म स्वीकार करें। श्रीमद्भागवत् रहस्य ऐसा ही ग्रंथ है और इसमें अध्यात्म, ज्ञान-विज्ञान, आदि का सत्यज्ञान है। यह विवेक की दृष्टि में खरा उतरता है।

सद्गुरू में पाँच गुण होने चाहिये और श्री वृंदावनवल्लभजी में ये पाँचो गुण थे :- १) वे शिष्य की योग्यता, रूचि, परिस्थिति, युगानुसार व्यवहार, वेद-शास्त्र सम्मत उचित मार्गदर्शन करते थे। २) उन्हें उपरोक्त मार्गों का पूर्ण ज्ञान था।

३) वे अपने मार्गदर्शन का अनुभव करा देते थे। ४) वे उन मार्गों पर स्वयं भी चलते थे। ५) अपने दर्शाये मार्गों में भक्ति को भ्रष्ट नहीं होने देते थे। ये पाँचो गुण उनके रचित ग्रंथो में प्रमाणित होते हैं।

उनके उपदेशों में वक्ता और वाणी के सारे गुण थे। वक्ता के गुण :- १) शिष्य और श्रोता को अपना ज्ञान देकर मुल्यवान बना देना। २) अपने ज्ञानप्रकाश से शिष्य की अंधकारमय आत्मविस्मृति को मिटा देना। ३) दूर स्थित शिष्यों का कल्याण करना। ४) अपने परम तेज, ज्ञान, आकर्षण से सदा शिष्यों के मन में बसना। इन चारों का सार है कि श्री वृंदावनवल्लभजी अपने अनुभव, सामर्थ्य, शुभकर्म, अहंकाररहितता, स्वार्थरहितता आदि के अनुसार अमृतमय प्रवचन देते थे। मैंने उनके मुख से लेशमात्र भी मनगढंत, अशोभनीय, अशुभ और उग्र वचन नहीं सुने। वे वेद, वेदांत, श्रुतियाँ, नीति, धर्म, योग आदि के प्रकांड विद्वान थे।

श्री वृंदावनवल्लभजी द्वारा शिष्यों को दीक्षा देना विलक्षण था। दीक्षा = दी (देना) + क्षा (रक्षा) = शिष्यों की सब प्रकार से रक्षा करना। गुरूमंत्र शिष्य में प्रवेश करके उसे धन्य कर देते हैं। ये गुरू के हृदय की भाषा होती हैं। यह दीक्षा संप्रदायी है, जो अनन्यता पर आधारित है, इसलिये निकुंज प्राप्ति का एक सीधा सन्मार्ग और विद्या है। इसमें कर्मकांड, योग, तप आदि बंधनों से मुक्त केवल इष्ट चरण और प्रेम याद रहते हैं। यह वास्तविक आत्मविद्या है।

श्री वृंदावनवल्लभजी हित और प्रेम की साक्षात् मूर्ति हैं। अपने शिष्यों के दोषों को माफ करना, उन्हें तृष्णामुक्त स्वतंत्र करना, उन्हें भगवन्नाम की पूर्णता का अनुभव कराना, उनमें अष्टसात्विक भाव जागृत करना आदि उनके भूषण हैं। उनके दिखाये मार्ग का कैसे भी (इच्छा-अनिच्छा, प्रकट-अप्रकट, स्थूल-सूक्ष्म, विवशता आदि) अनुकरण-अनुसरण करें, वे सदा शुभफल ही देते हैं। उनकी चरणरज सगर्भा है जो भवरोग मिटाकर मंगलता, मंजुलता और मोद उत्पन्न करती है।

उनके द्वारा प्रतिपादित श्री हितधर्म का मर्म शरणागति है। अर्थात निष्काम प्रेमाभक्ति। उन्होंने हितधर्म के चार अंग या पुरूषार्थ बताये हैं :- १) ह-(हरि, प्रियतम श्रीकृष्ण), २) रि (प्रिया श्रीराधा) ३) वं (वृंदावन), ४) श (सखियाँ) इनका सम्मिलित रूप प्रेमावतार, वंशी अवतार श्री हरिवंशरूपी भगवत्रस है। यह वास्तविक निकुंज, निभृत, अभीष्ट और महारास है। इसके आगे मुक्ति, भोग, स्वर्ग आदि भी नरकतुल्य है। मन में उपासना-आराधना होती है, कर्म से अष्टायाम सेवा-परोपकार होते है और भाव में दास्य सख्य-वात्सल्य और शांत भाव का सम्मिलित ''कांता भाव'' है। इनसे भावित प्रेम प्रेमाभक्ति की आत्मा है। इसके बिना पांडित्य भी पूर्ण नहीं होता। श्री वृंदावनवल्लभजी उपास्यतत्व ''हित'' का साक्षात् दर्शन करा देते हैं, इसलिये वे प्रेमरूप भी हैं।

श्री वृंदावनवल्लभजी गृहस्थ थे। वे विप्र, महापुरूष, भगवान के सेवाधिकारी और पूज्य हैं। उनमें गृहस्थ ब्राह्मणोंचित बारह गुण थे :- धन, कुलीनता, ज्ञान, रूप, तप, तेज, ओज, प्रभाव, बल, पौरूष, बुद्धि और योग।

इसके साथ उनमें त्यागी ब्राह्मण के बारह लक्षण भी थे :- शम, दम, तप, स्वाध्याय, त्याग, संतोष, तितिक्षा, विनय, विद्या, आसूया, आत्मज्ञान और आनंद।

इनके साथ उनमें छः दिव्य लक्षण थे :-सरलता, क्षमा, सत्य, भक्ति, शौच (पवित्रता), दया।

उन्होंने शुद्ध विप्र के छः कर्म पूर्ण किये :- अध्ययन, अध्यापन कराना, दान लेना, दान देना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना।

इस दृष्टि से वे वास्तविक सद्गुरू, विप्र, द्विज, ब्राह्मण, भक्त, परमयोगी और सर्वपूज्य हैं।

श्री वृंदावनवल्लभजी तीनों प्रकार से दीक्षा देते थे :-१) मानसी, नेत्र, स्पर्श और शब्दों द्वारा दीक्षा देना। यह दीक्षा प्रवचन-कथा में बैठे लोगों को मिलती थी। २) शांभवी-जो लोग उनके नेत्रों द्वारा उनके मन में बैठ जाते थे, वे स्वयं ही दीक्षित हो जाते थे। उनका कल्याणमार्ग खुल जाता था। वृंदावन में ऐसे कई भाग्यवान और शिष्य है। ३) मांत्रिक-वे वेद, तंत्र, सरल मंत्रों के पारंगत थे, इसलिये वैदिक (गुरूमंत्र, वेदमंत्र), तांत्रिक (धन, सिद्धि, कार्यसिद्धि, लाभ, आदि) और साबरी (अज्ञानी को भी मनोवांछित फल देनेवाले सरल मंत्र) मंत्र देते थे।

उपरोक्त का ज्वलंत उदाहरण है कि महाराष्ट्र में कारंजा लाड़ नामक शहर में उनकी शिष्या श्रीमती चंद्रभागा बजाज रहती हैं। उन्होंने श्री वृंदावनवल्लभजी से दिसम्बर १९६९ में दीक्षा ली। उन्होंने गुरूजी से निजमंत्र देने की भी इच्छा जाहिर की। गुरूजी ने उन्हें एक मंत्र देकर कहा कि इसके इतने जाप ३ वर्ष में पूरे कर लोगी तो निजमंत्र दे दूँगा। २६ जून १९७० में श्री वृंदावनवल्लभजी ने समाधि लेकर निकुंजवास प्राप्त किये। लेकिन श्रीमती चंद्रभागा बजाज ने तीन साल में गुरूजी के कहे अनुसार जाप पुरे कर लिये। दिसम्बर १९७२ में श्री वृंदावनवल्लभजी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर निजमंत्र की दीक्षा दे दिये। वह मंत्र श्रीमती चंद्रभागा बजाज को जागने पर भी याद रहा। उनके मन में उसके निजमंत्र होने या नहीं होने की आशंका थी। कुछ दिनों बाद श्री वृंदावनवल्लभजी के भतीजे श्रीउपेंद्रवल्लभजी को कारंजा के श्री गोपालजी ने निमंत्रित किया। वहाँ श्री उपेंद्रवल्लभजी गोस्वामी (कन्नुजी महाराज) को श्रीमती चंद्रभागा बजाज ने सारी बात बताई। श्री उपेंद्रवल्लभजी ने वह निजमंत्र और विधि को ठीक पाये।

श्री वृंदावनवल्लभजी में सद्गुरू का वृहद् स्वरूप "गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णु गुरूर्देवो महेश्वरः, गुरूर्साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरूवे नमः" चरितार्थ होता है।

अर्थात १) ब्रह्मा-वे शिष्य को नवजीवन देकर द्विज बना देते थे। २) विष्णु-वर्तमान में भी शिष्य को ज्ञान-सुबुद्धि देकर जीवन सफल कर देतें थे। ३) महेश्वर-शिष्य को अज्ञान-दुःख नष्ट करते हैं और निकुंजप्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

वे सदा कृपा करते और कृपापूर्ण वरदान ही देते है। उनके क्रोध में भी कृपा छुपी होती है। उनका दंड शिष्य को सुधारता है। सुधारता = सुधा (अमृतमय) + रता (क्रिया) = अमृत के जैसी क्रिया। ऐसी कृपा माता, पिता, मित्र, संबंधी आदि नहीं कर सकते। ऐसी क्रिया से वे शिष्य को अपने गुणों के अंश देकर दिव्य अनुभूति जगाते हैं और श्रेष्ठ बना देते हैं।

श्री वृंदावनवल्लभजी गुरूतत्व हैं। गुरूतत्व काल के स्वामी होते हैं। यह कालस्वरूप तीन प्रकार से कृपा करता हैं :- १) काल या मृत्यु का भय दूर करता है। २) त्रिकाल के प्रपंचों की अनुभूति दूर होती है, भक्ति में लीनता होती है और कालातीत स्थिति हो जाती है। ३) उनके दिये हुए ज्ञान से काल या समय के द्वंद-भय मिटते, उत्तम जीवन बीतता और परमार्थ के कार्य होते है। शिष्य को केवल इतना करना पड़ता है कि उनके प्रति पूर्ण समर्पण का भाव रखे।

श्री वृंदावनवल्लभजी ने हितधर्मोचित और श्री सेवकवाणी में वर्णित गुरूसेवक के गुणों से अपने शिष्यों को अलंकृत किये हैं। उनकी शिक्षा है कि गुरू की सवो से सारे महादेवता, देवी-देवता, सारी सृष्टी की पूजा हो जाती है। उसे अलग से अन्य पूजा करने की जरूरत नहीं होती। उदा. -सारे जंगल की सिंचाई करना संभव नहीं है। अपने घर के तुलसी के पौधे (वृंदा) की सिंचाई करने से सारे जंगल की सिंचाई करने का फल मिल जाता है। गुरूसेवक पर दिन-कुदिन, ग्रह-नक्षत्र के वेध, शुभ-अशुभ, व्रतादि कर्मकांड, नियम-निगम के बंधन, अनावश्यक संयम-योग, दोष, पाप-पुण्य, संसार के ताप, आदि लागू नहीं होते। सद्‌गुरू के अमोघ कवच पराक्रम शिष्य को बचाते हैं। दैव-मृत्यु में भी शक्ति नहीं कि इस

रक्षाकवच को भेद सके। ऐसे शिष्य प्रेमोपासक या हितोपासक होते हैं। प्रेम तत्व परात्पर परमेश्वर को भी भक्त के वश में कर देता हैं । ऐसे प्रेमी भक्तों का जग में कोई भी, कभी भी, कहीं भी, कैसे भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

श्री वृंदावनवल्लभजी ने प्रेमतत्व और प्रेमोपासना का विस्तृत निरूपण और मार्गदर्शन किये हैं। इसके मूल श्रीहरिवंश तत्व हैं। प्रेमतत्व काल सेभी बड़ी, अविनाशी और सर्वोच्च भगवत्‌शक्ति है। अंतरिक्ष में संकर्षण शक्ति के रूप में यह संपूर्ण ग्रह मंडल, तारामंडल, आकाश गंगाएँ, अदृष्य शक्तिलोक, अद्‌भुत लोक, ब्लैक होल, आदि का सृजन, संचालन, उनके विधान-नियम, नाश, पुननिर्माण, आदि करती है। पृथ्वी भी इनमें से एक है। गुरूत्वाकर्षण के रूप में यह सारे ग्रह तारे, नक्षत्रादि को उनकी धुरी पर रखना, सुव्यवस्थित, सुरक्षित करती है। ग्रह आदि के तत्वों के प्रेम या मिलन से विश्व के अनंत पदार्थ (खनिज, अन्न-फल-आदि, पर्वत, नदी, वृक्ष आदि) बनते हैं। हर प्राणी का सबसे प्रिय प्राण भी प्रेम ही है। प्राणियों में नर-मादा के परस्पर आकर्षण-प्रेम से संतानोत्पत्ति, उनका पालन, शिक्षा, आदि होते हैं। जग के हितकर्म, परोपकार, शिक्षा-दीक्षा, भक्ति, उपासना आदि भी प्रेम ही हैं। सारांश है कि जग में प्रेम (भगवान) के सिवा और कुछ है ही नहीं।

श्री द्वादशयश में वर्णित व्रजलीला प्रेमरूप है, लेकिन इसमें मिलन और विरह है। श्री वृंदावनवल्लभजी वर्णित श्री राधावल्लभ संप्रदाय की निकुंज लीला प्रेम की अखंड धारा हैं । यह उर्जा और चेतना है। इसमें दिव्यता, सौरभ, अलौकिक रूप-माधुर्य, मधुरता, गीत-संगीत, सुखद स्पर्श, कल्याण आदि हैं। यह अमृततत्व है। उदा. श्री युगल का परस्पर चुंबन प्रगाढ़ प्रेम की अभिव्यक्ति अधरामृत हैं । अधरामृत = अ (नहीं) + धरा (पृथ्वी) + अमृत = पृथ्वी का नहीं, दिव्य अमृत। वास्तव में मिलन और विरह एक दूसरे के पूरक और आनंदमय

हैं। प्रेमानंद और विरहानंद श्री राधास्वरूप है। यह आत्मा से भी आगे का आल्हाद है। इसमें भक्त सुखी, सहज, सत्यनिष्ठ और अभीष्ट प्राप्ति का अधिकारी बन जाता हैं जिसे मिलन में आनंद आये, उसका अभीष्ट मिलन है और जिसे पीड़ा में आनंद आये, उसका अभीष्ट पीड़ा है। उदा. प्रसव के समय माता का आनंद प्रसव पीड़ा है और उसका अभीष्ट संतान प्राप्ति है। श्री युगल की अनंत केलियों में से चुंबन-आलिंगन का निरूपण है कि माता द्वारा पुत्र का आलिंगन, चुंबन, प्रेमी द्वारा प्रेमिका का आलिंगन चुंबन, आदि को शास्त्रों में ब्रम्हानंद कहा गया है।

श्री वृंदावनवल्लभजी ने समझ दिये हैं कि सच्चे प्रेम में अतृप्ति सदा बनी रहती है। यदि तृप्ति हो गई तो वह वासना है। सच्चे प्रेम की कसौटी सहन करना है। जो प्रेम झुकने को विवश करे, वह प्रेम नहीं कमजोरी हैं। सच्चे प्रेम के प्रेमोन्माद और तड़प की प्रेमाग्नि प्रेमी को शुद्ध कर देती है, इसलिये श्री वृंदावनवल्लभजी के शिष्य परम शुद्ध हैं। प्रेमाग्नि और प्रेम में तड़प की स्थिति एक ही होती है और निष्काम बनाती है। इससे सारे कर्मबंधन, अशुभ, पाप, ताप और अहंकार जल जाते है और जीव सहज आनंदमग्न रहता है।

सब जीवों में प्रेम रहता है। उदा. माता-पिता का संतान के प्रति, गुरू का शिष्य के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति, आदि। ये प्रेम व्यापक नहीं है, इसलिये मोह, ममता, आसक्ति, लोभ, वासना आदि की श्रेणी में आते हैं। अनंत प्रेम (सबसे प्रेम) ही सच्चा प्रेम है। यह आत्मा तक पहुँच जाता है और भगवान से मिला देता है। इसके बाद आत्मविस्मृति हो जाती है और केवल भगवान ही रह जाते है। इसकी शिक्षा प्रियतम श्रीकृष्ण और प्रिया श्री राधा का प्रेम है। इस प्रेम में दोनों मिलकर श्री राधावल्लभ हो जाते हैं। यह संसारिकता से परे दिव्य, अनंत और अमर प्रेम है। ऐसा प्रेम पूर्ण समर्पण करा देता है और प्रेमी को पूज्य बना देता है। भगवान पूज्य हैं और प्रेमी से अलग नहीं हैं।

श्री वृंदावनवल्लभजी द्वारा वर्णित श्री वृंदावनधाम विलक्षण, आश्चर्यमय, वेद-पुराण आदि के वर्णन से अधिक रसमय और मधुर रस से भरा है। यह श्री युगल की प्रेमलीला की प्राणभूमि है और श्रीराधा इसकी अधिष्ठात्री हैं। श्री राधावल्लभ संप्रदाय की प्रथम सहज सुंदर आकृति प्रेम है। ऐसा प्रेम ही उपास्य, उपासक, इष्ट-गुरू, उपासना-आराधना और सर्वोपरि है। वृंदावन = वृंदा (तुलसी, भक्ति) + वन (समूह) = भक्ति का सागर = प्रेमाभक्ति। यहाँ की रज चैतन्य है और सारी शक्तियों, देवी-देवता, सिद्धियों-निधियों, आदि द्वारा सेवित है। यहाँ श्री युगल की लीला नित्य चलती रहती है और हर कण में राधा नाम गूंजता है। इसमें सर्वभौम भगवत् तत्व श्री प्रियतम है और सौंदर्य-शक्ति श्री राधा है। इसकी दिव्य अनुभूति श्री हरिवंशजी हैं और इसे प्राप्त करानेवाले श्रीवृंदावनवल्लभजी हैं। इस दिव्यरस से भक्तों के हृदय में प्रेम की बाढ आ जाती है।

श्री श्री वृंदावनवल्लभजी ने स्वामिनी श्रीराधा के दिव्य निजधाम और श्री प्रियतम की हृदयस्थली निकुंज का सुंदर वर्णन किये हैं। यह अप्राकृत चेतन तत्व है और रसिक हृदय को आल्हादित करता है। निकुंज में ६ अद्भुत शक्तियाँ सेवारत हैं :- परा, कुंडलिनी, मंत्र, इच्छा, कर्म और ज्ञान। जग में ये शक्तियाँ जीवों की सारी इच्छाएँ पूर्ण करती हैं। निकुंज में श्री युगल लीलाओं का नित्य प्रवाह चलता रहता है और दिव्य अद्भुत प्रेमक्रियायें-प्रतिक्रियायें होती रहती हैं। ये लीलायें सारे शास्त्र, पुराण, वेद, श्रुतियों आदि के सार और अभीष्ट हैं। यहाँ महादेवता, देवी-देवता, कामादि भाव, तृष्णा, प्रपंच आदि का लेशमात्र भी नहीं है। यहाँ केवल उत्तमोत्तम रससार और परमाल्हाद है। निकुंजों में श्री युगल की सेवा-टहल की प्रेम मदिरा में परमानंदस्वरूप सखियाँ मात्र रहती हैं। ये सखियाँ श्रीराधा की विभूतियाँ हैं और सौंदर्य, कला, निर्मलता, दिव्यता, मनोहरता, चातुर्य आदि की पराकाष्ठा हैं।

श्री वृंदावनवल्लभजी के शिष्य प्रेमाभक्ति के दिव्य रस का अनुभव करते है। यह रस संसारी स्थूल, ६ रस (खट्टा, मीठा, कड़वा, तीरवा, नमकीन, चरपरा)

और मनोमय ९ रस (रौद्र, श्रृंगार, अद्भुत, हास्य, वीर, विभित्स, भयानक, वात्सल्य, शांत) से परे दिव्य प्रेमाभक्ति रस है। यह सारे रसों का सार है। संसारी रसों से सुख-दुख, आसक्ति, व्यसन, भय, लोभ, भ्रम, आदि की श्रृंखला में जीवन बीत जाता है और अंत में कुछ नहीं बचता। भगवत् आश्रय, अभय और अनुकंपा के अभाव में अंतकाल भयानक होता है और सद्गति नहीं होती। प्रेमाभक्ति का रसानुभव निकुंज रास रस है। यह शाश्वत् मधुर आनंद देकर कृतार्थ करता है। यह संपूर्ण भगवत् समर्पण कराकर भक्त को चट्टान जैसा दृढ, धीर और अटल बनाता हैं इसमें नवधा भक्ति की ६ स्थुल विधायें (श्रवण, कथन, पादसेवन, स्मरण, अर्चन, वंदन) और सूक्ष्म भक्ति की ३ विधायें (दासंतन, सख्य, आत्मसमर्पण) स्वयं ही निभजाती हैं। यह रास (भगवान से एकरस होना) का अनुभव करानेवाली रसस्थिति है। ऐसा प्रेमी भक्त उपास्य, उपासक, उपासना और उपासनातत्व का सम्मिलित महानुभाव होता है। इसका कारण है कि प्रेमाभक्ति आत्मा की तुष्टि और भगवान की संतुष्टि है। श्रुतियाँ इसे आत्मस्वरूपता कहती हैं। यह कर्म, विधि-निषेध, नियम-निगम, आचार आदि से परे केवल विशुद्ध प्रेमस्वरूपता है। इसका कारण है कि भगवान सर्वरसस्वरूप हैं ओर उनमें लीन भक्त (भगवान से अविभक्त) भी उनके जैसे मधुर रसानंदस्वरूप बन जाते हैं। वे विशुद्ध भगवत्लीलायें देखते हैं और उन लीलाओं में सम्मिलित होते हैं। श्रुतियाँ इसे भगवत् सान्निध्य कहती हैं। ऐसे भक्तों को पाँचो मुक्तियाँ भी तुच्छ लगती हैं और केवल भगवत् प्रेम ही याद रहता है। इसके आगे का वर्णन करना श्रुतियों के लिये भी संभव नहीं है।

श्री वृंदावनवल्लभजी की कृपा चमत्कारी है। जैसे धनी ही, धन दे सकता है, ज्ञानी ही, ज्ञान दे सकता है, वैसे ऐसी कृपा श्रीवृंदावनवल्लभजी जैसे कृपासागर ही कर सकते हैं। उनके शिष्य तन-मन के भवरोगों-भावरोगों से मुक्त अमरत्व (स्थूल-सूक्ष्म भय और मृत्युभय) के मार्गी होते हैं।

अनंत श्री विभूषित गोस्वामी हित हरिवंश चन्द्र कुलोद्भव
प्रातःस्मरणीय श्री गुरुवर श्री हित वृन्दावन वल्लभ लालजू की

मंगल बधाई

♦

जय-जय श्री हरिवंश अमित करुणा भरे।
जग अपनावन हेत अवनि पर अवतरे।।
अहो महा आचरज मनुज कौ तन धर्‌यौ।
मन बुधिचित सर्वोपरि मानुष कौ कर्‌यौ।
कर्‌यौ मानुष श्रेष्ठ सब पर जो कह्यौ न जाव ही।
महा दुर्लभ तत्व जाको बुद्धि मन में आव ही।।
याते जयति जय व्यास नंदन जिननि मानव तन धरे।
जय जय श्री हरिवंश अमित करुणा भरे ।।१।।
जय जय श्री हरिवंश के भजन प्रकास री।
(जय) श्री वृन्दावन वल्लभ सब सुख रास री।।
भये प्रगट गुरुराज अभायक वपु धरे।
ब्रह्मजीव ते परे अलौकिक गुन भरे।।
भरे गुनगन दिव्य अद्भुत सकृदपि जो गाव ही।
ब्रह्म शिव सनकादि दुर्लभ प्रेम रस सो पाव ही।।
किंकरी ह्वै राधिका हरि सेय रास विलास री।
जय जय श्री हरिवंश के भजन प्रकास री।।२।।
जय जय श्री हरिवंश आत्मज गाइये।
(जय) श्री वृन्दावन वल्लभ सब सुख दाइये।।
सुन्दर शांत सुशील सदय करुणा भरे।
कोविद रसिक रसज्ञ जगत पर हित ढरे।।

ढरे पर हित कृपा मूरति चित्त कोमलता भर्‍यौ।
विजय वपु श्री व्यासनन्दन माहिली रस विस्तर्‍यौ।।
शरण शुक सनकादि जाचत कृपा बिनु क्यौं पाइयै।
जय जय श्री हरिवंश आत्मज गाइये।।३।।
जय जय श्री हरिवंश चन्द्र की किरन हैं।
(जय) श्री वृन्दावनवल्लभ अघतम हरन हैं।।
जे जन आये शरण अभय कर सिर धर्‍यौ।
शरणागत प्रतिपाल काल भ्रम भय हर्‍यौ।
हर्‍यौ भ्रम श्रमतम जनन कौ चरण निज परसाय कैं।
कुटिल कामी अधम जीवनि लिये सब अपनाय कैं।।
अलिभाव भावुक बहु किये ते विश्व पावन करन हैं।
जय जय श्री हरिवंश चंद्र की किरन हैं।।४।।
जय जय श्री हरिवंश बधाई हित भरी।
(जय) श्री वृन्दावन वल्लभ प्रगटे शुभ घरी।
संवत् ग्रह शर रतन चन्द्र सुखदाइये।
असित चतुरदशि माघ बधाई गाइये।।
गाइये गुन दिव्य नितनव वास निजुवन पाइये।
प्रिया प्रियतम केलि कमनी मगन मन दुलराइये।।
हित चतुर्भुजदास मंगल में लगी मंगल झरी।
जय जय श्री हरिवंश बधाई हित भरी।।५।।

बधाई

आजु बधाई हित रस दाई।
प्रगटै श्रीवृन्दावन वल्लभ जय जय जय ध्वनि त्रिभुवन छाई।।
भाग्य उदै भै रसिकनि के श्रीराधा किंकरि हितकुल जाई।
गावत द्विज वनिता मिल मंगल मधि निर्तत इक सुमुखि सुहाई।।
धरत सवासिन द्वारे सथिया कदली वंदन माल बंधाई।
आँगन चौक पुराय कलश धरि कीरति धुज नम लौ फहराई।।
जाचक सवै इन्द्र से कीन्हैं हित रस की चिंतामणि पाई।
वेदरिचा द्विज पढ़त मगन मन देत अशीसन हिय हरसाई।।
करि हैं धर्म प्रचार प्रचुर ये श्रीराधावल्लभ लाड़ लड़ाई।
मात तात उमगे सुनि विप्रनि मन वांछित दै आस पुराई।।
रसिक समूह छके दुलरावत हित आनंद की निधि यह आई।
गहक चतुर्भुज दास माहिली मंगलमयी बधाई गाई।।

-चतुर्भुज पाठक

।। श्री राधे ।।

पूज्य गुरूदेव श्री श्री १०८ श्री आचार्य वृन्दावन वल्लभजी गोस्वामी महाराज की पावन मधुर-स्मृति

रस-रीति बताने आए थे।
वसुधे, तेरी गोदी में श्री गोस्वामी आए थे
  हिताचार्य के विमलवंश में,
  प्रेम-भक्ति के रसिक अंश में,
  जगतीतल के निठुर-दंश में
रस-धार बहाने आए थे। वसुधे.......।।१।।

श्री युगलवल्लभ के दुलार थे,
प्रिया प्रियतम के प्रगट प्यार थे,
ब्रज जन जन के कण्ठ हार थे
नव प्यार जगाने आए थे। वसुधे....... ॥२॥
वृन्दावन की कुंज कुंज में,
भ्रमरावलि की गुंज गुंज में,
लता-द्रुमों के पुंज पुंज में
अनुराग लुटाने आए थे। वसुधे....... ॥३॥
भानुलली के चरण कमल पर,
नन्द नँदन के नयन-नलिन पर,
रवि-तनया की लोल लहर पर
मन-प्राण चढ़ाने आए थे। वसुधे....... ॥४॥
ब्रह्मसूत्र के सरस भाष्य थे,
उपनिषदों के विशद हास्य थे,
श्री गीता के तरल लास्य थे
नव गीत सुनाने आए थे। वसुधे....... ॥५॥
भागवत-रस के वे मराल थे,
"सुधानिधि" की तरंग-माल थे,
वृन्दावन के नव रसाल थे
रस-प्रीति चरवाने आए थे। वसुधे....... ॥६॥
गुरू नहीं गोविन्द रहे वह,
ज्ञान-भक्ति के इन्द्र रहे वह,
रस-मय प्रिय अरविन्द रहे वह
निज सुरभि बहाने आए थे। वसुधे....... ॥७॥

माता सी उनमें ममत थी,
प्रति सेवक के प्रति समता थी,
वसुधे, तेरी सी क्षमता थी
जग स्वर्ग बनाने आए थे। वसुधे.......॥८॥
हृत् तंत्री के तार सजाकर,
भक्ति-भाव से उन्हे बजाकर
श्री चरणों में उनके जाकर
ये मन-मधुकर मुसकाए थे। वसुधे.......॥९॥
कुंज-भवन को आज सिधारे,
व्यथित हुए हैं ये दृग तारे,
रो रोकर निशिदिन ये हैं हारे
फिर अश्रु-कलश भर लाए थे। वसुधे.......॥१०॥
प्रस्तुत हैं ये अक्षत-चन्दन,
चरणों में है आज समर्पण
शोकाकुल मन से अभिनन्दन
जो न कभी कुम्हलाए थे।
वसुधे तेरी गोद में श्री गोस्वमी आए थे ॥११॥

- कन्छेदीलाल गुप्त, गाडरवारा (म.प्र.)

राम रसिकावलि का 'अनुपम परबंध'

द्वादश यशकार महात्मा चतुर्भुजदास जी किस प्रकार वैष्णव निर्मोही अखाड़े की एक शाखा 'मान सरोवरिया थोक' के साधुओं की जमात लेकर लोक जीवन में वैष्णव सहज-भक्ति का प्रचार करते विचरते थे, इसका प्रमाण अनेक माध्यमों से मिलता है। राम रसिकावलि नामक पोथी भी इसे प्रमाणित करती है। 'श्री चतुर्भुजदासजी की कथा' में उनके साथ रहने वाले प्रमुख वैष्णव-साधुओं कों सूची दी गई है; उसे यहाँ उद्धत किया जा रहा है :-

दोहा - कहुँ चतुर्भुजदास को, यह अनुपम परबंध॥
श्रोता सुनहु सुजान सब, जानि कृष्ण सम्बन्ध ॥१॥
रह्यो शिष्य हरिवंश कौ, भजन करै दिन राति॥
राधारमण उपासना, प्रेम मग्न सब भांति ॥२॥
भक्त चरणरज शिर धरै, करै सदा सतसंग॥
रहै भक्त येते सदा, दास चतुर्भुज संग ॥३॥

कवित्त - वर्द्धमान[१] गंगल जी[२] नारायण भट्ट सीवा त्यों[३],
अधार जी[४] आशाधर[५] देवराज[६] है।
कढि हरिया दास[७] सोभूराम[८] ऊदाराम[९]
रामदास[१०] विमलनंद[११] जी रामराज[१२] है॥
श्यामदास[१३] सीहादास[१४] दलूदास[१५] पद्मदास[१६]।
मनोरथ जी[१७] रणदास[१८] चाचाराम[१९] भ्राज है॥
तैसहीं गुरु सवाई चाँदनदास[२०]
नापादास[२१] लक्ष्मण[२२] नफरदास[२३] सूर्यदास[२४] छाज है॥१॥
कुभदास[२५] खेमदास[२६] वैरागी भावनदास[२७]
विरही भरत[२८] हरकेश[२९] जी नफरदास[३०]॥

लुटेरादास[३१] हरि[३२] अयोध्यादास[३३] चक्रपाणि[३४]।।
त्यों त्रिलोकदास[३५] पुषरदीराम[३७] बिजुलीदास[३७]
उद्धवदास[३८] सोमदास[३९] भीमदास[४०] सोमनाथ,[४१]
विकोदास[४२] विशाखाजी[४३] गरगेश त्यों[४४] मुकुन्ददास।।[४५]
त्रिविक्रम जी[४६] रघुदास[४७] बाल्मीकि[४८] जगादास[४९]
झांझूराम[५०] हरिभूराम[५१] हरिदास[५२] वृद्ध व्यास[५३]।।२।।
लाखाराम[५४] छीतदास[५५] कपूरदास[५६] देवानन्द[५७],
नरहरिजी[५८] मुकुन्ददास[५९] हरिदास[६०] संतराम।।[६१]
नन्ददास[६२] विष्णुदास[६३] छीतमदास[६४] द्वारकादास[६५]
माधोदास[६६] भाडदास[६७] रूपादास६८ अभिराम।।[६९]
दामोदर दास[७०] नरहरि[७१] भगवानदास[७२] बालदास[७३]
कान्हदास[७४] केशवदास[७५] हतकाम[७६]।।
प्रागत्यो गोपालदास[७७] लोह गत्यो केशव जी[७८]
हरिनाथ[७९] भीमदास[८०] बालकृष्ण[८१] मतिधाम[८२]।।३।।

दोहा - ब्रह्मदास[२३] विद्यापतिहूं[२४], तैसहि भरत[२५] मुकुंद[२६]।।
दास बहोरन[८८] चतुरपुनि[८९] दास गोविंद-गोविंद[९०-९१]।।४।।
तथा बिहारीदास[९२] पुनि, गंगादास[९३] दयाल[९४]।।
लालदास[९५] भीषमपरम[९६] येते भक्त विशाल ।।५।।

-भक्तमाला राम रविकावलि पृष्ठांक ८०८

स्वामी चतुर्भुजदासजी

शिलालेख का एक प्रमाण

संवत् १६६० में स्वामी चतुर्भुजदासजी ने गढ़ा में भगवान मुरलीधरजी की स्थापना मन्दिर निर्माण द्वारा करायी। उस स्थान पर उपलब्ध शिलालेख उसे ऐतिहासिक घटना पर प्रकाश डालता है। शिलालेख पर आलेखित सामग्री यहाँ उद्धत की जा रही है :-

卐 卐

जयति श्री हित हरि वंश
अयं देवालयः श्री वंशी
धर स्यास्ति अमु श्री
स्वामिना चतुर्भुज दास
नाम्ना विरचायित्वा गंगा सा
गरस्य गढ़ा ग्राम स्थानेऽस्य
समीचीना चल्प्रतिष्ठा
कृता अस्थापनादिष्ट :
श्री बि. शुभ सं. १६६० प्र
मिते गताब्दे भाद्रपद
मासस्य शुक्लाष्टम्या इति

यह शिला लेख उस मंदिर में मिला है जिसमें भगवान मुरलीधर की प्रतिमा स्वामी चतुर्भुजदासजी द्वारा भाद्रपद शुक्ल अष्टमी (श्री राधाष्टमी महोत्सव) संवत् १६६० को स्थापित की गई थी। यह स्थान उसी समय से 'पचमठा' के नाम से प्रसिद्ध है तथा स्वामीजी द्वारा संस्कृत विद्या के प्रचार के लिए एक विद्यापीठ की भी स्थापना यहाँ हुई थी। इसलिए गढ़ा को लघुकाशी भी कहते थे। कहते हैं वहाँ

स्वामी चतुर्भुजदासजी महाराज
सेव्य ठाकुर श्री मुरली मनोहरजी महाराज
पचमठा मंदिर, गढ़ा, जबलपुर (म.प्र.)

उन दिनों लगभग सात सौ विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करते थे। गोंड राजाओं के द्वारा उस विद्यापीठ का संचालन और व्यवस्था होती थी। भिन्न-भिन्न राजाओं के द्वारा पूजन आदि की सुचारु व्यवस्था थी। कहा जाता है कि जब सन् १६८७ के लगभग दिल्ली के बादशाह की सेना दक्षिणी राज्यों का दमन करने पहुँची तो अनेक चमत्कारों से श्री मुरलीधर युगल ने तोड़-फोड़ से इस स्थान की रक्षा की। जब गुरुचरण गोस्वामी वृन्दावन वल्लभ जी महाराज १९५८ में जबलपुर पधारे तब इस स्थल के जीर्णोद्धार और पूर्व की भाँति सेवा-विधि की शुरूवात के लिये उन्होंने पहल की।

श्री स्वामी चतुर्भुजदास

(प्राचीन चरित - ग्रन्थों में)

श्रीहरिवंश चरण बल चतुर्भुज गोंड देस तीरथ कियौ।
गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व दृढ़ायौ।
राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ।।
मुरलीधर की छाप कवित अति ही निरदूषन।
भक्तनि की अंघ्रिरेनु वहै धारी सिर भूषन।।
सतसंग महा आनंद में प्रेम रहत भींज्यौ हियौ।
श्रीहरिवंश चरन बल चतुर्भुज गोंड देस तीरथ कियौ।।

-भक्तमालकार श्रीनाभा स्वामी जी

•

गोंडवाना देस भक्ति लेसहूँ न देख्यौ कहूँ;
मानुस कौं मारि इष्टदेव कौं चढ़ायौ है।
तहाँ जाइ देवता के मंत्र लै सुनायौ कान;
लियौ उन मानि गाँव सुपन सुनायौ है।।
स्वामी श्रीचतुर्भुज जू के बेगि तुम दास होहु,
ना तौ नास होइ सब गाँव भज्यौ आयौ है।
ऐसे शिष्य किये माला-कंठी पाइ जिये,
पाँव लिये, मन दिये, औ अनंत सुख पायौ है।।१।।
भोग लै लगावैं नाना संतनि लड़ावैं, कथा-
भागवत गावैं भाव-भक्ति विसतारियै।
भज्यो धन लैकें कोऊ धनी पाछैं पर्‌यौ सोऊ,

आनिकैं दबायो, बैठि रह्यो न निहारियै।।
निकसी पुरान बात, करै नयौ गात दिक्षा,
सिक्षा सुनि शिष्य भयौ, गह्यौ यौं पुकारियै।
कहै 'या जनम में न लियो कछु दियो फारौ-
हाथ लै उबार्‌यौ प्रभु, रीति लागी प्यारियै।।२।।
राजा झूठ मानि कह्यौ करौ बिनु प्रान याकौ,
साधु ये विराजमान लै कलंक दियौ है।
चले ठौर मारिबे कौं धारिबे कौं सकै कैसे,
नैन भरि आये नीर बोल्यौ धन लियै है।।
कहै नृप "साँचो ह्वै कैं झूठौ जिनि हूजै संत,
महिमा अनंत कही स्वामी ऐसैं कियौ है।"
भूप सुनि आयौ, उपदेस मन भायौ, शिष्य-
भयौ, नयौ तनु पायौ भींजि गयौ हियौ है।।३।।
पकि रह्यौ खेत संत आइ कर तोरि लेत,
जिते रखवारे मुख सेत सोर कर्‌यो है।
कह्यौ स्वामी नाम, सुन्यौ कही "बड़ौ काम-
भयौ यह तौ हमारौ" सोई आपु सुनि लियौ है।।
लैकै मिष्टान्न आइ सुमुख बखान कीनौं,
"लीनौं अपनाइ आज भींज्यौ मेरौ हियौ है।"
लै गये लिबाइ नाना भोजन कराइ भक्ति-
चरचा चलाइ चाइ हित रस पियौ है ।।४।।

-श्री प्रियादास, भक्ति रस बोधिनी टीकाकार
(भक्तमाला टीका, कवित्त)

दोहा - चरन कमल हरिवंश बल, बनमाली गुरु आस।
गोंड देस पावन कियौ रसिक चतुर्भुज दास ।।

श्री हरिवंश धर्म उर धार्‌यौ । चत्रभुज गोंड देश उद्धार्‌यौ।।

चरनन परसत वार न लागी । (श्री) राधावल्लभ में मति पागी ।।
इष्ट प्रताप प्रकासित भयौ । प्रगट भयौ जग में जस छयौ ।।
संत प्रताप सनेह बढ़ायौ । परम पुनीत सुमंगल छायौ ।।
धर्म विचार सुपृथक सुनायौ । सिक्षा सकल समाज बतायौ ।।
भक्ति-प्रताप अरु सन्त-प्रताप । सिक्षा सारजु कह्यौ अलाप ।।
पतित पावन जस हित उपदेस । जस मोहिनी अनन्य उपदेस ।।
श्री राधा प्रताप सुठि भाख्यौ । हितहरि वंश-चरनचिराख्यौ ।।
पंडित बहुत रहत हैं संग । थापत भक्ति अनन्य अभंग ।।
माला तिलक प्रताप बखान्यौ। चरनोदक प्रसाद मन मान्यौ ।।
(श्री) राधाबल्लभ जीवन-मूरि । हरष शोक दुख-सुख सों दूरि ।।
मुरलीधरन छाप कविता में । श्रुति स्मृति कौ सार है जामें ।।
प्रभु उत्सव करैं सबते अगरौ । आवै द्रव्य लुटावैं सगरौ ।।
नगर माँझ भयौ जै जै कार । विमुखनि के उर उठ्यौ विकार ।।

दोहा - 'भगवत' जिन उर नित बसैं, राधा वल्लभ लाल।
तिनकौं ये परसैं नहीं, दुख-सुख माया
जाल ।।

अब सुनि चत्रभुज के जु चरित्र । तन-मन जातें होंइ पवित्र ।।
गोंड देस ठौर इक रहै । बाग एक भूत बहु दहै ।।
बड़्ड़े प्रेतन कौ दृढ़ वास । छलैं तिनहिं जे आवैं पास ।।
खेती कोऊ करन न पावैं । मारैं बैलनि खेत नसावैं ।।
नर-नारी बालकनि जु मारैं । महा प्रेत दुख देत न हारैं ।।
द्वै सै संत संग मुरलीधर । करमठ सठनि के जु घालक घर ।।
चाहैं कहूँ ठौर होइ नीकी । सेवा पाक करैं प्रभुजी की ।।

विमुख जननि हँसि जुक्ति उपाई । चत्रभुज कौं वह ठौर बताई ।।
बाग बड़ौ छाया तुम लायक । सबही संतति कौं सुखदायक ।।
जे जे साधु मण्डली आवैं । वाही ठौर बहुत सुख पावैं ।।
महा इकांत फूल-फल पावहु । मग्न होय तहां हरि गुन गावहु ।।
सुनतहि स्वामी भये प्रसन्न । भली बताई ठाँ तुम धन्य ।।
हमकौं सकुच लगत तुम पास । हरिजन सुखी इकौसे वास ।।
पहिलैं तै सब सन्त पधारे । चौका आसन स्वच्छ सुधारे ।।
तब मुरलीधर जू पधराये । आम तरैं रचि मंडप छाये ।।
सिंहासन विस्तार जु कीनौं । सेवा करि चणोदक लीनौं ।।
और भूत तौ खेलन गये । तीस प्रेत रखवारे छाये ।।
आरति निरखि सु इन गति पाई। भये कृतारथ बार न लाई ।।
आये बेऊ गये जु सारे । उनि सँग धर्म दूत रखवारे ।।
जब काहू के प्रानहिं हरैं । प्रेतनि में व्है ते संचरैं ।।
प्रेत कहैं हम दरसन लैहिं । जम गन ढिंग आवन नहिं दैहीं ।।
हाहाकार शब्द उन कीनौं । बोलि चतुर्भुज सब कौं लीनौ ।।
तुम हौ कौन सोर क्यौं करौ। कहि हैं सुनहु दुःख जो हरौ।
मरि-मरि धर्मराज कैं गये। कर्मनि बस जु प्रेत हम भये ।।
हमकौं जम यह ठौर बताई । सो तुम अबही लई छुड़ाई ।।
रखबारे किरतारथ करे । हम ही पाप जोनि में परे ।।
प्रभु हम पर जु दया विस्तरौ। नरक परे तिनकौं उद्धरौ ।।
जो तुम्हरौ चरणोदक पावैं । होहिं कृतारथ बार न लावैं ।।
हम तुम निकट न आवन पावैं । जो तुमकौं वृत्तान्त सुनावैं ।।
प्रभु इक गढ़हा बड़ौ खुदाबहु । सब संतनि के चरन धुवाबहु ।।
पुनि अपनौं चरणोदक डारहु । तौ सब प्रेतनि कौं उद्धारहु ।।

पिछली रात सबै हम ऐहैं। वह जल लेत परमपद पैहैं।।
इहिं विधिहम किरतारथ ह्वै हैं। ये जमदूत सबै घर जैहैं।।
सुनि उनकी तहाँ बासौ दोनौं । सोई उपाय चतुर्भुज कीनौं।।
पद-जल लै किरतारथ भये । धर्मदूत दौरे घर गये।।
उनि जम सौं सब कथा सुनाई। भूत तरे भव भक्ति बढ़ाई।।
दूरि रहे हम हरि भरमाये । अपराधी ढिंग जान न पाये।।
धर्मराज हू गन समझाये । तुम हरि-भक्तनि देखि न पाये।।
तुम्हरे रहै पाप चढ़ि सीसैं । तातें प्रभु के भक्त न दीसैं।।
गये निकट बिनु भाग्य न पावै । इहिविधि जम दूतनि समुझावै।।
प्रेत-भाग तें हरिजन आये । दरसन पुनि चरणोदक पाये।।
हरि-भक्तनि की महिमा ऐसी । मो पै कही परत नहिं तैसी।।
इतनि बात ह्याँ क्यौं करि जानी । बिनु पुरान कहि कौने मानी।।
ताकी कथा सुनहु मन लाई । जातें सब संदेह नसाई।।
एक विप्र कौं जमगन रोखैं । लै गए नरक और के धोखैं।।
वाकी आयु न पूरन भई । धर्मराज फिर आज्ञा दई।।
याकी देह न बिनसन पावै । बेगि जाहु ज्यौं आयु बितावै।।
शव कौं लोग जरावन लाग्यौ । उठ्यौ चिता तें सोवत जाग्यौ।।
इन द्विज प्रेतनिहू की कथा । सुनी तहाँ जमगन मुख जथा।।
सो सब नगर-बगर नर-नारी । पूछैं कहैं सो कौतुक भारी।।
सकल प्रजा स्वामी पै आई । नाना दर्व भेंट बहु ल्याई।।
लोगनि राजा सौं जु सुनायौ। सो स्वामी के दरसन आयौ।।
भेंट भाव सौं विनती करी । ताहू कौं जु भक्ति संचरी।।
राजा भक्त भयौ जु अनन्य । त्यौंही प्रजा भई सब धन्य।।
तबतें बाग माँझ सब रहैं । रात-द्यौस कछु संक न गहैं।।

दोहा - 'भगवत' चत्रभुत चरन जल, लै लै तरै जु भूत ।
बिना कृपा खाली गये, धर्मराज के दूत।।

और सुनौं चत्रभुज की बातें । अन्तःकरन सुद्ध होइ जातें।।
गढ़हा देस सुदेशम (?) गाऊँ । भक्त निवास करैं तिहिं ठाऊँ।।
तहाँ चत्रभुज सहित समाज । विचरत भक्ति प्रवर्तन काज।।
नगर एक तहाँ सेवक भले । श्रीहरिवंश-धर्म-मग चले।।
चार महीना वर्षा काल । स्वामी पधराये निज भाल।।
कथा-कीरतन निसि-दिन भावै । विमुखनिहूँ कैं रुचि उपजावै।।
एक द्यौस इक चोर जु नामी । सबकौं दुखद रु उतपथ-गामी।।
साह जु एक हाट तें चल्यौ । ताकौं देखि चोर कलमल्यौ।।
थैली तकी कंध पर जाके। लै कैं भग्यौ चोट दै वाके।।
सोर कियौ तिन, जन जुरिआये । राज-लोग तिहिं पाछैं धाये।।
दब्यौ चोर बहु जीव छिपावै । इत-उत तकै शरन नहिं पावै।।
तहाँ चतुर्भुज की जु मंडली । तामें कथा होति अति भली।।
चोर भग्यौ चलि आयौ जहाँ । वाकौं बुद्धि फुरी इक तहाँ।।
झटपट खोलि मिल्यौ साधुनि में । थैली आगे दाबि वसन में।।
पीछे भगे लोग बहु आए । देखि सभासद आप लजाये।।
इत-उत ढूढ़ि-ढाँढ़ि फिरि आवैं । या थल बिनु कहुँ खोज न पावैं।
भक्त-तेज डर कछु नहिं कहैं। सोचि-सकुचि निज मारग गहैं।।
कथा-प्रसंग सु पूरन भये । अपु-अपने आसन जन गए।।
कथा माँझ यह भयौ प्रसंग । हरि गुरु शरनैं पलटत अंग।।
कोटि जन्म के पाप पहार । शरणाये जरि होत जु छार।।
इहि, परलोक, द्वीप पुनि खंड । ताहि न कोऊ दे सकै दंड।।
जम डरपै, राजा इहि लोक । हरिजन कौं कोउ सकै न टोक।।

जा दिन गुरु को पाछौ लयौ । प्राकृत तैं अप्राकृत भयौ।।
ये सब कथा चोर ने सुनी । भाग जगे कछु मन दै गुनी।।
लखि एकांत चत्रभुत जहाँ। चोर नमित ह्वै आयौ तहाँ।।
पाँइ परसि स्वामी सों, बोल्यौ । उर कौ कपट कपाट जु खोल्यौ।।
अपनौ सब, विरतान्त सुनायौ। कह्यौ अबै तब शरनै आयौ।।
स्वामीजी तुम कथा सुनाई । सो यों हो है कहि समुझाई।।
जो मैं अबही पाप कमायौ । पाछें हरि गुरु सरनैं आयौ।।
सो तुम कही जनम भयौ और । निर्भय ह्वै विचरौ सब ठौर ।।
तव बचननि विश्वास जु आयौ । सिर कर धरौ करौ, मन भायौ।।
तब स्वामी ने भद्र करायौ । न्हाइ तिलक निज भेष बनायौ।।
शिक्षा दै कैं नाम सुनायौ । तब कुकर्म करिबौ जु छुड़ायौ।।
बिचरन लग्यौ करैं विश्वास । गुरु-गोविन्द की सांची आस।।
ढूंढ़त वह जाकौ धन लियौ । पहिचान्यौ, गहि अपुबस कियौ।।
पकरि लै गए राजा पास । नये भक्त कैं हिये हुलास।।
रोवै साह रु करै पुकार । हरे रुपैया एक हजार ।।
कालि सबन के देखत लीन्हें । आजु स्वांग धरि ढापत चीन्हें।।

दोहा - राज सभा में कहत यह, देह धरि कछु न लीन ।
और जनम ऐसे बहुत, किये कर्म मैं हीन ।।

यह ऐसैं वह वैसैं कहै । न्याव न चुकै भेद को लहै।।
राजा के बाढ्यौ सन्देह । साँचौ है तो फारौ लेहु।।
इनहूं फारौ लैन्यौ कह्यौ । कौतुक देखन जग उमह्यौ।।
पहिले हाथन सूत लपैट्यौ । घृत-जुत पीपर-पात चपैट्यौ।।
तापर लाल कुसौ करि धर्‍यौ। इन गुरु-बचननि सुमिरन कर्‍यौ।।
जो प्रभु जन्म भयौ पुनि मेरौ । सब तजि शरण गह्यौ है तेरो।।

यह कहि लियौ हाथ पर फारौ । सात पैंड चलि डार्‌यौ न्यारौ।।
फिरि उततै इत लै चलि आयौ । पातहु जर्‌यौ न परचौ पायौ।।
हाथ सूत दल नैंकु न जरे । शाह के हाथ फफोला परे।।
तापर राजा बहुत रिसायौ । मारौ याहि जु साधु सतायौ।।
साधु कही याकौं जिन मारौ । यह साँचौ है मैं हूं न्यारौ।।
राजा कहै न्याव प्रभुकीनों। ताकौं दुख वृथा इन दीनों।।
राजा चल स्वामी पै आये । चारौ बरन दरश कौं धाये।।
तब इन सब बिरतान्त बखान्यौ। राज सभा जुत अचिरज मान्यौ।।
चरचा करि कैं होंहि प्रसन्न । राजा परजा भये अनन्य।।
घर-घर हरि-गुरु सेवा-पूजा । जुगल इष्ट विन और न दूजा।।

दोहा - 'भगवत' पारस परस तें, लोह कनक ह्वै जात।
चत्रभुज के संग चोर त्यौं, पलट्यौ प्राकृत गात।।

अब सुनि और बात अति आछी । ताके संत महत-जन साछी।।
तब स्वामी बिचरे वह देश । विमुखन कौ धन लेहिं न लेश।।
मारग में जलकूप निहारें। काकौ दर्व लग्यौ सुविचारें।।
साकत-शैवजानि तजि दै हिं। विमुखन कौ जल-अन्न न लैंहिं।।
जो ससल्य की सत्ता जानैं । रहैं न तहाँ ते तुरत पलानैं।।
यह जस सुनै सु अचरज मानैं। अरु पुनि आपुन कौं घटि जानैं।।
ऐसे बहुत किए हरि - भक्त । श्री राधाबल्लभ सौं अनुरक्त।।
एक द्यौस इक नगर पधारे । सुन्दर थल बहु द्रुम हरियारे।।
देखि ठौर स्वामी ललचाये । स्वच्छ सरोवर मोर सुहाये।।
ह्वाँ देवी कौ पण्डा रहै । 'ह्याँ मति उतरौ' वह यों कहै।।

राजा चंडी पूजन ऐहै । भैंसा बकरन की बलि दैहै ।।
देवी बाकौं होत प्रतक्ष । तुम हू डरौ मानि मो सिक्ष ।।
तब तौ स्वामी नैंकु न टरे । शक्ति तहाँ डेरा निजु करे ।।
पण्डा कहि सुनि रहयौ खिसाई । हरि भक्तन सों कहा बसाई ।।
शक्ति-स्वरूप धर्या कहुँ न्यारौ । धोय लीपि थल स्वच्छ संवार्यौ ।।
ओर-पास फिरि गई कनात । पंडा बाहर ही बिल्लात ।।
दुख पावहि दुर्गाहि मनावै । मइया इनहिं जु हाथ लगावै ।।
सिंहासन मुरलीधर सोहै । तहँ दुर्गा रहि सकै सु कोहै ।।
प्रभु के तेज शक्ति थरहरी । प्रतिमा उड़ो बाहरी परी ।।
अरु देवी की सब सामग्री। उड़ि उड़ि परत बाहिरी सिगरी ।।
पंडा देवी के बल गाजै । सोई भक्त-डर घर तजि भाजै ।।
देवी कन्या के शिर आई । विथा आपनी कहि समुझाई ।।
भक्त-तेज हौं अति परजरौं । जहाँ प्रभु तहां जाऊँ नहिं, डरौं ।।
हौं न सकौं स्वामी ढिंग जाइ । पंडा तू करि एक उपाइ ।।
मेरी ओर तें करि यह विनती । करौ शिष्य मोहि भक्तनि गिनती ।।
तब स्वामी ने शक्ति बुलाई । देवी की आसय शुभ पाई ।।
दिक्षा दै पुनि शिक्षा कीनी । तिलक प्रसादी माला दीनी ।।
जिव-हिंसा अब ते मत करियौ । भक्तनि सौं अति रति उर धरियौ ।।
स्वामी कही सु देवी मानी । तब मुरलीधर के ढिंग आनी ।।
सात बरस की कन्या मुख ह्वै । शक्ति शिष्य भइ स्वामी पद छवै ।।
दिक्षा पंडा हू नैं लई । क्षुद्र आस जनमन की गई ।।
अब यह शक्ति वैष्णव भई । प्रथम नृपति कैं दिक्षा दई ।।
राजा सोवत हौ चित्रसारी । ताकी सिज्या औंधी मारी ।।
ता ऊपर आपुनि चढ़ि बैठी । तोहि निरवंश करन हौं पैठी ।।

नृपति कहै सुनि मैया मेरी । हम तौ सब अज्ञा में तेरी।।
क्यों बिनु चूक हमैं संघारौ । कहौ सु करौं जु जीव उबारौ।।
देवी कहै भक्त मैं भई । चत्रभुज की दिक्षा है लई ।।
तू कुल-सहित शिष्य चलि होहु । तजि कुटुम्ब सौं ममता मोहु।।
मेरे निमित जीव-बलि दैहै । ताकौ खरा-खोज अब जैहै।।
घर-घर भक्ति करावहि प्रेम । तो करिहौं तोकौं शुभ-क्षेम।।
राजा के मन में दृढ़ आयौ । तब देवी ने मरत जिवायौ।।
नगर माँझं डोंड़ी फिरवावहु । मोहि नारियर भेंट चढ़ावहु।।
कही नृपति कीनी परमान । देवी व्है गई अन्तर्धान।।
जो कोऊ मूढ़ जीव कों मारै । ता के कुलहि तुरत संघारे ।।
अजहूं यहै रीति है उहाँ । चत्रभुज कै परबोध जु तहाँ।।

'भगवत' महिमा भक्त की, चत्रभुज करी प्रकास।
तुच्छ किये साधन सकल, जुगल-चरन विश्वास।
-श्री भगवत मुदित जी

●

परम भागवत अति भये, भजन माँहि दृढ़ धीर।
चतुर्भुज वैष्णव दास की, वानी अति गंभीर।।
सकल देश पावन कियौ, भगवत यशहिं बढ़ाइ।
जहाँ-तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लड़ाइ।।
-श्री हित ध्रुवदास जी
'भक्त नामावलि', (बयालीस लीला से)

गोंड देश परवेश भूप किय आज्ञाकारी।
देवी दै उपदेश भूत जोगिन सब तारी।।
'द्वादश यश' हरि धर्म कथन कीयौ सर्वोपर
प्रभु दासन के दास सेव्य राधा-मुरलीधर।।
श्री हरिवंश प्रसाद तैं भक्ति विस्तरी चत्रभुज।।
जुगल-चरित हित चित रमैं गोपी धर्म अनन्य धुज।।

ब्रज-साहित्य सम्राट् चाचा हित वृन्दावनदास
(रसिक अनन्य परचावलि से)

कियो गोंड देश पावन सकल।
धर्म अनन्य धारि मन क्रम बच चत्रभुज श्री हरिवंश बल।।
शक्ति भक्ति बल जिन उपदेसी तारे भूत अनन्त थल।
माला तिलक इष्ट सम सेयो मुरलीधर प्रभु छाप भल।।
द्वादश यश हरि हरिजन महिमा कथ्यौ उधारन महीतल।
अगनित विमुख किये हरि सन्मुख जिन गंज्यौ पाखंड दल गुरु
वनचंद कृपा कौ भाजन भक्ति तेज कियौ नास छल।।
वृन्दावन हित रूप जाऊँ बलि युगल रहसि पायौ सुफल।।

-ब्रज साहित्य सम्राट् चाचा हित वृन्दावन दास
श्री भक्त प्रसाद वेली, ९६

●

(श्री) वनमाली गुरु आस वास वन गृह तजि आये।
मुरलीधर सिर धारि सन्त सम लाड़ लड़ाये।।
गोंड देश कियौ भक्त, प्रेत, देवी, नृप माने।
चोर वेष भयौ साह दित सब सन्त बखाने।।

व्यास सुवन सन्तत बसे हिये निरमले नीर।
सुनौ चतुर्भुज जस गिरा द्वादश विमल गंभीर॥

-श्री गोविन्द अलि कृत श्री अनन्य रसिक गाथा, ५८

●

स्मृति पुरान छाँनि भक्ति-भाव काढ्यौ कन--
चतुर्भुजस्वामी जू ने 'द्वादश यश' गाये हैं।
तिनही की अनुगति व्है सुमति मिलाई निजु--
कर्म धर्म थोथे सब फटकि उड़ाये हैं॥
काहू देव सों न काम, सेवा हू न सालिगराम--
ग्यास-उपवासहू न, नित्य प्रसाद पाये हैं।
हरि जू ने निजानन्द-प्रेम रस-सार सचु--
राधा रचि ध्याये, सो 'सब सुख' दरसाये हैं॥

--स्वामी श्री सर्वसुखदासजी

● ●

'पोत के खिवैया सन्त'

एक-एक अक्षर की महिमा अनेक भांति,
वेद रु पुरान सब कृष्ण नाम गायौ है।
सो तो अनन्त नाम कैसे कै बखान करौं,
वदन हजार शेष पार हू न पायौ है॥
वल्लभ युगल हित', पोत के खिवैया सन्त,
इनकी दया तैं मेरो मन उफनायौ है।
जो कछु बुधि सो तो कर लीजे सुद्ध,
चाह करि बौना जु अकास फल लायौ है॥

-आचार्य युगल वल्लभ गोस्वामी

ऊपर का कवित्त, द्वादश-यश की महती टीका करते हुए ग्रन्थ के पांचवें 'शिक्षा सार यश' के अन्त में गोस्वामिचरण आचार्य श्री युगलवल्लभ महाराज 'निर्मोही' ने स्वयं लिखा है। सन्त वाणीकारों की महिमा दर्शित करते, जिसमें उनका यहाँ संकेत द्वादश-यश-कार स्वामी चतुर्भुजदासजी से भी है; वे कहते हैं कि जीवनरूपी जो एक विशाल जहाज इस प्रापंचिक जगत को पार करने के लिए है उसके मल्लाह तो स्वयं सन्त होते हैं। उन्हीं सन्त महानुभावों की कृपा से इस ग्रन्थ पर यह भाष्य तैयार करने के हेतु मेरा मन उमड़कर आगे आया है।

द्वादश-यश, काव्य ग्रन्थ का तो एक-एक अक्षर भी महिमा-मण्डित है। उसमें पाया जाने वाला कृष्ण-नाम भी तो सकल वेद-पुराणों में भरा पड़ा है। ऐसे नाम का ओर-छोर तो स्वयं भगवान् शेषनाग भी नहीं पा रहे, फिर इस अनन्त कृष्ण नाम का वर्णन मैं कैसे कर सकता हूँ। अन्त में अपने स्वयं की लघुता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि फिर भी अपनी बुद्धि से जो कुछ प्रकट कर सका हूँ उसे शुद्ध करके सभी अपने लिए ग्राह्य बनावें। इसमें मेरा विनियोग तो नगण्य है क्योंकि स्वयं एक बौना-सा आदमी होकर भी आकाश-फल तोड़कर लाने की धृष्टता मैंने की है। ऐसा तो वे सन्त ही कर सकते हैं जिन्हें कृष्ण-नाम सिद्ध हो गया है।

द्वादश - यश

श्री राधावल्लभो जयति श्रीहित हरिवंश चन्द्रो जयति

श्री स्वामी चतुर्भुजदास प्रणीत

द्वादश यश

मंगलाचरण

नीलाम्भोज रुचिं सरोजनयनं पूर्णेन्दुमुग्धाननं,
कर्णालंकृत कुण्डलादि विशदं वृन्दैः सदा वन्दितम्।
गोपीमण्डल मण्डितं मुरलिकामापूरयन्तं मुदा,
राधावल्लभमात्म प्रीति रसदं लीलानिधानं भजे॥

(यश सार बोध संजीवनी टीका)

जिनकी श्री-अङ्ग कान्ति उज्जवल नील-कमल की भांति है, जिनके नेत्र, कमल दल को और मुख-मण्डल पूर्णचन्द्र को भी लज्जित करता रहता है, विशद कुण्डलादि से जिनके कर्ण अलंकृत हैं, और जो सदैव देव-वृन्द से वन्दित हैं। गोपी-समूह से आवेष्ठित एवं मधुर मुरली-निनाद से समस्त चराचर को आपूरित-आनन्दित करते हुए, अपनी प्राण-प्रिया श्री वृषभानु-नंदिनी की प्रीति में निमग्न, ललित लीला निधान, श्रीराधावल्लभ मेरे एक मात्र भजनीय हैं।

(यह मंगलाचरण द्वादश-यश ग्रन्थ के आरम्भ की वन्दना है। श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी संस्कृत के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। मूल ग्रन्थ का प्रस्तु भाष्य तैयार करते निकुंजवासी आचार्य युगवल्लभजी गोस्वामी ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है कि द्वादश यश के रचनाकाल में भाषा (ब्रजभाषा) काव्य को संस्कृत में लिखकर बात की तुलना में अधिकृत नहीं माना जाता था। अतः स्वामी चतुर्भुजदास जी ने द्वादश-यश की अपनी रचना को कितने ही शास्त्र, पुराणों, वेदों और आगम ग्रन्थों के उद्धरण संकलित करके पुष्ट किया था। वही सम्भवतः 'तत्व बोध' नामक ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध है।)

प्रथम

शिक्षा सकल समाज यश

राग विलावल

श्री हरिवंश सुमिरि वर नामहि, अन्तरभूत सकल सुख जामहि।
(श्री) वनमालीदासहि शिर नाऊँ, शिक्षा सकल समाजहि गाऊँ ॥१॥
हौं मति (अति) हीन मीन की-सी गति, तजि जल आन सुपन (सुखनि)न कर रति।
यौं मम मन हरि जश लपटानौ, शुद्ध अशुद्ध कछू नाहिं जनौं।

सर्वोपरि और श्रेष्ठतम श्री हरिवंश नाम को हे मन! तू स्मरण कर वही हरिवंश हित स्वरूप से समस्त प्राणियों में वास करता हुआ सुख दे रहा है। या इस नाम का बारम्बार रटन करके जीव अपने अन्दर जागृति स्फुरित कर लेता है । तभी उस नाम में सम्पूर्ण सुखों का अनुभव होने लगता है । द्वादश यश रचयिता स्वामी श्री चतुर्भजदास श्री हिताचार्य प्रभु की वन्दना करके अपने मंत्रदाता गुरु श्री वनमाली दासजी (श्री हितप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचन्द्र महाप्रभु) को सिर झुकाकर प्रणाम कर सकल समाज को शिक्षादेने वाले प्रथम यश का वर्णन करते हैं । आगे अपनी दीनता प्रकट करते हुए आप कहते हैं कि मैं बुद्धि से हीन हूँ और आपके द्वार का दीन भिखारी हूँ । मेरी गति मछली से समान है क्योंकि वह जल को त्याग कर अन्य किसी से प्रीति नहीं करती; उसी प्रकार मैं भी आपकी वाणी रूपी सरिता में ही नित्य अवगाहन करता रहता हूँ। जैसा कि श्री सेवकजी ने भी कहा है-

श्री हरिवंश की बानी समुद्र कौ, मीन भयौ जु अगाध कलोलत।

मेरा मन भी इसी प्रकार हरि यश गान में लपट रहा है और क्या शुद्ध है; क्या अशुद्ध है--ऐसा कुछ ज्ञान या आभास मुझे नहीं है। अर्थात् मन इस तरह आसक्त है कि उसे छोड़ना ही नहीं चाहता।

ताते यह अपराध न मानहु, बालक सुत वैसी (की-सी) गति जानहु। वचन तोतरौ ताततहिं भावै, हरि जस ओट मोहि कहि आवै ॥३॥ पुनि सब सन्त जननि शिर नाऊँ, हौं अपनौ अपराध छिमाऊँ। जो कछु और पुराननि गाई, तुम पै सुनी सो मो कहि आई ॥४॥

क्या शुद्ध और क्या अशुद्ध ऐसी अपनी स्थिति हरिवंश गायन में सनी हुई होने के कारण ग्रन्थकार कहते हैं कि इसलिए मेरी इस स्थिति को मेरा अपराध नहीं मानना, क्योंकि यह बालक के समान गति है- जैसे एक बालक की तोतली बोली माता-पिता को भी प्यारी लगती है, उसी तरह भगवान के यश की ओट लेकर मैं भी तोतली बोली से कुछ कहना चाहता हूँ। आचार्यचरण व अपने गुरुजनों को प्रणाम कर, फिर सब महात्मओं को प्रणाम करते हुए मैं अपने इस अपराध के लिए क्षमा चाहता हूँ। जो भी कुछ मैं कह रहा हूँ वे सारी बाते पुराणों में पहले से ही गाई हुई हैं और आपके समान महापुरुषों ने गा-गा कर जो उपदेश मुझे दिया है उसी को मैं भी अपने शब्दों में आपके समक्ष निवेदन कर रहा हूँ।

कवि का भावार्थ यह है कि भगवान और उनके भक्तों का यश बहुत दुर्लभ और दुर्ज्ञेय है। भगवान तो स्वयं भक्तों के पीछे डोलते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है--

निरपेक्षं मुनिं शान्त निर्वैरं सम दर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्य पूयेयेत्यन्घ्रि रेणुभिः ॥ ११-१४-१६॥

अर्थात अपेक्षा रहित, मननशील, शांत स्वभाव वाले, बन्धन और मोक्ष के ज्ञाता, वैर रहित, समस्त जीवों को समान देखने वाले भक्तों के पीछे मैं इसलिए डोलता फिरता हूँ कि उनकी चरण रज उड़ कर मेरे शरीर और मेरे शरीर में रहने वाले विश्व को पवित्र करे। फिर श्रीमद्भागवत में कहा है--

साधवो हृदयं मह्यं साधुनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत् जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

अर्थात् साधु मेरे हृदय और मैं साधुओं का हृदय हूँ। मुझसे अन्य किसी को भी वे नहीं जानते । आशय यह है कि मुझमें लिप्त हो जाने के कारण शुद्धाशुद्ध के विचार से वे परे हो गये हैं। इसलिए ऐसे मेरा यश गायन करते रहनेवाले साधुजनों की महिमा वर्णन करने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है।

हरिजश सार सबनि महँ भाख्यौ, सो सुनि गुनि मैं उर धरि राख्यौ।
मैं न कह्यौ अपने मन भायौ, कृपा तुम्हारी ते कहि आयौ ।।५।।
बोले गुंग पंगु गिर नाकै, महा अन्ध सब जगतहि ताकै।
कृष्ण कृपा ते कहा न पावै, मो सो शठ औरहिं समुझावै ।।६।।

समस्त श्रृति स्मृतियों ने हरि-यश को ही सबका सार बताया है। भगवान ने स्वयं कहा भी है--

असार भूते संसारे सारमे तदजात्मज। भगवद्भक्त संगोहि हरि भक्तिः समिच्छतः।

हे ब्रह्मा के पुत्र! इस असार रूपी संसार में यही एक सार है कि भगवान के भक्तों की संगति से ही हरिभक्ति प्राप्त होती है। इस सार को सुन कर ही मैने इसे हृदय में धारण कर लिया और उसी सुने हुए को कहता हूँ; अपने मन से नहीं। वह भी आपकी कृपा से कहने की मुझे सामर्थ्य प्राप्त हुई है। आगे अपने ऊपर ऐसी कृपा की महत्ता बतलाते हुए ग्रन्थकार प्रकट करते हैं कि उनकी कृपा से गूंगा भाषण कर सकता है, अंधा दृश्य जगत को देख सकता हैं, --इस प्रकार कृष्ण कृपा से क्या नहीं हो सकता। फिर भी मेरे समान शठ कौन होगा जो औरों को तो समझाता है; पर खुद नहीं समझता। श्रीधर स्वामी जी ने कहा है--**मूकं करोति वाचालं पंगुलंघयते गिरिम्। यत्कृपातमहं वन्दे परमानन्द माधवम्।।**

अर्थात जो अपनी कृपा से गूंगे को वाचाल लंगड़े को पर्वत लंघा देते है; ऐसे परम आनंद के देने वाले माधव की मै वंदना करता हूँ।।

नाना श्रुति पुराण आगम अति, समुझें बिनु न होय हरि सौं रति।
आयसु सुपन साधु पहि पायौ, हरि जस तब भाषा करि गायौ॥७॥
कोटि कल्प जो अध अति कीन्हे, अन्तकाल हरि नामहि लीन्हे।
सो पुनीत उत्तम पद पावे, यह जस व्यास पुराननि गावै॥८॥

नाना प्रकार के वेद, पुराण , शास्त्र-तंत्र आदि समझे बिना भगवान में प्रीति नहीं होती, क्योकि सारे निगमागमों ने भी हरि नाम में रति को ही सारतत्व बताया है। पद्म-पुराण में कहां है-

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौनास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् कलियुग में हरि नाम ही मेरा जीवन है। इसके सिवाय और कोई गति है ही नहीं। इसी प्रकार गरुड़ पुराण में भी कहा है--

अन्तंगतोपिवेदानां सर्वशास्त्रार्थ वेद्यपि।
यो न सर्वेश्वरो भक्तस्तं विद्यात्पुरुषाधमम्॥

यदि कोई समस्त शास्त्रों के अर्थो को जानते हुई वेदों के अन्त को भी जानले परन्तु सर्वेश्वर भगवान को न जाने; ऐसे पुरुषों में उसे अधम जानना चाहिए । मुझे प्रभु ने प्रेरणा प्रदान की और स्वप्न में साधुजनों ने आज्ञा दी, तब सब जनों के उपकार के लिये हरि-यश का यह गायन किया। कोटि-कल्प तक किसी ने अतिशय पाप किए हों और यदि अपने अन्त समय में भी श्री हरि नाम का स्मरण किया तो भी उसे वह गति मिली जो मुनियों के लिये भी दुर्लभ मानी जाती है, ऐसा श्री वेदव्यासजी ने पुराणों में गाया है।

लोमश ऋषि नारद सौं भाखी, है पुराण वामन में साखी।
तरि गयो सुपच पुरन्दर पुर कौ, तातें अति पापी न होय भौ॥९॥
हरि उर आवै हरि-जस भावै, हरि-दासनि सों प्रीति बढ़ावै॥
हरि चरणनि भजि और न ध्यावै, ताको जस हरि आपुन गावै॥१०॥

श्री हरि नाम स्मरण का महात्म्य पुनः समझाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि ऊर्द्धरेता ब्रह्मचारी दीर्घजीवी लोमश ऋषि के पास जाकर ब्रह्माजी के पुत्र नारदजी ने प्रणाम करते हुए जो संभाषण किया वह वामन पुराण में दिया हुआ है। यह प्रसंग इस प्रकार है - नारद जी ने पूछा कि आपने इतनी लम्बी आयु भोग कर इस अवस्था में क्या सार पाया? तब लोमश ऋषि ने समझाया कि मुझे भली प्रकार वेद, पुराण और स्मृतियों का मनन करने पर 'हरि' नामक दो अक्षरों का नाम ही सर्वाति सार रूप में मिला--

यद्व्क्षरं नाम गिरेरितं सकृत् दिष्ट्यान्त काले तमधोक्षजं विभुम।
संदर्श्यचानन्द महोदधिंक्षणात् सौख्यं प्रदत्ते तदनश्वरं नृणाम्।।

जो अन्तकाल में दो अक्षर का 'हरि' नाम एक बार भी अपनी वाणी से लेता है उसे भगवान क्षण भर में अनश्वर आनन्द की निधि अर्थात् बैकुण्ठ का सुख दे डालते हैं।

अपने इस कथन के प्रमाण में लोमश ऋषि ने मनुष्य लोक में देव-गन्धर्वों में प्रसिद्ध जो वार्ता देखी, वह पाप-नाशिनी वार्ता दो अक्षरों के उच्चारण मात्र से पैदा हुई। प्रसिद्ध जम्बू द्वीप में भारत संज्ञा वाला एक पवित्र वर्ष है जहाँ पुरन्दरप्रस्थ (इन्द्रप्रस्थ) नामक नगर में एक वेश्यागामी श्वपच (भंगी) वास करता था। किसी ब्राह्मण का धन हरण करके उसने उसे उस वेश्या को दिया और उससे उत्पन्न अपनी कन्या पर मोहित होकर उसे भी पत्नी के रूप में रख लिया। पर निन्दा, कपट, पाप में सदा रत, पाप मति यह श्वपच सब प्रकार के पापों का घर या अड्डा बन गया था; पर मृत्यु के समय यमदूतों के भय से, हे हरि-हे हरि, हे गणिका मुझे बचाओ', कहते हुए वह चिल्लाने लगा और आतंकित होकर उसने अपने प्राण त्याग दिये। किन्तु हरि नाम स्मरण से उसे पापों से छुटकारा मिल गया। भगवान के दूतों ने आकर यमदूतों को रोक दिया और आनन्दित वैकुण्ठ धाम में ले जाकर उसे भगवान

के दर्शन करा दिए। कथा का महात्म्य यह है कि मनुष्य जीवन पर्यन्त उतने पाप नहीं करता जितनों को भस्मीभूत करने की क्षमता हरि नाम में है।

द्वादश-यश कार कहते हैं कि फिर भी जो मनुष्य हरि यश का गान करते हैं, जिन्हें भगवान का चिन्तवन सुखकर लगता है, जो हरि-भक्तों से प्रीत करते अर्थात् उनका संग करते--सत्संग करते हैं तथा जो श्री हरि के चरणारविन्द में अनन्य रूप से अपना मन लगाकर अन्य कोई ध्यान नहीं करते--उनके यश का गायन तो स्वयं श्री हरि करते हैं।

हरि बिन ब्राह्मण भयौ श्वपच सर । हरि भज श्वपच भयौ सर्वोपरि।
विधि कुल कर्म न मन महँ ध्यावै । हरि रटतनि हरि कण्ठ लगावै ।।११।।
विषतें पथ्य अरु मित्र होय अरि। धर्म अधर्म प्रसन्न सु जो हरि।।
तौ लगि तो यह गृह काराघर। रागादिक चोरनि को अति डर।।१२।।

वामन पुराण के लोमश ऋषि नारद संवाद का निष्कर्ष देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि हरि-भक्ति के बिना ब्राह्मण श्वपच के तुल्य और उसी हरि-भक्ति के द्वारा श्वपच ब्राह्मण तुल्य बन जाता है-- सर्वोपरि पदवी प्राप्त करता है। इस कारण विधि विधानों और कुल-कर्मों में अपने मन को न लगाकर हरि-नाम की रट लगाते रहना चाहिए। इससे भगवान स्वयं तुम्हें अपने हृदय से लगावेंगे। जो व्यक्ति भगवान की रट लगाते हैं उन्हें विष पथ्य बन जाता है, शत्रु मित्र बन जाता है और अधर्म धर्म बन जाता है। इसके विपरीत जो भगवत् विमुख हैं उनको यह घरही जेलखाना है और रागद्वेष आदि चोर ही उसे डराते रहते हैं। श्री सेवक जी ने कहा भी है--

हरिवंश नाम विसरै न छिन, श्री हरिवंश सहाय भल।
हरिवंश भरोसे भये निडर, नित गर्जत हरिवंश बल।।

श्रीमद् भागवत वाक्य भी है--

मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव,
भक्तानामनु गच्छन्ति मुक्तयः भुक्तिभि सहः।
अस्माकं बान्धवाः भक्ताः भक्तानां बान्धवाः वयम्,
अस्माकं गुरवो भक्ताः भक्तानां गुरवो वयम्॥

मेरे भक्त जिधर जाते हैं उधर ही हे राजन्! मैं भी जाता हूँ। मुक्तियाँ भुक्तियों के साथ भक्तों के पीछे डोलती रहती हैं। भक्त मेरे भाई-बन्धु हैं और भक्तों का बन्धु मैं हूँ। भक्त मेरे गुरु हैं और भक्तों का गुरु मैं हूँ।

तौ लग बँध्यौ मोह साँकरि करि, तो लग त्रिविध ताप मरिहै जरि।
श्याम चरन के शरणहि आवै, सब दुःख फिरि कैं सुखहि दिखावै॥१३॥
रसना (नासा) श्रवण नैन भटकावैं, आपु आपु कौं जित तित धावैं।
बहुत त्रिया ज्यों पतिहि नचावै, हरि भजतन ते सुखहि दिखावै॥१४॥

जब तक जीव मोह रूपी श्रृंखला में बँधा हुआ है तब तक वह तीनों तापों (अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव) में जलेगा। जब जीव आपकी शरण में आयेगा तभी उसके दुःख समूह नाश होंगे। भागवत में कहा है--

ताप त्रयेणामिहतस्य घोरे संतापमानस्य भवाध्वनीश।
पश्यामि नान्यच्छरणंतवांघ्रि द्वंद्वातपत्रादमृताभिवर्षात्॥

हे ईश तीन तापों से तपा हुआ जीव इस संसार मार्ग में दुःख भोगता है इसलिए मैं तो आपके चरण रूपी छत्र की अमृतमयी वर्षा के सिवा अन्य को नहीं देखता।

जीभ अपने स्वाद को खींचती है। कभी तृष्णा आदि अन्य इन्द्रियां खाल, पेट, कान, नाक आदि अपने-अपने विषयों की तरफ इस प्रकार खींचते हैं जैसे बहुत स्त्रियों वाले पति को उसकी स्त्रियां खींचती रहती हैं; इसलिये हरि भजन से ये सब दुःख दूर हो जाते हैं।

जस लग वित खरचै अति फूलै, अति अचार विद्याबल भूलै।

धन परिजन मद अति दुखदाई, भक्त भये फिर सब सुखदाई ।।१५।।
सोवे कहा विषय विष भोयौ, भक्ति बिना मानुष तन खोयौ।
लाज बड़ाई गुन चतुराई, कीरति मनों फाग में गाई ।।१६।।

यश के लिये संसारी जीव विवाह-सन्तानादिकों में बड़ी प्रसन्नता से खर्च करता है और मन में अपनी बड़ाई सुन बहुत ही प्रसन्न होकर फूलता है। यदि वह यह न भी करे तो सिखाने वाले उसे प्रोत्साहन देकर बढ़ावा देते हैं। इस प्रकार करने से उसे मद बढ़ जाता है। भागवत में कहा भी है--

विद्यामदो धन मदो तथैवाभिजनोमदः, एते मदा मदान्धानां त एवहि सतां दमाः।

विद्या का मद धन का मद, तथा जाति व मनुष्यों का मद अज्ञानी मदान्ध पुरुषों को ही होते हैं। साधुओं को तो यह सब दमन रूप में परिणत हो जाते हैं।

नीति में भी कहा है--

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेशां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीत मेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।

दुष्टों को विद्या विवाद के लिये, धन मद के लिये और बल-शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है। परन्तु साधुओं को यही वस्तुएँ विपरीत हो जाती हैं, जैसे विद्या ज्ञान के लिये, धन दान के लिये, और ताकत दूसरों की रक्षा के लिये होती है। श्री मद्‌भागवत् में भी कहा है कि जो मनुष्य अपने प्रिय विषयों का सेवन करते हैं, उनकी बुद्धि को सबसे बढ़ कर नष्ट करने वाला श्रीमद (धन-सम्पति का नशा) है। हिंसा आदि रजोगुणी कर्म और कुलीनता का अभिमान भी उससे बढ़कर बुद्धि भ्रामक नहीं है क्योंकि श्रीमद के साथ-साथ तो स्त्री, जुआ और मदिरा भी रहती है। ये सब प्रकार के मद ज्ञानियों को भी दुखदायी बन जाते हैं। जब गुरु-कृपा होगी तभी ये सब सुखदायी बन जावेंगे और भक्ति हृदय में आ जावेगी।

अब स्वामीजी अपने मन को सम्बोधित करके कहते हैं कि रे मन ; तू सो क्यों रहा है? मालूम होता है कि तुझे विषय विष का नशा चढ़ गया है इसीलिये तू बावरा हो रहा है। इसकी एक ही दवाई साधुता है। अष्टावक्रजी ने कहा है--

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ।।

यदि तू विषय रूपी विषों से मुक्ति पाना चाहता है तो इनको विष समान समझकर त्याग दे और क्षमा, सरलता, दया, सत्यता, सन्तोष जो अमृत समान है, इनका सेवन कर क्योंकि यह मनुष्य शरीर तू ने बिना भक्ति के व्यर्थ नष्ट कर डाला। 'स्फुट बानी जी में भी कहा है।

मानुष कौ तन पाय भजौ ब्रजनाथ कें, दर्वी लैकैं मूढ़ जरावत हाथ कौं। जै श्रीहित हरिवंश प्रपंच विषय रस मोह के, हरि हाँ बिनु कंचन क्यों चलै पचीसा लोह के।।

जौ लग कपट कपाट न उघरहिं, तौ लग विधि-निषेध नहिं डगरहि।
जौ लौं कनक कामिनी भावै, तो लौं कृष्ण न उर महि आवै।।१७।।
कोटिक कर्म धर्म करि आवै, विषय वासना चितहि नचावै
तीरथ पथ अवगाहत चाहत, हरि बिन मूढ़ पयारहि गाहत।।१८।।

अब इसका उपाय बतलाते है कि विषय-विष त्याग साधुता धारण कर, भक्ति में मन लगा और सत्संग रूपी जल से इस भक्ति-पौधे का सिंचन कर, तब यह बढ़ेगा और हृदय में जो कपट रूपी किवाड़ बंद है, इनको खोल अन्यथा तेरे हृदय में जो चोर घुसे हैं वह न भागेंगे। जब तक तुझे कनक (सुवर्ण) और कामिनी अच्छी लगती रहेगी; तब तक तेरे हृदय में भावना नहीं आवेगी। कहा भी है--

द्वि चक्रो भ्रमते लोके कनकः कामिनी तथा
उभयं यो परित्यागी द्वितीयो परमेश्वरः ।।

संसार में दो चक्र बड़ी तेजी और खूबी से घूम रहे हैं। एक तो सुवर्ण और दूसरी कामिनी। जो मनुष्य इन दोनों को त्यागकर चलता है, उसे दूसरा भगवान ही

समझना चाहिए। भागवत में कहा है--

लब्वा सुदुर्लभमिदं बहु संभवान्ते मानुष्यमर्थ दमनित्यमपीह धीरा :।
तूर्णं यतन्ति न पतेदनु मृत्यु यावन्निः श्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥

बहुत से जन्मों के बाद यह दुर्लभ मनुष्य शरीर पाकर इसे नश्वर जानकर धीर पुरुष जबतक मृत्यु नहीं आती तब तक विषयों को त्यागकर कल्याण के लिये प्रयत्न करते हैं आगे कहते हैं कि करोड़ो कर्म करने से भी विषय वासना नहीं छूटती । गीता में कहा भी है-

विषया : विनिवर्त्तन्ते निराहारास्य देहिनः, रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं द्रृष्ट्वा निवर्तते॥

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को न ग्रहण करने (निराहार व्रत करने) वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु राग नहीं निवृत्त होता। परन्तु भगवान की भक्ति से परमात्मा को साक्षात् करने से उसका राग भी दूर हो जाता है। तीर्थ यात्रा व स्नान, व्रत, ज्ञानादि से यदि चाहे कि कल्याण हो; वह अज्ञानी हरि बिना गति नहीं पा सकता जैसे पयार को कूटने से चावल नहीं मिलता; हरि भक्ति बिना सब साधन इसी प्रकार हैं।

कामधेनु तज अजा बिसाहै, सुरद्रुम छाँड़ि बहेरौ चाहै।
केशर तजि क्वेला तन राचै, हरि तज-मूढ़ आन यौं जाँचै॥१९॥
औगुनि गिरि सम मन नहिं आनहि, गुन तिल सम सुमेर सम मानहिं।
कपटी चतुरन सौं चतुराई, सर्वसु बकसत प्रीति भुराई॥२०॥

भक्ति रूपी कामधेनु को त्यागकर सब साधन रूपी जोबकरी है उसे मोल खरीद कर लाता है, कल्पवृक्ष के पेड़ को छोड़कर बहेड़े के वृक्ष के नीचे वास करता है, केशर को त्यागकर कोयला शरीर पर मलता है वैसे ही अज्ञानी मनुष्य भगवान की

भक्ति त्याग कर कर्म, धर्मआदि साधन तथा सब देवताओं से याचना करता है। इसका सिद्धान्त काशी खण्ड में कहा है--

सकर्ता सर्व धर्माणां भक्तोयस्तव केशवः। सकर्ता सर्व पापानां यो न भक्तस्तवाच्युत॥

हे केशव ! जो आपका भक्त है वही सब कर्मों का कर्ता है और हे अच्युत! जो अभक्त है वही सब पापों का कर्ता है। अर्थात् जिसने भगवान की भक्ति करली उसने समस्त कर्म कर लिये और जिसने भक्ति नहीं की उसने सम्पूर्ण पाप कर लिये, ऐसा जानना चाहिये।

वह अपने अवगुणों को नहीं विचारता चाहे पर्वत के समान ही क्यों न हो। औरो के व सन्तों के थोड़े से भी अवगुण देखकर उन्हें पर्वत के समान मानता है, और अपने तिल समान गुणों को सुमेरू समान तथा भक्ती के पर्वत समान गुणों को तिल समान मानता है। भागवत में कहा है-

दोषान्यरेषांहि गुणेषु साधवी गृह्णन्ति केचिन्नभवा द्रशाः द्विजा ः।
गुणाश्च फग्लून् बहुली करिश्नवो महत्तमास्तेष्वविदद्भवानघ॥

अन्य के दोषों को साधुगण शिक्षा ही मानते हैं; दुष्ट नहीं, और साधू थोड़े से गुण को भी बहुत मानते हैं। परन्तु दुष्ट जन गुणों में भी अवगुण खोजते हैं। महात्माओं में भी अपराध का आरोपण करते हैं। कपट युक्त चतुरों से चतुराई करतें हैं और अपना भोलापन दिखाते हुए सर्वस्व अर्पण करते हैं।

क्रोध मरै जब रिपु को मारै, अरु दारिद्र काम को जारै॥
लोभ मरै सन्तोष सँभारे, नित अति बढ़त न पहुंचत पारै॥२१॥

क्रोध तब नष्ट होता है जब कोई शत्रु नहीं रहता या शत्रु के मारने पर ही क्रोध शान्त होता है। यहां बाहर के रिपुओं की तो क्या शरीर के अन्दर ही षड् रिपु वास

करते हैं, जैसे नासिका गन्ध, जिव्हा रस, नेत्र रूप, त्वचा स्पर्श, श्रोत्र शब्द, और मन-इन शत्रुओं को जीतने परही क्रोध नष्ट होता है। दरिद्र के पास काम नहीं आता। हृदय में सन्तोष धारण करने से लोभ नष्ट हो जाता है। ये षड् ऊर्मियाँ शरीर में बढ़ती-घटती रहती हैं। इसलिये मनुष्य इस संसार को पार नहीं कर सकता।

हारिलि भूलि न चरण धरत धर, अरु टिटहरी न चढ़त रूख पर।
पशु पच्छी सुर आयुस मानै; नर शठ सुनत न मन में आनै।।२२।।
नीर सात सागर में जेतो, जननी पय प्यायौ जब (है) ए (ते) तो।
गिरवर सम सब अन्न नसायौ, भरत खण्ड तब नर तन पायौ।।२३।।

हरियल पक्षी भूल कर भी भूमि पर पैर नहीं रखता और टटहरी कभी वृक्ष पर नहीं चढ़ती। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, तारागण सब प्रभु की आज्ञा का पालन करते हैं परन्तु इस शठ मनुष्य ने कथा-वार्ताओं में भगवत् महिमा तथा भक्ति सुनते-सुनते सारी आयु व्यतीत कर दी; तब भी वह एक आज्ञा भी नहीं मानता।

चौरासी लक्ष योनियों में जन्म लेकर सात समुद्रों के बराबर माता का दूध पान किया और भूमि पर जितने पहाड़ हैं उनके बराबर जन्म जन्मान्तरों में अन्न-भोजन किया। इस प्रकार जन्म-मरण के चक्र में पड़ा हुआ जीव इस पवित्र भरत खण्ड में आकर मनुष्य शरीर को प्राप्त हुआ।

दुर्लभ तन पायौ सु सुलभ करि । गुरु केवट हरि नाम नाव करि।।
यह समाज भौ तर न पार गो। तौ अपघात आपनौ (ने) कर भो।।२४।।

इस प्रकार चौरासी लाख योनियाँ भोगकर यह दुर्लभ मनुष्य शरीर प्राप्त किया। इसे ही अज्ञानतावश सुलभ मानकर जिसने गुरु बनाया और भगवत नाम की नाव पर बैठकर अपार संसार से अपने को पार नहीं किया, वह आत्म-हत्यारा ही है। भागवत में कहा है-

बलं ये पश्यमायाया: स्त्रीमय्या जयिनोदिशाम्।
या करोति पदाकान्ता भ्रूविज्रंभेण केवलम्।।३,३१,३८

यह माया रूपी स्त्री संसार को पराभव करने को ही प्रकट हुई है, इसलिये कपिल भगवान् अपनी माता से कहते हैं कि मेरी स्त्रीमयी माया का बल देखो, जो दशों दिशाओं को जीतनेवाली है। यह समस्त संसार को जीतने वाले बड़े पराक्रमियों को भी अपनी भोंह के चलाने मात्र से ही वशीकरण कर पैरों पर डाल लेती है।

माया को फल गृह सुत जाया। सब संसार धूरि-सी छाया।
बाजीगर की सी सब चौंधी। तनकी गति चपला सी कौंधी।।२५।।

माया का फल घर, बेटा, पत्नी आदि ही हैं और यह सब संसारी वस्तुएँ जैसे धूल की छाया समान अस्थिर हैं। यह सब बाजीगर की सी चकाचौंध है। जैसे जब तक वह खेल करता है तभी तक वस्तुएँ प्रत्यक्ष हैं, बाद में सब अदृश्य हो जाती हैं। उसी तरह यह शरीर भी विद्युत की कौंध के समान चमककर लय हो जाता है। इसकी अवस्थाएँ रहट की घरिया के समान बदलती रहती हैं; जन्म, शिशु, बाल, कौमार, पौगण्ड, किशोर तरुण, युवा, प्रौढ़, वृद्ध और जरा। यह नित्य प्रलय देखता रहता है--

यथा माता च पितृाश्च प्रलयं यान्ति देहिनाम्।
तथा देहस्य स्वस्यापि प्रलयोभविताध्रुवम्।।

जिस प्रकार समस्त देहधारियों के माता-पिता प्रलय (मृत्यु) को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार खुद की देह का भी निश्चय ही प्रलय होगा।

दिन परलै देखैं न अघानौ, महाप्रलय सुनि के ससकानौ।
जिन सौं प्रीति देह के नाते, सो फोकट कागद पुतरा ते ।।२६।।

यही जीव (नित्य) प्रलय देखकर भी अघाया नहीं। जब पुराणादिकों में महाप्रलय का वर्णन सुना तब सिसकने लगा अर्थात् घबड़ाने लगा। इस शरीर से सम्बन्धित जिनसे प्रीति है वे सब फोकट के कागद के पुतले हैं। जब तक यह शरीर है तब तक रिश्ता है; बाद में कुछ नहीं। संसारी पुरुषों का सम्बन्ध प्याऊ पर पानी पीने वालों के समान है जिसने पानी पी लिया वह अपने रास्ते लगा। जब तक जल नहीं पिया तभी तक साथ में रहता है। भागवत में कहा भी हैं

भूतानामिह संवासः प्रपायामिव सुव्रत।
दैवेनैकत्रनीतानामुन्नीतानां स्वकर्मभिः॥

हे सुव्रत! मनुष्यों का समागम प्याऊ पर पानी पीने वालों के समान है। यह समागम दैव के द्वारा इकट्ठा किया जाता है और अपने कर्मों द्वारा पृथक्करण हो जाता है। इसे नदी-नाव संयोग समान भी जानना।

पौ पे पानी पीवत मिलि कें, जित कित गये सबै चलि चलि कें।
नदी नाव एकत ह्वै उतरत, जैसे आप आपको डगरत॥२७॥

जब तक पार नहीं उतरते तब तक ही साथी हैं। नाव से उतरने के बाद अपनी-अपनी राह पकड़ लेते हैं। भागवत में कहा भी है--

यथा प्रयान्ति संयान्तिश्रोतोवेगेन बालुका।
संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते तथा कालेन देहिनः॥

कहते हैं कि किस तरह नदी के वेग से बालुका व सेवट मिलते तथा-बिछुड़ते रहते हैं, उसी प्रकार सब देहधारी जीव काल के द्वारा प्रेरित होकर संयुक्त-वियुक्त होते रहते हैं।

तिन सौं हित हरि कों बिसर वहिं, ऐसो पुनि समाज नहिं पावहिं।
यह जुग दीप देह बल नीको, भजि हरि मेट सकल दुख जीको॥२८॥

पूर्व छन्द में स्त्री-पुत्रादि जो कागज के पुतले की तरह कहे गए हैं उनसे प्रीति करके यह जीव श्रीहरि को भूल रहा है; किन्तु ऐसा सुन्दर समाज, नर-तन, श्रीगुरुकर्णधार, भगवन्नाम की नौका, भारतवर्ष सा पुण्य-क्षेत्र आदि पाकर भी नहीं सम्हलता जो उसे फिर कभी नहीं मिलेगा। यह युग, यह द्वीप, यह सुघर देह और उसका यह बल, क्या ही मणि-काञ्चन योग है! अतएव, हे भाई! श्रीहरि का भजन करके अपने सम्पूर्ण दुःखों का क्षय कर दो। युगों में कलयुग की महिमा विशेष है, जैसा की पद्म पुराण भागवत महात्म्य में कहा गया है-

यत्फलं नास्तिततपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सभ्यक्कलौ केशव कीर्त्तनात्॥१॥
सत्यादि त्रियुगे ज्ञान वैराग्यौ मुक्ति साधकौ।
कलौ तु केवला भक्तिर्ब्रह्मसायुज्य कारिणी॥२॥

जो फल तपस्या, अष्टाङ्गयोग और समाधि से भी प्राप्त नहीं होता वही कलि युग में भगवान् श्रीकृष्ण का कीर्तन करने से भली प्रकार प्राप्त हो जाता है। सत, त्रेता, और द्वापर इन तीन युगों में ज्ञान और वैराग्य मुक्ति साधक हैं, किन्तु कलियुग में तो केवल शुद्ध भक्ति ही ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त करा देती है।

इसी प्रकार द्वीपों में जम्बू दीप श्रेष्ठ है जिसके अन्तर्गत भरत खण्ड कर्मभूमि है। इसकी वांछा देवता लोग भी करते हैं और चौरासी लाख योनियों में केवल एक मनुष्य का ही शरीर इस संसार सागर से पार होने के लिये नौका रूप है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है--

नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो।

बुद्धि जैसा श्रेष्ठ बल भी इस मनुष्य को ही प्राप्त है, जिसके द्वारा धन, सम्पत्ति को ही प्राप्त किया। परमार्थ में बुद्धि का कोई उपयोग न किया तो बुद्धि रूप बल होते हुए भी यह पतित ही रहा।

बालक घर करि मेटत जैसे, गन्धर्व नगर देखियत तैसे।
यह सब माया को भ्रम भाई, साँची भक्ति भूलि बिसराई॥२९॥

जैसे बालक मिट्टी के घरौंदे बनाकर खेलते और मिटा देते हैं तथा जैसे गंधर्व नगर की आकाश में कल्पना की जाती है उसी भाँति यह सब संसार केवल माया का भ्रम ही है : जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है--

गगन नगर कल्पं संगम बल्लभानां, जलद पटल तुल्यं यौवनं वा धनं वा।
स्वजन सुत समीपं द्वन्द्व विद्युच्चलानां, क्षणिक मपि समस्तं तद्धिसंसार वृत्तम्॥

प्रिय जनों का संगमं गन्धर्व नगर के समान है; यौवन और धन जलद-पटल के समान हैं। स्वजन और पुत्रादिकों की समीपता बिजली की चमक के समान है। इस प्रकार यह सारा संसार का खेल एक क्षण भर का ही है।

श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि हे भाई! सत्य तो केवल एक भक्ति ही है उसको की हम भ्रम-वश भूल बैठे हैं।

धरैं सिर भार कनक कुण्डल करि, जो न नवैं हरि के चरननि तरि।
मृतक तुल्य कर कंकन-कंचन, चर्चत नहीं चरन मोहन घन॥३०॥

सिर पर स्वर्ण के किरीट मुकुट और कानों में धारण किए हुए कुण्डल भार ही हैं यदि किरीट-कुण्डल-मण्डित मस्तक श्री हरि के चरण कमलों में नहीं झुकता और स्वर्ण के कंकड़ों से भूषित हाथ भी मृतक तुल्य हैं, यदि उन हाथों के द्वारा

आनन्दघन मोहन श्रीकृष्ण के चरण चन्दनादि से चर्चित नहीं किये।

कर्म करै ताकौ फल पावै, ऊंच नीच पद ताहि दिखावै।
कबहुँक इन्द्र कबहूं तिर्यक तन, गुन प्रवाह में पर्‌यौ विषय वन॥३१॥

यह जीव जैसा कर्म करता है वैसा ही फल पाता है। उच्च और नीच पद दोनों कर्म के ही अनुसार मिलते हैं। जब उच्च (पुण्यादि) कर्म करता है तो कभी इन्द्र बन जाता है और जब नीच (पापादि) कर्म करता है तो तिर्यक् योनियों (शूकर-कूकरादि) को प्राप्त होता है। इस प्रकार सत-रज-तम तीनों गुणों के प्रवाह में पड़ा हुआ विषय रूप महा समुद्र में गोते खाता रहता है।

चौदह बार भयो वह सुरपति, अब भयो चरन हीन चेंटा गति।
अर्जुन को हरि आपु बतायौ, मीन पुरान व्यास सो गायौ॥३२॥

इस पद में ऊर्ध्व और अधोगति का वर्णन करते हैं। राजा युधिष्ठिर के यज्ञ में एक लँगड़े चींटे को देखकर अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण से पूछा-हे माधव! यह चींटा बड़ा दुखी है। यद्यपि इसके तीन ही पाँव हैं फिर भी भोजन की चिंता में पड़े हुए चावल के कण को चुनता हुआ बड़ी कठिनाई से चल पा रहा है। इसकी यह गति कैसे हुई? यह बताने की कृपा कीजिये। अर्जुन की बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा-अर्जुन! तुम्हें नहीं मालूम; यह जीव जो इस समय चींटे की योनि को प्राप्त है उसने अपने पूर्व जन्मों में अनेक बार बहुत-बहुत पुण्य किये थे जिनके फल-स्वरूप यह चौदह बार स्वर्ग में जाकर इन्द्र पद भोग चुका है और अब पुण्य क्षीण होने से जिस गति को प्राप्त हुआ है उसे तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो।

इस प्रसङ्ग का विस्तार पूर्वक वर्णन भगवान वेद व्यास ने मत्स्य पुराण में किया है। भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

चतुर्दशोऽयं सुरपोरधुनैवपंगुः कृमी।
मम भक्ति विना पार्थ एवं विश्वः प्रवर्तते॥

हे अर्जुन! यह जन्तु जो इस समय लँगड़ी दशा में दीख रहा है पहिले चौदह बार सुरपति इन्द्र हो चुका है; किन्तु मेरी भक्ति के बिना अब इस प्रकार विश्व में पुनः भटक रहा है।

उत्तम जल तजि तृन करि छायौ, देखत मृग-तृष्णा कौं धायौ।
कर्म-धर्म देवन को जो फल, भक्ति बिना भटकत ज्यों खल-नल॥३३॥

चतुर्भुज दासजी उक्त कथन पर फिर बल देते हुए कहते हैं कि जैसे कोई प्यासा व्यक्ति तालाब के पास जावे; किन्तु सिवार, चोई आदि तृणों से ढके हुए उत्तम जल को बुरा समझकर छोड़ चल देवे और मृग-तृष्णा को देख कर प्यास बुझाने के लिये उसके पीछे दौड़ता फिरे ऐसी इस जीव की हालत है।

इस प्रकार कर्म-धर्म और देवताओं की उपासना का जो फल है वह सब व्यर्थ है। अर्थात् सर्वश्रेष्ठ भक्ति को छोड़ कर दुष्ट मनुष्य इन कर्म-धर्मादि में केवल भटक ही रहा है।

बीस हाथ ज्यों लेज बनावै, एक हाथ घट नीर न पावै।
ऐसे विधि-निषेध साधन करि, होय न अभय जो न सेवै हरि॥३४॥

जैसे किसी कुँए में इक्कीस हाथ नीचे पानी होवे और यदि कोई केवल बीस हाथ की डोरी बनाकर उससे जल निकाल लेना चाहे तो नहीं निकाल सकता। इसी प्रकार विधि-निषेध से बँधे हुए साधनों के द्वारा अभय नहीं हो सकता, जब तक कि श्री हरि के चरण कमलों का सेवन न करे।

जहां कर्म तहां भक्ति न आवै, रवि छत कैसे रात बतावै।
कै काजर को सेत बनावै, कर्मनि मांझ भक्ति तौ पावै ।।३५।।

यदि कोई कहे कि कर्मकाण्ड तो भक्ति का साधन है तो उसका खण्डन करते हुए श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि जहाँ कर्म है वहाँ भक्ति कैसे आ सकती है ? जैसे सूर्य के उदयकाल में कोई रात्रि नहीं बता सकता। अर्थात् भक्ति के लिए कर्म की कोई अपेक्षा नहीं है। हां, कर्म में या कर्म के द्वारा भक्ति की उत्पत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब कोई काले काजल को श्वेत बना देने का असम्भव प्रयास संभव करके दिखा देवे। भाव यह है कि न काजल श्वेत हो सकता है और न कर्म के द्वारा भक्ति उत्पन्न हो सकती है।

मीठो मैल खांड तें डारे, फिरि कै परै तो खांड बिगारै।
यों करमनि मधि भक्तिहि ठानत, झूँठनि माँझनि बातहि सानत ।।३६।।

कर्म से भक्ति का पृथकत्व खाँड़ और उसके मैल के उदाहरण से प्रकट करते हैं कि जिस प्रकार खाँड़ को शुद्ध करते समय उसके मैल को निकाल दिया जाता है किन्तु उसके साथ कुछ न कुछ खाँड़ का अंश अवश्य ही रहता है जिससे वह मैल भी मीठा मालूम होता है। अब यदि उसे मीठा समझकर खाँड़ में फिर डाल दिया जाय तो वह खाँड़ को ही बिगाड़ देगा। इसी प्रकार खाँड़ रूप भक्ति में जो कर्म रूप मैल मिले हुए हैं वे भक्ति के संयोग से कुछ भले से मालूम होते हैं परन्तु वास्तव में है वह मैल ही! अब यदि उस कर्म को भक्ति से अलग कर दिया जाय तभी शुद्ध भक्ति शेष रहेगी और यही शुद्ध भक्ति भगवद्-प्राप्ती का हेतु है। किन्तु इस शुद्ध-भक्ति में कर्मों का सानना ठीक वैसा ही है जैसे शुद्ध की हुई खाँड़ में पुनः मैल का मिलाना।

जो कर्पूर बिसाहन हारौ, पूछै गाजर बेर पसारौ।
असत पुराननि में क्यों पावहिं, कर्मनि में जे भक्ति बतावहिं।।३७।।

अब समस्त भ्रमों का निवारण करते हुए श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि जैसे कोई कपूर खरीदने वाला गाजर और बेर की दूकानों में कपूर खोजता फिरे तो कपूर कैसे पा सकता है? इसी प्रकार जो लोग कर्मों में भक्ति बताते हैं उनको कर्म-परक असत पुराणों में भक्ति का प्रतिपादन कैसे मिल सकता है। अर्थात् भक्ति तो केवल भागवतादि सद्शास्त्रों में ही है।

श्री भागौत न देखि विचारहिं, जातें छूटी जाय संसारहि।
बरनादिक धर्मनि में भाखहिं, कर्मठ शोधि कंठ करि राखहिं।।३८।।

समस्त भ्रमों का निवारण करने वाला श्रीमद्भागवत ही भक्ति का सिद्धान्त-सार ग्रन्थ है। कर्म उसे तो देखता-समझता नहीं जिससे संसार छूटता है। श्रीमद्भागवत की वर्णाश्रम धर्म-कर्म परक बातों का विपरीत वर्णन करता है और समय आने पर प्रगट करने के लिये वह कर्मठ उन-उन प्रसंगो को खोज-खोज कर कंठ कर रखता है।

मन की रुचि के अर्थ बखानहिं। श्रीधर स्वामी कही न मानहिं।
भैंस दूध दै सबनि जिवावै। आपुन ताको स्वाद न पावै।।३९।।

श्रीमद्भागवत की श्रीधर स्वामी ने जो टीका की है उसे न मान कर अपने मनकी रुचि का अर्थ वर्णन करता है। जिस प्रकार भैंस दूध देकर दूसरों का पालन करती है परन्तु स्वयं दूध का स्वाद नहीं जानती। इसी प्रकार कर्मठ लोग भागवत में से बहुत से सिद्धान्त निकाल कर दूसरों को बताते हैं; किन्तु स्वयं कोरे रह जाते हैं। किसी ने ठीक ही कहा है-

पण्डित और मसालची, इनकी एकै रीति।
औरन को करैं चाँदना, आप अँधेरे बीच ॥

जे भक्तनि के कर्म बताये । ते तेरे मन माँझ न आये।
जनम करम लीला अभिनय करि। आप तरै कुल सकल जाय तरि।।४०।।

श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि अरे कर्मठ! भक्तों के जो कर्म बताये गये हैं वे तो तेरे मन और बुद्धि द्वारा ग्रहण ही नहीं होते। वास्तव में भक्तों के जन्म और कर्म साधारण जीवों के समान अवश जन्म कर्म नहीं होते हैं। वे तो लीला अभिनय मात्र है। इन लीलाओं को करके वे भक्त स्वयं तो तरते ही हैं साथ-साथ अपना सारा कुल भी तार देते है।

सुरसरि तजैं सुरा जल न्हायैं, होय न सुद्ध श्याम बिनु गायै।
कर्म भरोसो करि सठ सोवै, उल्मुख क्यों अकासतम खोवै।।४१ ।।

देव नदी गंगाजी को छोड़ कर जो मदिरा जल में स्नान करे सो कैसे शुद्ध हो सकता है! इसी प्रकार जो श्याम सुन्दर के गुण गाये बिना अन्य और कुछ करता रहता है; वह भी कैसे पवित्र हो सकता है। जो लोग कर्मों का विश्वास करके निर्भय पड़े हैं उनके लिये कहते हैं; अरे शठो! क्या कर्मों के भरोसे सो रहे हो? कहीं लूहर (अधजला लक्कड़) भी आकाश का अन्धकार दूर कर सकता है? ऐसे ही कर्म-शठ राजा वर्हि को भक्ति का सिद्धान्त समझाते हुए देवर्षि नारद जी कहते हैं-

तस्मात्कर्मसु वर्हिष्मन्नज्ञानादर्थका शिषु।
मार्थ दृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु॥
स्वं लोकं न विदुस्ते वै यत्र देवो जनार्दनः।
आहुर्धूभ्रधियो वेदं सकर्मकमतद्विदः॥
श्रीमद्भागवत ४।२९।४७-४८

बर्हिष्मन्! तुम इन कर्मों में परमार्थ बुद्धि मत करो। ये सुनने में ही प्रिय जान पड़ते हैं; परमार्थ का तो स्पर्श भी नहीं करते। ये जो परमार्थवत् दीख पड़ते हैं इसमें केवल अज्ञान ही कारण है। जो मलिन मति कर्मवादी लोग वेद को लोक कर्म परक बताते हैं वे वास्तव में उसका मर्म नहीं जानते। इसका कारण यही है कि वे अपने स्वरूप भूत लोक (आत्म तत्व) को नहीं जानते जहाँ साक्षात् श्री जनार्दन भगवान विराजमान हैं।

दर्पण दिया नैन बिनु जैसें, देव पितर सब हरि बिनु ऐसें।
हरि सेवतनि हार नहिं आवे, सिंघनि सुतहि स्यार डरपावै॥४२॥

जिस प्रकार नेत्र-विहीन के लिए दर्पण और दीपक व्यर्थ है उसी प्रकार श्री हरि के बिना सब देवता और पितृ व्यर्थ हैं। यथा-

चक्षुहीने यथा दीपं तथा दर्पण मेवच।
समीपस्थं न पश्यन्ति तथा विष्णु बहिर्मुखः॥ (नृसिंह पुराण)

जैसे चक्षुहीन दीपक और दर्पण को नहीं देख सकता वैसे ही बहिर्मुख व्यक्ति अपने हृदयस्थ भगवान् विष्णु को नहीं देख सकता। श्री हरि के सेवक की किसी प्रकार हार नहीं होती, जैसे कि सिंह के बालक को सियार कदापि नहीं डरा सकता। भाव यह है कि श्री हरि के सेवक ही सिंह-शावक हैं और देव-पितृकर्म- धर्मादि सब सियार हैं।

हस्ती चढ्यौ स्वाभ तें डरि है, कहा सांप पावक को करि है।
दावानलहि न ओस बुझावै, गज की प्यास न कुहरु गँवावै॥४३॥

जो व्यक्ति हाथी के ऊपर बैठा है वह भला कुत्तों से कैसे डर सकता है? और साँप अग्नि का क्या बिगाड़ सकता है? इसी प्रकार ओस से दावाग्नि नहीं बुझ

सकती है और न हाथी की प्यास कुहरे से शान्त हो सकती है। अर्थात् जिसने भगवद्भक्ति का आश्रय लिया है वह सर्वोपरि, निर्भय और संतुष्ट है।

नदी प्रबल पावस को पानी, रोकै तृन यह कौनें मानी॥
विधि निषेध सब देई देवा, हरि सेवतनि करत सब सेवा॥४४॥

वर्षा ऋतु में नदी के प्रबल प्रवाह को तिनकों से रोका नहीं जा सकता। यहाँ प्रबल प्रवाह वाली नदी से आशय संसार से है और कर्म (यज्ञ, व्रतादि) ही तृण हैं। ये कर्म रूप तृण संसार प्रवाह को नहीं रोक सकते। यथा-

सुधासिन्धु तट प्यासौ मरई, कर्म करै हरि भक्ति न करई।
ऊँट अगर करपूर चलावै, मृग मृगमद को मर्म न पावै॥४५॥

अज्ञानी जीव अमृत-समुद्र के तट पर बैठा हुआ भी प्यासा मर रहा है। कर्म तो करता है परन्तु श्री हरि की भक्ति नहीं करता। जैसे ऊँट अगर (चन्दन) और कपूर को अपने ऊपर लादकर ढोता है किन्तु उनकी सुगन्ध को नहीं पहिचानता; ऐसे ही मृग की नाभि में ही कस्तूरी रहती है परन्तु वह उसका भेद नहीं जानता। यहां अमृत-समुद्र के तट से यह तात्पर्य है भारतवर्ष में मनुष्य देह का मिलना। इस मनुष्य देह को पाकर अज्ञानी जीव भक्ति रूप अमृत न पीकर कर्म-धर्म रूप विषहरे जल के कुंए खोदता है और भक्ति अमृत से वंचित रहकर प्यासा मरता है। ऊँट और मृग की तरह जीव केवल श्रम करता और भटकता है। अपने निकट स्थित आनन्दमय भगवान को नहीं पहिचानता।

बिनु सत्संग भक्ति बिनु कीन्हें, हैं हरि निकट जात नहिं चीन्हें।
ज्यों तिल तैल रहै घृत पय महँ, अग्नि दारु संयोग जहाँ-तहँ॥४६॥

यद्यपि हरि अपने निकट हैं तो भी बिना सत्संग और भक्ति किये पहिचान में नहीं आते। जिस प्रकार तिल में तेल, दूध में घृत और काष्ठ में अग्नि है इसी प्रकार

भगवान व्यापक हैं; किन्तु बिना ऐसे संयोग के प्रकट नहीं होते।

मथन उपाय बिना क्यों पावै, साधु बिना हरि कौन बतावै।
मन को सब सन्देह गँवावै, भक्ति भेद भागौत दिखावै।।४७।।

सत्संग की तुलना मन्थन से करते हुए कहते हैं कि मन्थन-उपाय रूपी सत्संग के बिना भक्ति कैसे मिल सकती है? और भगवद्भक्तों के बिना श्री हरि को कौन बता सकता है? इस तरह जब सत्संग के द्वारा मन के सब संशय नष्ट हो जायेंगे तब भगवत-जन भक्ति का भेद या तत्व स्पष्ट लखा देंगे। भगवद्भक्त ही श्री हरि का परिचय कराते हैं और उन्हीं की कृपा से भक्ति प्राप्त होती है। जैसा आदि पुराण में कहा है -

वैष्णवाल्लभते भक्तिः भक्त्यामाम् लभते नरः।
तस्मात्हि वैष्णवो विष्णुः कलिमध्ये विशेषतः।।

श्री भगवान कहते हैं कि वैष्णवों से भक्ति मिलती है और मनुष्य भक्ति के द्वारा मुझे प्राप्त कर लेता है। इसलिये विशेषतः कलियुग में तो वैष्णव ही विष्णु हैं। और भी-वृहन्नारदीय पुराण में वे आगे कहते हैं-

भक्तिस्तु भगवद्भक्त सङ्गेनप्रियजायते।
सत्सङ्ग प्राप्यते पुंभिः सुकृतैः पूर्व संचितैः।।

हे प्रिय! भक्ति भगवद्भक्तों के संग से उत्पन्न होती है और भक्तों का संग पुरुषों के पूर्व संचित सुकृतों से प्राप्त होता है।

सुख-दुःख धन पूरब कृत पावै, सत्संगति बिनु भक्ति न आवै।
माया के सब हरहिं विकारहिं, कर्म-बीज जुग जुग के जारहिं ।।४८।।

यदि कोई कहे कि भक्ति पूर्व पुण्यों से मिलती है तो वे इसका निराकरण करते हुए कहते है। कि सुख, दुख और धन पूर्व पुण्यों से प्राप्त होते हैं; किन्तु भगवद्भक्ति

सत्संग के बिना और किसी उपाय से नहीं प्राप्त होती।

सुखं दुःखं धनं चैव पूर्वकमानुगोवशः।
विष्णुभक्तिर्भावगम्या विष्णुभक्त प्रसङ्गतः ॥

सुख, दुख और धन पूर्व कर्मानुसार प्राप्त होते हैं; किन्तु भाव से ही सिद्ध होनेवाली विष्णुभक्ति भगवद्भक्तों के सङ्ग से ही प्राप्त होती है। जब यह भक्ति हृदय में आ विराजती है तब वह माया के सब विकारों (सत-रज-तम, काम, क्रोध, लोभ, मोहादि) को हरण कर लेती है और युग-युग के कर्म-बीजों को जला कर भस्म कर देती है।

एक नीर बहु बरन दिखावै, संगति के समान गुन पावै।
स्वाति बूंद सुकता-मुकता फल, केरि कपूर मुख सर्प हलाहल ॥४९॥

जैसा सङ्ग मिलता है वैसा ही गुण प्राप्त होता है। एक पानी ही को देखिये वह जिसके साथ मिलता है उसी के समान रंग, स्वाद आदि वाला बन जाता है। जिस प्रकार स्वाति की बूँद सीप के साथ मोती, केले के साथ कपूर बन जाती है; वही सर्प के मुख में पड़कर हलाहल हो जाती है।

राजति अति पुरइन-पातनि पर, तपत लोह पर परत झराझर।
त्यों तैसी संगति नर पावै, तैसे गुण अरु कर्म करावै ॥५०॥

जल की बूंद कमल पत्र पर बड़ी शोभा देती है और वही तपे हुए लोहे पर गिरते ही झरझरा कर बाष्प बन जाती है। इसी प्रकार जो मनुष्य जैसी संगति पाता है उसके गुण और कर्म उसी संगति के अनुसार होते हैं।

हरि की रति-जल मगन रहै मन, घर महँ; कै संतत सेवै वन।
हति कामादि प्रसादहि पावै, पर उपकार देह चलि आवै ॥५१॥

पहिले पद में संग के प्रभाव का गुण-दोष वर्णन किया और अब सत्संग के द्वारा भक्त जैसी रहनी-करनी बनाने की शिक्षा देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि भगवान की प्रीति रूप जल में अपने मन को सदा मग्न रखे। फिर चाहे घर में रहे; अथवा निरंतर वन में वास करे। साथ ही साथ कामक्रोधादि को मारकर मनःप्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त करे तथा परोपकार में अपने शरीर को लगाये रखे। परोपकार का महत्व व्यास जी ने भविष्य पुराण में यों कहा है-

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडणम्॥

अठारह पुराणों में व्यास जी ने दो ही बातें मुख्य रूप से निर्धारित की हैं। एक तो परोपकार के समान पुण्य नहीं और पर पीड़न के समान कोई दूसरा पाप नहीं।

धन परिजन तप वेद रूप करि, योग यज्ञ बल कहाँ मिलत हरि।
इतननि माँझ कहा गज ध्यायौ, भक्ति तोष भगवन्त छुड़ायौ॥ ५२॥

श्रीहरि तो केवल भक्तिसेही प्रसन्न होते हैं अन्य साधनों से नहीं। ग्रन्थकार इसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि धन, कुटुम्ब तपस्या, वेदाध्ययन, रूप-लावण्य योग, यज्ञ और बल से ही हरि कहाँ मिलते देखे गए हैं? देखिए न; गजराज ने इन उपरोक्त साधनों में से कौन सा साधन किया था? केवल उसकी भक्ति से ही प्रसन्न होकर श्रीहरि ने उसे दुःख से छुड़ाया।

गजराज के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में कहा है--

मन्ये धनाभिजन रूप तपः श्रृतौजस् तेजप्रभाव बल पौरुष बुद्धि योगा :।
नाराधनायहि भवन्ति परस्य पुंसो-भक्त्‌या तु तोष भगवान्गजयूथपाय॥

धन; परिवार, रूप, तप, वेदाध्ययन, ओज, तेज, प्रभाव, बल पौरुष और बुद्धि योग में से किसी के भी द्वारा श्रीहरि की आराधना नहीं हो सकती (हाँ; ये

साधन ब्रह्मादि देवताओं की प्रसन्नता के उपाय बन सकते हैं और उनकी प्रसन्नता भक्ति के सामने नगण्य है)। परम पुरुष भगवान श्रीहरि तो गजराज पर केवल भक्ति से ही तुष्ट हो गये।

प्रभु पूरन अपने आनँद घन, हरि सेवौ सोभा अपने तन।
ज्यों निज सिर सिंगार बनावै, सोभा सब दर्पन में पावै॥५३॥

जो श्रीहरि-भक्ति से प्रसन्न होते हैं; वे स्वयं परिपूर्ण और आनन्दघन हैं। इनकी सेवा करने से सेवा करने वाले के ही स्वरूप की शोभा बढ़ती है अर्थात् पापों का नाश होकर दैवी गुण और ओज आदि बढ़ जाते हैं। जिस प्रकार कोई अपने सिर का श्रृङ्गार बनाकर देखना चाहे तो वह सब शोभा दर्पण में दीख पड़ेगी।

श्री भगवान् स्वयं परिपूर्ण हैं। उन्हें किसी की सेवा आदि से कुछ लेना-देना नहीं है। फिर भी जीवों पर अनुग्रह करने के लिये वे उनकी सेवा स्वीकार करते हैं। वैसे तो उनका स्वरूप इस प्रकार है-

परिपूर्णतमः कृष्णः गोलोकेशः परात्परः।
सच्चिदानन्द सर्वात्मा राधानन्दकरः प्रभु॥
-गर्ग संहिता

ये श्रीकृष्ण चन्द्र स्वयं परिपूर्णतम, गोलोकाधिपति, परात्पर, सच्चिदानन्दघन, सर्वात्मा और श्रीराधिकाजी को आनन्द प्रदान करने वाले प्रभु हैं।

गुरु सोई हरि साधु सिखावै, साधु सोइ जो विषय छुड़ावै।
धर्म सोई जो भरम गमावै, साधन सो हरि सौं रति लावै॥ ५४॥

गुरु वही है जो हरि और हरि भक्तों की सेवा करना सिखावे, साधु वह है जो विषयों से मुक्त करा देवे, धर्म भी वही है जो सब संशयों का नाश कर दे और वही साधन सच्चा साधन है जो श्रीहरि से प्रीति लगा दे। गुरु, साधु, धर्म और साधन ही

की क्या बात है इनके सिवाय अन्य जो कोई भी श्रीहरि के चरणों प्रीति उत्पन्न कराने वाला नहीं; वह व्यर्थ है। भगवान् ऋषभदेव अपने पुत्रों को उपदेश करते हुए कहते हैं-

गुरुर्नसस्यात् स्वजनो न संस्यात् पिता न सस्याज्जननीन सास्यात्।
दैवं न तत्स्यान्नपतिश्च तत्स्यान् न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।।

श्रीमद्भागवत ५।५।१८

वह गुरु गुरु नहीं, स्वजन स्वजन नहीं, पिता पिता नहीं, माता माता नहीं; दैव दैव नहीं और वह पति (स्वामी) पति नहीं जो मृत्यु उपस्थित होने पर उससे छुड़ा न सके।

धन लगि बनिक चोर अरु चाकर, लोभ लागि मन महँ न मरन डर।
पति सुख समुझि सती तन जारै, भक्ति महा सुख क्यों न निहारै।। ५५।।

व्यापारी, चोर और नौकर का प्रयत्न धन के लिए ही रहता है। ये लोग लोभ से चिपटे रहने के कारण अपने मन में मृत्यु का भी भय नहीं लाते अर्थात् उसी में अपना सुख मनाते हैं। इसके विपरीत सती स्त्री परलोक में भी पति को सुख देने की भावना से अपने शरीर को भस्म कर देती है। परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो वणिक आदि के स्वसुख और सती के परसुख से भी विलक्षण भक्ति का महासुख है। अतः हे भाई! तू ऐसी भक्ति की ओर क्यों नहीं देखता?

मन महं साँचो सो आचरिये, साँचो वचन जीभ उच्चरिये।
सुपने कोटि टका जो पावै, ताके साँटे दाम न आवै।। ५६।।

उस महा सुख रूपा भक्ति की प्राप्ति के लिए जैसी रहनी-करनी की आवश्यकता

है ग्रन्थकार उसका आगे वर्णन करते हैं कि अपने मन में जो बात सत्य रूप में होवे; शरीर द्वारा आचरण में भी वही आवे। इसी तरह जिह्वा के द्वारा भी वही सत्य वचन रूप में निकले। यदि कोई प्रमाद वश उपरोक्त सत्य (मानसिक, कायिक और वाचिक) के विपरीत असत्य आचरण करके लाभ चाहे तो भले ही कुछ समय के लिये उसे लौकिक लाभ मिल जाय, किन्तु परमार्थतः उसके हाथं कुछ न आयेगा। जैसे कोई स्वप्न में करोड़ों रुपये भले पा ले किन्तु जागने पर उसके हाथ कोटि टका (रुपया) के बदले एक 'दाम' (टके का छोटा भाग) भी न आयेगा। मानसिक, कायिक, वाचिक सत्य के धारण करने के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत में इस प्रकार कहा है-

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं, वस्रपूतं पिवेज्जलम्।
सत्य पूतां वदेद्वाचा मनः पूतं समाचरेत्॥

दृष्टि के द्वारा पवित्र किये हुए स्थान पर देखकर पांव रखे, वस्त्र के द्वारा पवित्र किया हुआ (छानकर) जल पिये, सत्य से पवित्र की हुई वाणी बोले और मन से पवित्र-बनावट से रहित आचरण करे।

ऐसें यह सब झूठी माया, करत अकाज जीव कौ काया।
भूख मरै स्रग चन्दन लावै, कहै प्रान कैसे सचु पावै॥ ५७ ॥

स्वप्न के "कोटि-टका" की तरह यह सब माया-विलास झूठा है और जीव का सर्वनाश यह शरीर ही कर रहा है क्योंकि जीव इससे आसक्त हुआ माया-विलास में भूल रहा है। किन्तु जीव परमात्म सुख के सिवाय अन्य सुखों से वास्तविक रूप में सुखी नहीं हो सकता। जैसे भूखों मरते हुए को यदि कोई माला, चन्दन आदि, शरीर के बाह्य भोग दे तो उसके प्राणों को कैसे शान्ति मिल सकती

है? उसे तो भोजन से ही शान्ति मिलेगी। इस प्रकार के सुखों से जीव को शान्ति नहीं मिल सकती।

जो हरि भजहि तौ होइ महा सुख, नातरु जम वश ह्वै सत गुन दुख।
ले हरि नाम न पुनि कहि आवै, घर बरतन ज्यों कूप खनावै॥ ५८॥

यदि यह जीव श्री हरि का भजन करे तो उसे परम सुख प्राप्त होगा; नहीं तो यम के वश होकर अनेक दुख उठाने पड़ेंगे। इसलिये, हे भाई! अभी हरि नाम ले। फिर अन्त समय में यह नाम नहीं कहे आवेगा। और यदि तू सोचता हो कि अन्त समय ही नाम लेने का प्रयत्न करे लूँगा तो उस समय तेरा यह प्रयत्न 'घर में आग लगने पर कुआँ खोदने' जैसा होगा। अर्थात् नाम लेने का जीवन में अभ्यास न रहने से समय पर स्वाभाविक नाम याद नहीं आवेगा।

चोर मिलैं खाँड़ो गढ़िवावै, जम कर परै न हरि कहि आवै।
तातें अब संतत साधन करि, ब्रजवासहि मन दै सब परिहरि ॥ ५९॥

जिस प्रकार चोर के सामने आने पर उसे मारने के लिये यदि कोई उसी समय तलवार गढ़वाने बैठे तो वह शस्त्र चोर के मारने के काम में कैसे आवेगा ? इसी प्रकार यम के पाश में बँध जाने पर श्री हरि का नाम स्मरण होना असम्भव हो जायगा। इसलिये अब तू निरन्तर साधन करने अर्थात् हरि-भजन में लग जा। सर्वस्व का परित्याग करके ब्रज में बस जा।

ब्रजवास की महिमा अनन्त है यही सब साधनों का सु-फल है। ब्रज-वास की महिमा ब्रह्माजी के इस वाक्य से प्रकट होती है--

तद्भूरिभाग्य मिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेपि कतमाँघ्रि रजोभिषेकम्।

यज्जीवितं तु निखलं भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
श्रीमद्भागवत १०।१४।३४

ब्रह्मा जी कहते हैं प्रभो! इस ब्रज भूमि के किसी वन में और विशेष करके गोकुल में किसी भी योनि में जन्म हो जाय; यही हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात होगी; क्योंकि यहां जन्म हो जाने पर आपके किसी न किसी प्रेमी की चरण धूलि अपने ऊपर पड़ ही जायगी। प्रभो! आपके प्रेमी ब्रजवासियों का सम्पूर्ण जीवन आपका ही जीवन है। आपही उनके जीवन के एकमात्र सर्वस्व हैं। इसलिये उनके चरणों की धूलि मिलना आपके ही चरणों की धूलि मिलने के बराबर है और आपकी चरण धूलि को तो श्रुतियां भी अनादि काल से अब तक ढूँढ़ ही रही हैं।

शारद शेष सहस मुख गावै, तौउ न ब्रज प्रताप कहि आवै।
विधि बुधि थकी पार नहिं पावै, पुनि. पुनि ता रज कों सिर नावै।। ६०।।

सरस्वती और शेष जी अपने सहस्त्रों मुखों से ब्रज का प्रताप गाते रहें तो भी उनसे पूर्णतया कहते न बनेगा। जिनका सुयश गान करने में ब्रह्मा की भी बुद्धि थकित हो गई; किन्तु पार नहीं पा सकी। अब अन्त में ब्रह्मा ने ब्रज की रज को ही बारबार प्रणाम किया। ब्रज रज का महात्म्य ब्रह्माजी ने इस प्रकार कहा है--

षष्ठि वर्ष सहस्राणि मया तप्तं तपः पुरा।
नन्दगोप ब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ।।
तथापि न मया प्राप्ता स्ताषांवै पादरेणवः ।।
-हरगौरितन्त्र

ब्रह्मा जी कहते हैं कि नारद! पहिले मैंने नन्द बाबा के ब्रज की गोपियों की चरण धूलि प्राप्त करने के लिये साठ हजार वर्ष तक घोर तप किया; किन्तु फिर भी उन गोपियों की चरण-रेणु मुझे प्राप्त न हुई।

प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी, ता बस अटके कुँज बिहारी।
अनत नेक मन में नहिं आवै, ब्रज जन घर-कृत करन न पावैं ।। ६१।।

ब्रज की महिमा अपार क्यों है? संक्षेप में इसका कारण ग्रन्थकार बताते हैं कि ब्रज में एक प्रेमा-भक्ति ही अत्यन्त विलक्षण वस्तु है जो अन्यत्र कहीं नहीं है इसी प्रेमा-भक्ति के वश होकर कुञ्जबिहारी श्री कृष्ण यहाँ अटके हुए हैं; क्षण भर के लिये भी कहीं और नहीं जाते। इन कुञ्ज बिहारी के मन में अन्यत्र की अन्य कुछ भी बातें आती ही नहीं। पद्मपुराण में बताया गया है-

अहो भागवती देवी यशोदानन्द गेहनी।
यदङ्के कृष्णमारोप्य मुखं पश्यति सादरम् ।।

अहो! नन्द गेहिनी भगवती यशोदा सचमुच ही परम भागवत हैं जो परमानन्द वपु श्रीकृष्ण को अपनी गोद में लेकर उनके सुन्दर मुख को प्रेम पूर्वक निहारती रहती हैं।

अनत जुगत अति भोग लगावै, देखहि दृष्टि कृपा तहाँ आवै।
बृजवासी अति जतन दुरावैं, चोर लैंइ अरु रुचि सों पावैं।। ६२।।

अन्य देशों में उपासक लोग बड़ी पवित्रता पूर्वक अनेक युक्तियों से तयारियाँ करके मंत्र-पाठ के सहित भोग लगाते हैं। यदि श्री ठाकुरजी उसे देख भर लें तो यही उनकी उन उपासकों के लिए बड़ी कृपा है। किन्तु इसके ठीक विपरीत भोग लगाना तो दूर रहा प्रेमी ब्रजवासी लोग दूध दही आदि अपनी खाद्य सामग्रियों को बड़े यत्न

के साथ छिपा छिपाकर रखते हैं तो भी प्रेम और भाव के भूखे भगवान श्रीकृष्ण उन वस्तुओं को चुरा लेते हैं और बड़ी रुचि एवं प्रीति से खाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण की दधि-माखन चोरी का वर्णन भक्त सूरदास जी ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है-

चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निसिवासर मोहि बहुत सतायो अब हरि हाथहिं आये ॥
माखन दधि सब मेरो खायो बहुत अचगरी कीन्हीं ।
अब तो आय परे हौ लालन तुम्हें भले मैं चीन्हीं ॥
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउँ मँगाई ।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यौ सखा गये सब खाई ॥
मुख तन चितै विहँसि हँसि दीन्हों रिस तब गई बुझाई ।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को सूरदास बलि जाई ॥

ठाढ़ी मुक्ति न नेक निहारत; करतें चारि पदारथ डारत ।
जाको काहू पार न पायौ, तेहि जसुधा पै आपु बँधायौ ॥ ६३ ॥

इन ब्रजवासियों के आगे मुक्ति हाथ जोड़े खड़ी रहती है किन्तु ये लोग उसकी ओर जरा भी नहीं देखते और धर्म, अर्थ काम एवं मोक्ष इन चारों पदार्थों को बिना ग्रहण किये ही फेंक देते हैं। इन ब्रजवासियों ने मुक्ति आदि पदवियों का तिरस्कार करके इन्हीं पदों के दाता भगवान् श्रीकृष्ण को प्रेम-सूत्र में बाँध लिया है। जिन सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान का किसी ने भी पार नहीं पाया; उसने अपने आपको प्रेम के वश होकर यशोदा के हाथों बँधवा लिया। प्रेमी भक्तों के सम्मुख मुक्ति और चारों पुरुषार्थ हाथ जोड़े सेवा में तत्पर खड़े रहते हैं। हिताचार्य प्रभु के सुपुत्र श्री कृष्णचन्द्र महाप्रभु इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं-

भक्तिस्त्वयीस्थिरतरा भगवन्यदिस्यो।
दैवेन नः फलति दिव्य किशोर मूर्तिः ॥
मुक्तिः स्वयं मुकलितांजलि सेवतेस्मान्।
धर्मार्थकामगतयः समय प्रतीक्षाः॥
-कर्णानन्द काव्य

हे भगवान् यदि आपकी कृपा से कभी भी आपके चरणों में अचला भक्ति हो जाय तो अवश्व ही दिव्य किशोर मूर्ति आप मेरे हृदय में आ विराजें। फिर तो स्वयं मुक्ति अपनी गतियों (सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य, सालोक्य और सायुज्य) और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष (कैवल्य) के साथ अंजलि-बद्ध होकर हमारी सेवा में उपस्थित हो जायँ और उस समय की प्रतिक्षा करें कि हमारी उसे कब कौनसी आज्ञा होती है।

अखिल ब्रह्मांड अंड को प्रभु पति, ब्रजसों प्रीति करी सन्तति रति।
नाचत रहत दारु पुतरी सरि, जाको मन जैसो तैसो हरि॥ ६४ ॥

जो श्रीकृष्ण अखिल ब्रह्माण्डों के एकमात्र अधीश्वर हैं वही ब्रज की ओर निरन्तर प्रीति करते हैं-पुतली की तरह नाचते रहते हैं। इस तरह ये प्रभु जिसका मन जैसा उसके लिये वैसे ही हैं। अर्थात् भावग्राही हैं।

ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है और उन सबके एकमात्र स्वामी गोलोकाधिपति भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र हैं। गर्ग संहिता में कहा है-

अनन्त ब्रह्माण्डपतिः गोलोके धाम्नि राजते

अनन्त ब्रह्माण्डों के स्वामी भगवान श्रीकृष्ण गोलोक-धाम में विराजते हैं।

सकल वरन प्रति बिंब फटिक महि, ऐसें सदृश होत हरि ता कहि।
दस विधि भये कंस जब मार्‌यौ, रूप अनंत देखि विधि हार्‌यौ॥६५॥

जिस प्रकार एक ही स्फटिक-मणि कें सभी रंगो के प्रतिबिम्ब दिखाई दे सकते हैं उसी प्रकार एक ही काल में श्रीहरि भी जो जैसा है उसके लिये वैसे ही रूप में दर्शन देते हैं। उन्होंने जब कंस को मारा था तब एक ही काल में प्रत्येक को पृथक पृथक उनकी भावनाओं के अनुसार दस रूपों में दर्शन दिया । ब्रह्मा को तो एक साथ अनन्त अपने रूप दिखाये, जिन्हें देखकर वह चकित हो गये। कंस को मारते समय श्रीकृष्णचन्द्र किसे किस रूप में दिखे; इसका वर्णन श्रीमद्भागवत में इस प्रकार है--

मल्लानाम शनिर्नृणांनरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्।
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराड विदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्।
वृष्णिनां परदेवतेतिविदितो रङ्ग गतः साग्रजः।।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलराम जी के साथ रंग भूमि में पधारे उस समय बड़े-बड़े पहलवान यह समझकर कि इनका शरीर वज्र सा कठोर है रौद्र-रस का अनुभव करने लगे। साधारण मनुष्यों ने ऐसा समझा कि ये कोई श्रेष्ठ मनुष्य हैं और इसी अवस्था में उनकी विचित्रताओं का स्मरण करके अद्भुत-रस की अनुभूति की। स्त्रियों को ऐसा जान पड़ा मानो मूर्तिमान कामदेव है। वे श्रृङ्गार-रस की अनुभूति से तन्मय हो गईं। ग्वाल-बाल उन्हें अपना स्वजन समझकर हँसने लगे और हास्य-रस का आस्वादन करने लगे। पृथ्वी के दुष्ट शासकों ने यह समझकर कि ये हमारा शासन करने वाले-हमें दण्ड देने वाले हैं -उन्होंने वीर-रस का अनुभव किया और माता-पिता के समान बड़े-बूढ़ों ने उन्हें नन्हे-नन्हे बच्चों के रूप में अखाड़े में आते देख करुण रस की अनुभूति की। कंस ने समझा यह तो हमारा काल ही है और इस प्रकार वह भयानक रस की अनुभूति में डूब गया। अज्ञानियोंने उनके शरीर पर हाथी का खून, मद आदि लगा देख कर विकृत रूप में वीभत्स-रस का अनुभव किया। योगियों ने परमतत्व समझकर शान्त रस का तथा इसी

प्रकार भगवान के भक्त तथा प्रेमियों ने अपना इष्टदेव समझकर प्रेम और भक्ति का अनुभव किया।

लीला-सिंधु-सुधा मज्जन करि, तिहि ब्रज वास करहि सब परिहरि।
ज्यों चित-चित्र चितवै न चितेरौ, यों सब तजि माया को केरौ॥ ६६॥

श्री चतुर्भुजदासजी उपदेश करते हुए कहते हैं कि जिस ब्रज की महिमा पहिले कह आये हैं; तू सर्वस्व का परित्याग करके उसमें निवास कर और भगवान श्रीकृष्ण की लीलामृत-सिन्धु में अवगाहन कर। इस तरह इस मायामय संसार का भी परित्याग कर दे। जैसे चित्रकार अपने बनाये हुए चित्र की सत्यता को (अपनी की हुई कल्पना के अतिरिक्त और कुछ) नहीं स्वीकार करता।

पर त्रिय और भक्त कौ सहोदर, गिरि सम सहनशील सब तजि डर।
मान-अपमान न मन में आनै, निन्दा अस्तुति सम करि जानै॥६७॥

चतुर्भुजदासजी साधु पुरुषों की अच्छी रहनी का उपदेश करते हैं कि पर-स्त्री और भगवद्भक्त को सहोदर के समान माने। पर्वत के समान सहनशील बने। सब भयों का त्याग कर दे। मान-अपमान को तो मन में भी न लावे और निन्दा-स्तुति को एक-सा जाने। श्रीहित वाणी के परम भाष्यकार रसिक अनन्य श्री दामोदरदास सेवकजी महाराज कहते हैं--

जो बहुमान करै कौऊ मेरौ, किये बहु मानत नाहिं बड़ाई
जो अपमान करैं कोउ कै हूं, किये अपमान नहीं लघुताई॥
श्री हरिवंश गिरा रस सागर मांझ मगन्न सबै निधि पाई
जो हरिवंश तजौं भजौं औरहि, जो मोहि श्री हरिवंश दुहाई॥

इसी तरह इस भाव को बयालीस लीला कार महात्मा श्री ध्रुवदास जी अपनी वाणी में 'मान-अपमान न मन में आनै, कहकर प्रकट करते हैं। श्रीमद् भागवत में

भी कहा है-

अमानी मानदः कल्पो मेत्रः करुणकः कविः

भक्त लोग स्वयं अमानी और दूसरों को मान देने वाले समर्थ, सबके मित्र, करुणावान और चतुर होते हैं।

सकल देह दुख-सुख कर मानहिं, शत्रु-मित्र समता करि जानहि।
वृन्दावन मुरलीधर सौं रति, कही चतुरभुजदास जथा मति ॥६८॥

देह के समस्त दुःखों को सुख की भाँति माने तथा शत्रु को मित्र के जैसा जाने। वृन्दावन बिहारी मुरलीधर श्रीकृष्ण से ही प्रीति करें। श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार (शिक्षा सकल समाज यश) प्रबन्ध का वर्णन किया है।

शत्रु को मित्र क्यों मानें; इसका कारण कर्णानन्द काव्य ग्रन्थ में बताते हैं--

लोके गरीयसी माता मातृतोप्यधिकः खलः।
माता मलं तु हस्ताभ्यां खलःक्षालतिजिव्हया॥

यद्यपि लोक में माता ही श्रेष्ठ है किन्तु खल तो माता से भी श्रेष्ठ है। माता अपने शिशु के मल को केवल हाथों से ही धोती है परन्त खल (निन्दक) हमारे मल को अपनी जीभ से साफ करता है। 'वृन्दावन मुरलीधर सौं रति'-इस पंक्ति का भाव स्वामी चतुर्भुज दास जी संस्कृत टीका में इस प्रकार करते हैं-

घोरामापदमत्र संपदमिवावज्ञां च सम्मानवत्-
निन्दां संस्तुववत्सखानिवरिपूनैस्वंमहाभूतिवत्।
मात्सर्याणि सुमित्रतामिव हृदागृह्णन्महा दुर्लभे-
श्रीराधा मुरलीधरारांघ्रिरसदे स्थीयामिवृन्दावने॥१॥
यो राधामुरलीधरांघ्रि कमले प्रेमैक पात्रीयति--

मात्रीयत्यपराङ्गना स्थिरचरान्सत्वान्सुपुत्रीयति।
गोत्रीयन्त्यति तर्जनादिषुमहा मित्रीयति द्वेषिषु-
श्री वृन्दावन भावसेत्सखलुयत्स्वाङ्गोन्य गात्रीयति॥२॥

मैं घोर आपत्ति को सम्पत्ति, अवज्ञा को सम्मान, निन्दा को स्तुति, रिपु को सखा दारिद्र को विभूति, और द्वेषियों को मित्र समझता हुआ महादुर्लभ श्रीराधामुरलीधर के रसदाता चरणों के निकट श्री वृन्दावन में वास करूं। जो श्रीराधामुरलीधर के चरण कमलों का प्रेम-पात्र है उसके लिये पर-स्त्री माता, स्थिर-चर पुत्र, ताड़नकर्त्ता गोत्री (सम्बन्धी) द्वेषी मित्र, और अन्य शरीर धारी सभी वृन्दावन-वासी आत्मवत् हैं।

॥ शिक्षा सकल समाज यश समाप्त ॥

द्वितीय

धर्म विचार-यश

जयतिश्री

प्रथम सु श्री हरिवंश नाम मंगलमय मंगल गाऊँ जू।
वरण धर्म आस्रमन कर्म तिनकी गति ज्ञान सुनाऊँ जू ॥ १ ॥

द्वादश यश रचयिता श्री स्वामी चतुर्भुजदास जी ने सम्पूर्ण समाज को शिक्षा के रूप में पिछला यश गाया। अब इस यश में धर्म की व्याख्या करते हुए यह धर्म विचार यश लिखते हुए पहले आद्य-गुरु की वन्दना करते हैं। सर्वप्रथम वे मंगलमय श्रीहित हरिवंशचन्द्र के मंगल नाम का गायन करने का उल्लेख करते हैं। इसके पश्चात् वर्ण, धर्म, आश्रम और कर्म की गतियों सम्बन्धी ज्ञान सुनाने की सूचना धर्म विचार यश के इस मंगलाचरण में देते हैं।

धर्म विचार, विचार विवेक, तबहीं मन में अति आवै जू।
उपजै दृढ़ प्रतीति प्रीति, भक्तनि को मारग भावै जू॥२॥

क्योंकि ऐसे ज्ञान को सुनने के पश्चात् ही धर्म-विचार और विवेक-विचार मन में आवेगा और तभी हृदय में दृढ़ विश्वास और प्रेम उत्पन्न होगा एवं भक्तों का पथ प्रिय लगेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो संसाररूपी प्रपंच में भटकना पड़ेगा। यथा श्री सेवक जी ने कहा है-

परयो प्रवाह काल के कदापि छूटि है नहीं,
श्री व्यासनन्द नाम जो प्रतीति सौं न रट्टहीं।

अतएव स्वामी जी दयावश वर्णादिक धर्मों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि-

प्रथम वरण द्विज कौ कहिये बारह बरस भौ ब्रह्मचारी जू।
शिखा मेखला मूँजी बंधन दण्ड कमण्डलु धारी जू॥३॥

चार वर्णों में प्रथम वर्ण ब्राह्मण है। ब्राह्मण को अपने प्रथम आश्रम-ब्रह्मचर्य्य में बारह वर्ष रहना होता है। इस आश्रम में शिखा, मेखला (कटिबंधन), मुंज-बंधन, दण्ड और कमण्डलुधारी वह रहता है। 'प्रथम वर्ण-द्विज' की परिभाषा शास्त्रों में इस प्रकार गयी है-

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेद-पाठी भवेत् विप्रो ब्रह्म जानाति ब्राह्मणाः॥

जन्म के समय प्रत्येक व्यक्ति शूद्र ही होता है। संस्कार के उपरान्त ही 'द्विज' कहा जाता है, एवं वेद-पाठ करने से विप्र और ब्रह्म को जानने के बाद ब्राह्मण कहलाता है।

ब्रह्मचारी गुरुकुले वसन् कुर्वन्गुरोर्हितम्।
आचारन्दासवन्नीचो गुरौ सुदृढ़ सौहृदः॥

ब्रह्मचारी के कर्तव्य और मर्यादाओं को श्रीमद्भागवत में इस प्रकार बताया गया है कि ब्रह्मचारी गुरुकुल में बस कर श्री गुरु की प्रीतिपूर्वक सेवा करे और दास के समान लघु होकर आचरण करे एवं गुरु के प्रति सुदृढ़ प्रीतिवान् बने। श्रीमद् भागवत में और भी कहा गया है कि सायं-प्रातःकाल गुरू, अग्नि, सूर्य एवं देवताओं का पूजन करें तथा वेदमाता गायत्री रूप सनातन ब्रह्म का जप करे। वेद-पाठ करे। गुरुदेव के बुलाने पर उनके निकट उपस्थित हो। प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ और अवसान में श्री गुरु के चरणों में नमन करे। मेखला, मृग-चर्म, जटा, कमण्डल, उपवीत, कुश और आचमनीय धारण करें। स्त्रियों का निरीक्षण, स्पर्श, संलाप एवं स्वयं श्रृंगार आदि न करे; अन्य प्राणियों का मैथुन न देखे एवं

गृहस्थों का तो दूर से ही त्याग करे।

उत्तम अन्न करै अपनै कर, तृण साथरें जु सोवै जू ।
पढ़ै वेद व्रत दृढ़ करि कै पै, सकल ग्रन्थ मत जोवै जू ॥४॥

अब ब्रह्मचारी की रहनी-सहनी के बारे में कहते हैं कि इस प्रकार उत्तम अन्न अपने हाथों पाक करे और तृण-शय्या पर शयन करे। वेद पाठ करे एवं दृढ़ व्रतधारी बन कर समस्त ग्रन्थों के सार का मनन करे।

पुनि घर बसि संतति कीनी सब, घर कौ ब्रत प्रति पार्‍यौ जू।
वेद-विहित आचरण करै पै, वन कौं आपु सिधार्‍यौ जू ॥ ५॥

वह ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य्याश्रम के पश्चात् ग्रहस्थ होकर संतानोत्पादन करता है। गृहस्थ व्रतों का आचरण करता है। इस प्रकार (पचास वर्ष तक) वेद में बताये गये आचरण करके (वानप्रस्थ के लिए) वन में चला जाता है। घर का व्रत क्या होता है सो देखिये कि कर्म-धर्म, सत्य, दया, इन्द्रिय-दमन, तप, निरमत्सरता, अहिंसा अननुसूया, अनिन्दा, संतोष , यज्ञ, दान, सहिष्णुता, श्रुति-कथा ये द्वादश-गुण गृहस्थ के हैं। और वेद-विहित आचरण ये हैं -

यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा दान-प्रतिग्रह ये छः कर्म ब्राह्मण के हैं और सध्यात्रय, बलि वैश्वदेव, अतिथि-सेवा, नित्य श्राद्ध, बहत्तर श्राद्ध-ये नित्य नैमित्तिक कर्म हैं। देव, पितृ और ऋषि ये तीन ऋण हैं। इसमें से गृहस्थ संतानोत्पत्ति करके पितृऋण से छूट जाता है। गृहस्थ इन धर्मों से च्युत होने पर प्रत्यवाय दोष का भागी होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी और वानप्रस्थ भी। किन्तु भगवद्भक्ति रूप श्री हरि शरण प्राप्त करके सभी संसार से छूट जाते हैं। यथा श्रीमद् भागवत में कहा है-

देवर्षि भूताप्त नृणां न पितृणां,
न किङ्करोनायमृणी च राजन्।
सर्वात्मनायः शरणं शरण्यं,
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम्।।

जो व्यक्ति समस्त कर्मों का परित्याग करके सर्वात्म-भाव से श्री मुकुन्द भगवान् की शरण में आ जाता है, वह देव, पितृ, भूत, आप्त, मनुष्य एवं किंकरों के ऋण से ऋणी नहीं होता। शास्त्रों में बताया गया आचरण इसी प्रकार है। बहत्तर श्राद्ध कहते हैं- जन्म और क्षय के दो, अमावस्या के बारह, ऋतु के छः, संक्रान्ति के बारह, अनंतका के चार, तिथियों के सोलह, युगादि के चार, युगादि के चार, मन्वादि के चौदह और नवान्न के दो।

कन्द मूल फल भोजन कै पय, नख अरु केस बढ़ाए जू।
मूसलवत् स्नान करै यौं, बारह बरस सिराए जू।।६।।

वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके कन्द, मूल, फल और पुरोडास का भोजन करे। नख एवं केश बढ़ावे और मूसलवत् स्नान करे। इस तरह बारह वर्ष व्यतीत करे।

वानप्रस्थ-धर्म श्रीमद्भागवत नारद वाक्य में इस प्रकार वर्णित है-

केश, रोम, नख, दाढ़ी, मैल, कमण्डल, अजिन, दण्ड, वल्कल-परिच्छद और अग्नि धारण करे। पुत्र और स्त्री का त्याग करके अथवा उसके साथ-साथ वन में एकान्त-वास करे। वहाँ कन्द-मूल आदि वन्य फल से वृत्ति चलावे। तृण, अजिन और वल्कल-शय्या पर शयन करे। शिशिर ऋतु में जल में आकण्ठ-मग्न रहे और तप-व्रत धारी होवे। वृद्धावस्था में अग्नि का आरोपण करके विजया होम करे। इस प्रकार वानप्रस्थ धर्म का पालन करे।

पुनि सन्यासी भयो क्रम नासी, शिखा अरु सूत्र विहाए जू।
विजया होम कियो मृतक तब, ह्वै कै धरनि सिधाए जू॥७॥

वानप्रस्थ के पश्चात् शिखा-सूत्र का परित्याग करके कर्म-नाशी (कर्म न करने वाला) सन्यासी बनता है और अपने मृतक एवं विजया होम करके पृथ्वी में मिल जाता है श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध और विष्णु पुराण में सन्यास धर्म का वर्णन इस प्रकार है -- वाणी का दण्ड मौन, काम्य कर्मों का अनीहा और प्राण-वायु का साधन चित्त का दण्ड है; केवल बाँस दंड-दंड नहीं। जिस सन्यासी के पास चाँदी, स्वर्ण और ताम्र का परिग्रह हो; सत्पुरुष को चाहिए कि उसका दर्शन करके स्नान करे। यति का धर्म है कि आच्छादन, कोपीन मात्र और दण्ड-कमण्डल के सिवाय और कुछ न रखे। आपत्ति की बात दूसरी है। मुनि को चाहिये कि राग-द्वेष लोभ, मोह, शोक, भय और मद, मानावमान, असूया, माया, हिंसा और मत्सर आदि का परित्याग करके देह मात्र अवशेष रखे। प्रत्येक ग्राम में एक ही रात्रि निवास करे। इस प्रकार निरपेक्ष हुआ पृथ्वी पर विचरण करे। जो भिक्षु सन्यासी धन-धान्य सम्पन्न घर का त्याग करके उसे फिर से ग्रहण करता है वह तो मानो किये हुए वमन को पुनः खाने वाले कुत्ते के समान है।

वेद व्रत द्विज के भोजन जो, कृश व्यौहार न करई जू।
त्रिविधि काल अस्नान करै द्वै, धोइ वसन तन धरई जू॥ ८॥

इस प्रकार सन्यासी का धर्म बतलाते हुए कहते हैं कि सन्यासी वेद पाठ करे। ब्राह्मणों के घर ही भोजन करे। कृषि आदि व्यवहार-कार्य न करे। इसके साथ-साथ त्रिविधि-त्रिकाल स्नान करे और केवल दो ही धौत-वस्त्र धारण करे।

भूलि न धातु धरै कर कबहूं, अरु ताम्बूल न पावै जू।
त्रिय नातें जु दारु की पुतरी, सादर दृष्टि न आवै जू॥९॥

कहते हैं कि वह कभी भूल कर भी धातु को हाथ में न रखे। कभी भी पान न खावे, और स्त्री के नाते काठ की पुतली तक को सादर दृष्टि से भी न देखे।

छेत्र पाँच दिन ग्राम एक, ऐसें व्रत तनहि गवावै जू।
सत्य लोक लगि ऊरध गति, तौ साजोजहि पावै जू॥ १० ॥

सन्यासी को किस तरह से परिव्रजन करते रहना चाहिए सो बतलाते हुए कहते हैं कि तीर्थ-क्षेत्रों में पाँच दिन तथा प्रत्येक ग्राम में एक दिन से अधिक न ठहरे और इसी तरह जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार के तप से उसकी ऊर्ध्व के पाँच लोकों (सत्यलोक) तक गति हो जाती है और अन्त में सायुज्य मोक्ष पाता है।

यदि सन्यासी इसके विपरीत आचारण करेगा तो क्लेश ही होगा; जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा है-

श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यंतिकेवलबोधलब्धये।
तेषामसौक्लेशलएवसिष्यते
नानद्यथा स्थूल तुषाव धातिनाम् ॥

हे प्रभो ! श्रेय का दान करने वाली आपकी भक्ति का निरादर करके जो लोग ज्ञान के लिये श्रम करते हैं; वे तो धान के तुषों के कूटने के जैसा व्यर्थ श्रम करते हैं। उनके हाथ कुछ भी नहीं आता।

ताहि भक्त सुपने नहिं जाँचत, वरु तिर्यक तनु धरई जू।
'हरि सुमिरन मनते जनि टारहुँ', यह वर अति हर वरई जू ॥११॥

संन्यासी और भक्त की परस्पर तुलना करके उनकी अलग-अलग स्थिति बतलाते हैं कि सन्यासी को अत्यंत कठिनाई से प्राप्त होने वाली उस सायुज्य-मुक्ति को भक्त-गण स्वप्न में भी नहीं चाहते। चाहे उन्हें भले ही तिर्यक-योनि क्यों

न प्राप्त हो। वे तो इसी वर को वरण करते रहते हैं कि हे प्रभो! तिर्यक योनियाँ देकर भी हमारे हृदय से आपका स्मरण नहीं टालियेगा। 'वरु तिर्यक तनु धरई जू' -- कथन की पुष्टि श्रीमद्भागवत के अनुसार इस प्रकार होती है - 'हे केशव! चाहे हम भले ही कीट, पक्षी, सृग, सरीसृप, ऋक्ष, पिशाच या मनुष्य आदि योनियों में यहां-वहां क्यों न घूमते रहें किन्तु आपकी कृपा से आपके चरणों में हमारी अचलता और अव्यभिचारिणी भक्ति बनी रहे। यदि हम कालपाश बद्ध होकर अधोलोक में भी चले जावें अथवा कुल हीन कीट-पक्षी आदि ही क्यों न हो जावें तो भी मैं यही चाहूँगा कि श्रीहरि के चरणों में हमारा अनुराग हो। नन्द-नन्दन श्री कृष्ण की कैशोर लीला-रूप अमृत समुद्र के अवगाहन करने वाले हम लोग अब क्या निर्वाण (कैवल्य) पद रूप नमक के खारे समुद्र की इच्छा करेंगे।' श्री रघुनाथ भट्टजी कहते हैं-

असद्वार्त्ता वेयां विसृज मति सर्वस्व हरणीं
कथां मुक्तेर्व्याघ्रीन किल श्रणु सर्वात्म गिलनम्।
अपित्याज्या लक्ष्मि पतिं रति मितो नयनीं
ब्रजे राधाकृष्णौ स्वरति मति दौत्ये भज मनः॥

अर्थात् हे मेरे मन! वेश्या रूप सर्वस्व हरण करने वाली असद्वार्त्ता का परित्याग कर, सिंहनी रूप मुक्ति की कथा का भी त्याग कर, जो सर्वस्व को निगल जाती है। लक्ष्मी और लक्ष्मीपति की भी रति को छोड़, क्योंकि इसके नेत्र आकाश की ओर चढ़े हैं- अभिमान पूर्ण हैं; अतः वृन्दावन बिहारी श्री राधामाधव के दौत्य में ही तू लग जा।

जोगी जोग जुगति अति पावै, तन में मनहिं समावै जू।
असित पक्ष शशि सम भोजन घटे, यों ही नींद घटावै जू॥१२॥

और अब कहते हैं कि योगी लोग की युक्तियों से पूर्ण होकर अपने मन को शरीर में तदाकार कर देते हैं (और ज्योति दर्शन के लिये) कृष्ण-पक्ष में चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार भोजन घटाते और शुक्ल-पक्ष में बढ़ाते हैं। इसी तरह नींद भी घटाते हैं अर्थात् मास-चान्द्रायण व्रत करते हैं।

प्राणायाम पवन इन्द्री दमे, अरु ऊरध रेत चढ़ावै जू।
बसै गिरि-गुहा गेह तजि घन-दिन, सिद्ध लोक जब पावै जू ॥१३॥

योगी प्राणायाम के द्वारा श्वास को रोक लेते हैं, इन्द्रियों का दमन करते हैं; वीर्य की ऊर्ध्व गति कर देते हैं, पर्वत-कन्दराओं में वास करते हैं और गृह का त्याग कर देते हैं। ऐसी साधना बहुत दिनों तक कर लेने के पश्चात् सिद्धलोक की प्राप्ति करते हैं।

तत्त्वा तत्त्व विवेक विचारै, सांख्य-योग धर्म धावै जू।
बहुत काल सेवै सिद्धनि सुख, पुनि अध ही धसि आवै जू॥१४॥

सांख्य योगी तत्वातत्व का विवेक करके सांख्य धर्म को धारण करते हैं। उसके फल-स्वरूप बहुत काल तक सिद्धियों का सुख भोगते हैं। पश्चात् फिर नीचे ही आ पड़ते हैं।

बिनु हरि भजन रीति तिनकी यह, श्री भागवत बतावै जू।
विधि मुख कह्यौ लह्यौ ताकौ फल, श्री मुख आपुन गावै जू॥१५॥

श्रीमद्भागवत ही यह रीति बताता है कि श्री हरि के भजन बिना ही इन (सांख्यवादी और योगियों की यह दुर्गति होती है। इसका वर्णन ब्रह्मा ने अपने मुख से किया है और वही श्री हरि ने भी श्रीमद् भगवत् गीता में भी कहा है-

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोके विशंति।

अर्थात् वे उस सुख को स्वर्ग लोक में भोग कर पुनः मृत्युलोक में आ गिरते हैं।

अति तप तपै पञ्च पावक करि, गिरि गिरि तें तन पारै जू।
औरौ तप भुवराज करै, नश्वर सुख तिनहिं बिचारै जू॥१६॥

सांख्यवादियों और योगियों की गति के बारे में आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि वे पंचाग्नि तथा और भी अनेक प्रकार के तप तपते हैं तथा शरीर को पर्वत से गिराकर छोड़ते हैं। इस प्रकार के और भी तपों का फल यही पाते हैं कि कुछ काल पृथ्वी पर राज्य करते हैं। किन्तु विचार पूर्वक देखा जाय तो यह सुख नश्वर है।

इन्द्री दमें महा कष्टनि करि, फिर बाढ़ै सुख वा तें जू।
पूर्व वैर समुझि उतपथ चलि, लै जम वश कियौ तातें जू ॥१७॥

पहले इन्द्रियों का दमन करके तपस्वी उन्हें वश में करते हैं, फिर यदि कदाचित् इन्द्रिय-सुख की लालसा हो गई तो वही इन्द्रियाँ अपना पूर्व का वैर सम्हालकर उस व्यक्ति को कुमार्गगामी बना देती हैं और उसका सर्वनाश करके उसे यमराज के हवाले कर देती हैं।

इन्द्रियों के वश में होने से सर्वनाश कैसे होता है; यह श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में कामादि वाक्य में कहा है-कामदेव कहते हैं कि हे प्रभो! अभक्त और विषयी लोग जो तप करते है वे मेरे अथवा काम के वश में आ ही जाते हैं। क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, वर्षा-पवन, स्वाद, स्त्री-संग, रूप अपार समुद्र को कोई विरले ही पार करते हैं। आपकी माया से हत-बुद्धि बहुत से लोग तो क्रोध के कीचड़ में जो गोपद के समान है, डूब जाते हैं। जो कामादि सुख नरकों में भी प्राप्त

हो सकते हैं उन्हें ये अज्ञानी जन क्षणिक सुख के लिए श्री हरि से माँगते हैं। उन श्री हरि से; जिनके चरण संसार-सागर से पार करने के लिए सुदृढ़ नौका है।

कोटि कल्प सुख जो भुगतै, पाछें फिरि सो दुख पावै जू।
दुख साँचे सुख सकल सुपनसम, भक्ति बिना जो धावै जू ॥१८॥

पुण्यों के प्रभाव से कोई भले ही कोटि कल्पों तक सुख प्राप्त करले पर अन्त में उसे दुःख तो मिलेगा ही और श्री हरि की भक्ति के बिना तो संसार में दुख ही यथार्थ रूप में मिलते हैं; (संसार दुःख रूप ही है) किन्तु सुख तो स्वप्न में भी नहीं मिल पाता। भक्त के लिये दुःख हैं ही नहीं। श्रीमद्भभागवत में कहा है-

भूतानां देव चरितं दुखाय च सुखाय च।
सुखायै वहि साधूनां त्वादृशा मच्युतात्मनाम्॥
समाश्रिताये पद पल्लवंप्लवं
महत्पदं पुण्य यशो मुरारेः।
भवांबुधिर्वत्स पदं परं पदं
पदं पदं यद्विपदां न तेषाम् ॥

अर्थात् प्राणिमात्र के लिए यह संसार दुःख रूप है किन्तु श्री हरि परायण भक्तों के लिए तो सदा ही सुख रूप है। हे मुरारे! जो आपके पाद-पल्लवों के समाश्रित हैं उनके लिये यह संसार गोवत्स पद के समान है। उसे पद-पद पर परम पद है। विपत्तियाँ तो उसके लिए हैं ही नहीं।

जोग जज्ञ तप दान आन तें, विषय बढ़त अति भारी जू।
अति विषयी ममता मति जिनकी, अन्त विधुर गति कारी जू॥१९॥

योग, यज्ञ, तप, दान और वेद-मर्यादा से तो विषयों की ही वृद्धि ही होती है। जो विषयी लोग हैं उनकी इन विषयों से और ममता बढ़ती ही जाती है किन्तु ये विषय चिर स्थायी न होने से अन्त में विधुर बना जाते हैं अर्थात् वियोग दे जाते हैं।

क्षत्री-धर्म शूर रन-शूरो, सनमुख रन तन पारै जू।
स्वर्गनायिकनि संग सुख भुगतै, अन्त अवनि गहि डारै जू॥२०॥

क्षत्रियों का धर्म शूर-वीरता है। वे रण में चढ़कर शूरवीरता करके वीर-मृत्यु को प्राप्त करते हैं। उसके फल-स्वरूप स्वर्ग में स्वर्ग-नायिकाओं (अप्सराओं) के साथ सुख भोगकर अन्ततः, इसी पृथ्वी पर आ गिरते हैं।

चारवाक-छपनक-जैनी अरु, मायावादी जेते जू।
शैवी, काल, अनीश्वरवादी, पाशुपतादिक ते ते जू॥२१॥
सांख्य, बौद्ध, अरु न्याय, तर्क मत, चलत ते जम वास पठाये जू।
सुर-अरि-नाश सुरनि के कारन, शिव आपुन बौराए जू॥२२॥

चार्वाक, क्षपणक, जैन, मायावादी, शैव, कंकाल, अनीश्वरवादी पाशुपत, सांख्य बौद्ध, तर्क-वादी नैयायिक आदि जितने भी मत हैं वे सभी यम के पाश में जावेंगे। देवताओं के हितार्थ देव-शत्रु राक्षसों को श्री शंकरजी ने अपनी माया से बौरा दिया है; इसी से ये उत्पथगामी हो गये हैं।

भगवान शंकर द्वारा विमोहित किये जाने का वर्णन पद्म पुराण में शिव-पार्वती संवाद में इस प्रकार दिया गया है।

श्री पार्वती जी - हे भगवान् आपने पाखंडियों के दर्शन, स्पर्श और संलाप का भी निषेध किया, सो भी उसे गर्हित से भी गर्हित बता कर। अतः आप कृपा करके कहिये कि वे पाखण्डी किस प्रकार के हैं, वे कैसे पहिचाने जाते हैं और उनके चिह्न क्या हैं?

श्री शंकर जी-हे पार्वति! जो कपाल, भस्म, अस्थि तथा बिना वानप्रस्थ आश्रम लिये ही जटा और वल्कल आदि धारण करते हैं वे पाखण्डी हैं। ये सब के सब अवैष्णव चिह्न हैं। अधिक क्या कहा जाय? अवैष्णव ही क्यों न हो, भूलकर कभी भी उन्हें न देखे, न स्पर्श करे और न उसने बात-चीत करे। शंख, चक्र, ऊर्ध्व पुण्ड्रादि चिह्नों से युक्त वैष्णव-गण ही श्री हरि के प्रियतम हैं। इन चिह्नों से रहित ब्राह्मण भी पाखण्डी ही हैं, ऐसा जानना चाहिए॥२।४॥

पार्वती जी-भगवान् ! आप देवताओं में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। मैं आपसे एक परम गुप्त बात पूछती हूँ। आप कृपया प्रीति-पूर्वक उसका निरूपण करके मेरे समस्त संशयों का छेदन कीजिए। आपने कहा कि कपाल, अस्थि, चर्म और भस्म धारण करना श्रुति-गर्हित है। फिर आपने उन्हें किस कारण से धारण कर रखा है? प्रभो! आप महामति हैं, मैंने स्त्री-स्वभाव की चपलता वश जो कुछ पूछा है उसे क्षमा करें। हे महेश्वर! महानुभावों का कथन तो सभी के लिए मान्य है-कर्त्तव्य है (अतएव मैं भी आपसे श्रवण करके अपने यथोचित कर्त्तव्य का निर्णय करूँगी।) ॥५-७॥

शंकर जी- हे देवि! मैं तुमसे एक परम अद्भुत और परम-गुह्य बात कहता हूँ, सुनो! इसे तुम किसी भी व्यक्ति से न कहना; यह बड़े रहस्य का विषय है। हे सुव्रते! हम और तुम कहने को ही दो हैं वास्तव में तो हमारा-तुम्हारा अपृथकत्व ही है; इसलिए तुमसे कहने में कोई आपत्ति भी नहीं॥८॥

पहिले स्वायम्भुव मन्वन्तर में नमुचि आदि बहुत से महा दैत्य थे। वे सब के सब बड़े बली, महा पराक्रमी, महा यशस्वी और अमित परिवार वाले थे। साथ ही वे सभी धर्म-परायण, शुद्ध और समस्त पापों से रहित थे। उन्होंने वेद-त्रयी के धर्म और कर्मों का अच्छी तरह से पालन किया जिससे इन्द्र और देवताओं का तेज एवं

बल घटने लगा। तब सभी देवता लोग भय से कातर हुए भगवान् विष्णु के समीप, उनकी शरण में गये और उन्होंने प्रार्थना की कि हे प्रभो! ये निर्द्धूत कल्मष (पापों से रहित) दैत्यगण अजेय हो गये हैं। हे केशव! उन अजेय महा दैत्यों को जीतने में केवल आप ही समर्थ हैं अतएव हम पर कृपालु होइये॥९।१३॥

देवताओं की प्रार्थना सुनकर भगवान् विष्णु ने मुझ से कहा-हे महाबाहु रुद्र! तुम मेरी आज्ञा से इन सुर द्वेषी दैत्यों का मोहन करने के लिये पाखण्ड रूप धर्म का आचरण करो और उन असुरों के लिए तामस-पुराणों का कथन भी करो एवं मोहन-शास्त्रों की भी रचना करो। भविष्य में जो मेरे अभक्त लोग ऋषि-ब्राह्मण आदि होंगे उन्हें ही इन तामस शास्त्रों का अध्ययन कराना। ये लोग मेरी शक्ति से विवश होकर ग्रहण भी करेंगे। वे तामस शास्त्रों का ग्रहण करने वाले ब्राह्मण क्रमशः कण्व, गौतम, उपमन्यु, जैमिनि, कपिल, दुर्वासा, मृकण्डु, बृहस्पति, भार्गव और यमदग्नि हैं। ये दस तामस ऋषि हैं, ये तुम्हारी शक्ति को ग्रहण करके जगत् का अहित करेंगे। अवश्य ही ये तुम्हारी शक्ति से आविष्ट हुए क्षण मात्र में तमोगुण रूप हो जावेंगे; इसमें कोई संशय ही नहीं है॥१४-२०॥

विष्णु ने आगे कहा-हे शंकर! तुम तो सदा ही सत्व-गुण में स्थित रहोगे, किन्तु ये दस ब्राह्मण अपने तामस-ज्ञान से त्रिलोकी को भर देंगे। तुम कपाल, अस्थि, चर्म और भस्म धारण करो; तुम्हारी देखा-देखी ये लोग भी करेंगे और इस प्रकार ये पाखण्ड-चिह्न क्रमशः फैल जायेंगे और उनसे त्रिलोकी मोहित हो जायगी। और हे सुर श्रेष्ठ; हे सुव्रत! तुम पाशुपत शास्त्र की रचना करो, जिसके कंकाल, शैव, पाखण्ड और महा शैव भेद हों। तुम्हारे इस वेद-बाह्य मत को द्विजाधाम लोग सम्यक् रूप से आदर और ग्रहण करेंगे एवं भस्म, अस्थि आदि धारण करके सभी अपने आपको भूल जायेंगे-पाखण्डी हो जावेंगे। साथ-साथ मैं भी अनेक युगों में अवतरित हो होकर तुम्हारे उस (अशिव, अमंगल, पाखण्ड) रूप का पूजन करता

रहूँगा, इससे वे तामस जन अवश्य ही मुझसे विमुख हो जावेंगे। हे महा बलशाली! इसमें सन्देह नहीं, यह कार्य बहुत शीघ्र ही पूर्ण होगा ॥२१-२५॥

शिवजी ने कहा-हे भामिनि! भगवान की बात सुनकर मेरा मन बड़ा उद्विग्न और दीन हो गया। मैंने सोचा भगवान ने जो कहा है उससे सभी लोग अपने-अपने धर्म से पतित हो जायेंगे। इससे तो अकल्याण ही अकल्याण है, अतएव मैंने उनके चरणों में नमस्कार करके परमेश्वर भगवान् वासुदेव से कहा -- 'हे देव! इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि आपके कहे हुए इस पाखण्ड धर्म का मैं आचरण करूँगा तो मेरा नाश हो जायगा। हे प्रभो! आपकी इस आज्ञा का पालन करने में मेरी पूर्ण असमर्थता है। साथ-साथ आपकी आज्ञा का उल्लंघन होने का दुःख भी है॥२६-२९॥

हे देवि! मैंने जब इस प्रकार कहा तो मेरी बात को सुनकर भगवान विष्णु ने भली प्रकार सान्त्वना देते हुए मुझ से कहा-वत्स! इस कार्य से तुम्हारा नाश न होगा। देवताओं के हितार्थ तुम मेरी आज्ञा का पालन करो। हे सुरश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी शान्ति और जीवन-कल्याण के लिए एक बहुत उत्तम उपाय बताता हूँ। हे महाबाहु! यह मेरा 'सहस्त्र नाम' है। तुम इसका जप करो तथा मेरे इस अव्यय-मंत्र का जाप करते हुए अपने हृदय में मेरा ध्यान करो। 'मेरा ध्यान है पीतवस्त्र-धारी चतुर्बाहु राधिका प्रिय श्रीकृष्ण; और मंत्र है 'ॐ श्रीकृष्णाय नमः'॥ यह मंत्र सर्वोत्तम, सर्व दुःखहारी, और पापियों को भी मुक्ति देने वाला है। इसके जप से तुम सदा पवित्र रहोगे। भस्म, अस्थि के धारण करने से जो पाप होंगे-अमंगल होंगे वे सभी इस मंत्र के प्रभाव से --उच्चारण मात्र से--अवश्य ही उसी क्षण मंगल रूप हो जावेंगे। हे सुरोत्तम! मै स्वयं ही सदा तुम्हारे हृदय में विराजकर तुम्हारे चित्त के तापों का शमन करता रहूँगा तथा तुम्हारे हृदय में मेरे सिवाय किसी अन्य देवता की भक्ति आ ही नहीं सकेगी। हे शम्भो! तुम मन में तथा वाणी में मुझ पुरुषोत्तम

हरि को बसा कर फिर मेरी ही प्रीति के लिये मेरी सभी आज्ञाओं का पालन करो। तुम्हारा कल्याण ही होगा॥३०-३७॥

शंकर जी ने कहा--हे देवि! भगवान् मुझे ऐसी आज्ञा देकर वहीं देवताओं के सामने ही अन्तर्धान हो गये। तब सब देवता सुख-पूर्वक अपने-अपने धाम में आकर मुझसे प्रार्थना करने लगे -- 'हे शंभो! श्री हरि ने जो कुछ कहा है आप उसका शीघ्र पालन कीजिये।' अतएव हे पार्वति! देवताओं के हितार्थ ही मैंने यह पाखण्ड-वृत्ति धारण की है और तभी से ये कपाल, अस्थि, भस्म और चर्म मैंने धारण करना प्रारम्भ कर दिये एवं विष्णु भगवान् की आज्ञानुसार ही इन तामस पुराणों और पाखण्ड-शास्त्रों का मैंने भली प्रकार वर्णन किया। मेरे इसी पाखण्ड रूप को देखकर ये असुर मोहित हो गये तथा सभी विष्णु-विमुख और तामसी हो रहे। और तभी से ये सब भस्मास्थिधारी, महा-उग्र, तमो-गुणी, मांस-भोगी, रुधिर रूप चंदन से मेरी पूजा करने लगे। मुझसे वर पा-पा कर ये बड़े बली, अहंकारी, उद्धत, काम-क्रोध और मद-परायण तथा विषयासक्त हो गये। फलतः ये सत्व-हीन, तम-प्रधान, नष्ट-वीर्य (शक्तिहीन) हो गये और देवताओं द्वारा जीत लिये गये। इस प्रकार सब धर्मों से भ्रष्ट हुए ये असुरगण कुछ काल में और भी अधम गति को प्राप्त होंगे । देवि! पृथ्वी पर जो कोई भी मेरे इस मत का आचरण करेंगे वे सभी धर्मों से रहित होकर अवश्य ही नरकों में जावेंगे॥३८-४६॥

हे देवि! इस प्रकार मैंने असुरों को मोहित करने के लिए अस्थि, चर्म और भस्म आदि भगवान् विष्णु की आज्ञा से धारण किया है, यद्यपि यह वृत्ति निंदित है फिर भी मैंने इसमें देवताओं का हित देखा, इससे भगवान् की आज्ञा मान ली। हे भद्रे! मेरे बाह्य चिह्न तो केवल असुरों को मोहित करने के लिए हैं। वास्तव में मेरे हृदय में सदा ही भगवान जनार्दन विराजमान हैं तथा मैं उनके दिए हुए यदु-कुल-बर्द्ध न श्रीकृष्ण-मंत्र का सदा जप भी करता रहता हूँ, जिससे मेरे हृदय में महा

आनन्द का एक महासमुद्र लहराता रहता है, जिससे मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त है। हे शुभे ! मैं उन आनन्द-दाता श्री हरि के चरणों में बारम्बार नमन करता हूँ जिन्होंने यह दया की है॥४७-५०॥

हे देवि! तुमने जो कुछ पूछा था; मैंने वही सब तुमसे कह दिया अब और तुम्हारी क्या सुनने की इच्छा है; पूछो।

शंकर जी की बात सुनकर पार्वती ने कहा-हे सुरेश्वर! हे अनघ! अब आप कृपा करके मुझसे उन पाखण्ड शास्त्रों का वर्णन कीजिये जो उक्त दास ब्राह्मणों द्वारा लोक में प्रचारित हैं तथा पृथक्-पृथक् उनके नाम भी बताइये। इन भगवद्भक्ति वर्जित ग्रन्थों के सम्बन्ध में जानने की मेरी प्रबल इच्छा है।।५१-५२॥

पार्वती की बात सुनकर शंकर जी ने कहा-देवि! सुनो मैं तामस शास्त्रों का यथा-क्रम वर्णन करता हूँ जिनके श्रवण मात्र से ज्ञानी भी पतित हो जाते हैं। प्रथम मैंने पाशुपात और शैव शास्त्र कहे; जिनका आश्रय लेकर उक्त दसों ब्राह्मणों ने अनेक शास्त्रों की रचनाएँ कीं। उनका क्रम इस प्रकार है--

कण्वादि ने वैशेषिक महाशास्त्र कहा। गौतम ने न्यायशास्त्र, कपिल ने सांख्य शास्त्र, विषण ने अतिनिन्दित चार्वाक शास्त्र की रचना की। दैत्यों का नाश करने के लिए बुद्ध रूप स्वयं विष्णु ने ही बौद्ध असत्शास्त्रों का वर्णन किया जिसके अनुयायी नील वस्त्र धारी होते ह। यह मायावाद का महान् असत्शास्त्र बुद्ध के द्वारा कहा गया है। हे देवि! मैंने ही कलियुग में ब्राह्मण का रूप धारण करके वेद-वाक्यों का विरुद्ध अर्थ करके महाशास्त्र वेदान्त का प्राकट्य किया । इस शास्त्र में अपने कर्म और रूप का परित्याग और जीव को ही ब्रह्म बताया गया है तथा उस ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण बताया गया है। कलियुग में समस्त जीवों को मोहित करने वाला माया-वाद का

वेदार्थवत् यह वेदान्त महाशास्त्र है। इस तरह मने ही असुर-मोहन के लिए विविध शास्त्रों की रचनाएँ कीं। वैसे ही; जैसे सुस्वर गान से मृग मोहित किए जाते हैं अथवा जैसे मछली के लिए मृत्युदायक बलि या काँटे होते हैं; उसी प्रकार कुयोगियों के लिये ये कुशास्त्र हैं। ये असुर जातियों के ही लिये हैं, न कि हरिदासों के लिये॥५३-६२॥

हे देवि! कलियुग के खलों का नाश करने के लिये मैंने ही ये शास्त्र कहे हैं। द्विजन्मा जैमिनि ऋषि ने जो निरीश्वरवाद कृत महानतर शास्त्र वर्णन किया है वह भी पहिले मेरे द्वारा कह दिया गया था। हे गिरिजे! ये इतने शास्त्र तामस हैं इन्हें अच्छी तरह जानकर ध्यान में रखो॥६३-६४॥

और भी पद्मपुराण में इस कथा के समापन में कहा गया है-

> द्वापरादौ युगेभूत्वा कयलामानुषादिषु।
> स्वागमैः कल्पितैस्त्वंच जनान्मद्विमुखान्कुरु॥
> इदं भक्तिशास्त्रेष्वपितंत्रवाक्य
> निदृश्यं ते त्याशंक्य निद्धीरम्।
> मात्स्योक्रीत्याज्ञेयं। तामसेषुचतद्ग्राह्यं भगवद्धर्म योगियत॥

श्री भगवान् कहते हैं, 'हे शंकर! तुम द्वापर के आदि में मनुष्यों में अपनी कला का स्थापन करके कुछ कल्पित आगमों की रचना कराओ और उनके द्वारा असुरजनों को मुझसे विमुख करो।'

अब यदि कोई कहे कि भक्ति शास्त्रों में जो प्रमाण माने गए हैं वे भी तंत्र-योग, सांख्य आदि तामस शास्त्रों के हैं, अतएव तामस शास्त्रों के प्रमाण कैसे उचित हैं? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देते हैं कि तामस शास्त्रों में भी जो बातें भगवद्धर्म योग्य हैं, वह अवश्य ही ग्रहण करने योग्य हैं।

उत्तम काल देश वित उत्तम, जो द्विज उत्तम पावै जू।
मन वच कर्म त्रिशुद्ध धरै व्रत, ऐसें यज्ञ सिरावै जू॥२३॥

कर्मकाण्ड की सफलता पर कहते हैं कि यज्ञ तभी पूर्ण होता है जब उत्तम समय, उत्तम देश, उत्तम धन और उत्तम ब्राह्मण के द्वारा कराया जाय तथा मन, वचन तथा कर्म तीनों की पूर्ण पवित्रता का व्रत लिया जाय। यह कर्म-काण्ड की

दुरूहता है जिसका पूर्ण होना प्रायः कठिन-सा ही रहता है।

तनक विघ्न नाशहि जु सकल फल, कोटि टका जो लावै जू।
विघ्न बिना भुगतै जु स्वर्ग सुख, पुनि अधहि धसि आवै जू॥२४॥

यदि इस यज्ञ रूप कर्म-काण्ड में थोड़ा-सा भी विघन हो जाय तो करोड़ों रुपए खर्च करने पर भी कुछ नहीं होता। यज्ञ का फल नाश ही हो जाता है। और यदि सौभाग्यवश यज्ञ पूर्ण हो गया तो उसका इतना ही फल है कि कुछ समय के लिये स्वर्ग का सुख भोग मिल जाता है, किन्तु अन्ततोगत्वा उसको इसी पृथ्वी पर फिर आना पड़ता है। 'पुनि अधि ही धँसि आवै जू' इस प्रसंग में वामन-पुराण में उमा-महेश संवाद दृष्टव्य है--

पूर्त्तेष्ट दानानि मखावृत्तानि
तपांसि तीर्थानि यमादि योगाः।
हरिं विनातानि निबंधनानि
फलं हितेषां हरि तोषणं कौ॥
विमोहितास्ते नितरांहि वेदैः
संदिृश्यतैर्यज्ञ फलैरनित्यैः।
प्रलोभयित्वा प्रथितान्प्रियान्तान्
पुनः पुनः संसरणाय भोगान्॥

इष्टा पूर्त, दान, यज्ञ, व्रत, तप तीर्थ-सेवन, यम योग आदि सभी श्रीहरि के बिना होने पर केवल बन्धन के ही कारण हैं। हाँ, यदि श्रीहरि के निमित्त किये जायँ और वे उनसे प्रसन्न हों तो अवश्य उनका फल मिल गया समझना चाहिये। यज्ञादि अनित्य फल का लोभ दिखा कर वेदों ने मानों सभी को ठग लिया। इसी से प्रलोभित चित्त सकामी लोग उन प्रिय विषयों के लोभ में फँसे संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं।

श्रीमद् भगवत् गीता में कहा है--

यज्ञार्थी कर्मणो यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त संगः समाचरेत्॥

जो कर्म भगवान् के लिये किया जाता है उसके अतिरिक्त सभी कर्म बन्धनकारक हैं, अतएव हे अर्जुन! तू उन कर्मों में फल की आशा छोड़ कर उनका आचरण कर।

कर्म धर्म तीरथ व्रत संयम, इनके मारग न्यारे जू।
आवागमन मिटै नहिं तिनतें, साधुनि सोधि विचारे जू॥२५॥

साधुओं ने भली प्रकार इसका शोध और विचार करके यही निर्णय किया है कि कर्म, धर्म, तीर्थ, व्रत और संयमादि के मार्ग कुछ दूसरे ही हैं। इनसे आवागमन किसी प्रकार भी नहीं मिटता।

जैसे धरनि जरत तृन पल्लव, वैसेई अंकुर करई जू।
तैसें नर कर्मनि के बाँधे, तैसेई तन पुनि धरई जू ॥२६॥

जीव के आवागमन के प्रसंग में अब कहते हैं कि जिस प्रकार ज्येष्ठ आदि मासों में पृथ्वी जल उठती है; किन्तु, इससे बीजों का नाश तो दूर रहा उस जगह और भी अधिक अंकुर उठते हैं। इसी प्रकार मनुष्य कर्म-धर्मों से बँधे हुए फिर-फिर शरीर धारण करते हैं। अर्थात् कर्म-मार्ग में पड़े रहने से आवागमन नहीं छूटता।

मिटै नहिं भव ताप त्रिविधि, हरि भक्ति बिना निज नाँधे जू।
अंध आंधरहि डोरि गिरै ज्यों, निगम गिरा - रजु बाँधे जू ॥२७॥

श्री हरि-भक्ति के बिना त्रिविध (आध्यात्मिक; आधि दैविक और आधि भौतिक) भव-ताप नहीं मिटते वल्कि उस जीव का बन्धन बना ही रहता है। जिस प्रकार एक अन्धे का यदि दूसरा अन्धा आश्रय ले तो अवश्य गिरेगा, बस ऐसे

वेद-वाणी रूप रज्जु ने सबको बांध रखा है। अर्थात् जीव स्वयं अन्धा है वह अपनी अहंता, ममता से स्वयं ही भूल रहा है, अन्धा हो रहा है। उस पर और वेद वाणी ने विधि-निषेध के बन्धनों से उसे जकड़ रखा है। फिर भला वह उससे कैसे छूट सकता है। छूटने का एक ही उपाय केवल हरि भक्ति है। 'मिटै नहीं भव ताप त्रिविधि' - इस कथन की पुष्टि श्रुति वाक्य से भी होती है:-

किमर्थ वयमध्येस्यामहे। किमर्थं वयं यक्ष्यामहे।।

अर्थात् क्यों वेद पढ़ा जाय, यज्ञ क्यों किये जायें? और भी, भागवत में:-

भ्रमयति भारतीत्व उरु वृत्ति भिरुक्य जडान्।।

वेद वाणी कर्म जड़ पुरुषों को भ्रमित कराती ही रहती है।

भक्ति तेज ये कर्म धर्म अंकुर सब जरि के जाहीं जू।
महा सकल सुख सिन्धु मध्यहिं परमानन्द सुख समाहीं जू ।।२८।।

भक्ति के तेज से-प्रताप से-सभी कर्म धर्मों के अंकुर जलकर भस्म हो जाते हैं और वह भक्तिमान् व्यक्ति समस्त सुख सिन्धुओं के मध्य महामहिम परमानन्द सुख सिन्धु सें समा जाता है- डूब जाता है। 'भक्ति तेज सब....जाहीं जू' के प्रमाणार्थ आदि पुराण में कहा है:-

कर्माधीनं जगत्सर्वं विष्णुनानिर्मितं पुरा।
तत्कर्मकेशवाधीनं नाम मात्रेण नश्यति।।

सारा जगत् कर्म के अधीन है क्योंकि भगवान् विष्णु ने ही ऐसा बनाया है किन्तु वही कर्म भगवान केशव के अधीन है जो उनके एक नाम के उच्चारण मात्र से नाश

---

१. पुरश्चरण-तांत्रिक पद्धति से मंत्र पंचांग पूर्वक अनुष्ठान।
२. प्रायश्चित-के अनेकों भेद हैं। पापों के प्रक्षालन के लिए वेद शास्त्रों में कृच्छ चाद्रायण आदि व्रतों का बड़े विस्तार से वर्णन है। वहां देखना चाहिए।

हो जाता है।

गरल अमी न कनक लोहतें कोटिक वारनि गारहु जू।
पारस के परसें जैसें ऐसें हरि भक्ति निहारहु जू।।२९।।

जैसे विष से अमृत और लोहे से सोना नहीं होता, चाहे करोड़ों बार प्रयत्न भले ही करते रहो, इसी तरह यज्ञादि कर्मों से जीव अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता। और जिस प्रकार पारस मणि के स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है, ऐसे ही हरि भक्ति से जीव पावन होकर भगवान को प्राप्त कर लेता है। भक्ति का प्रताप इस तरह देखना चाहिए।

पुरश्चरन तें होइ न निर्मल ज्यों प्राछित विचारहु जू।
होइ न शुद्ध सुरा-घट जैसे जो सुरसरी पखारहु जू।।३०।।

कहते हैं कि पुरश्चरण[१] और प्रायश्चितों[२] से कोई भी पवित्र नहीं हो सकता। जिस

प्रकार मदिरा-कलश सुरसरि गंगाजी में धोने पर भी पवित्र नहीं हो सकता। अर्थात् जीव की आत्यान्तिक शुद्धि तो केवल हरि भक्ति से ही होती है।

ता तजि भक्त आन नहिं जाँचत स्वर्ग धरनि सुख जेते जू।
प्रगट पन्थ भय-हीन सकल सुख शुक मुख वानी वेते जू।।३१।।

भक्त लोग उक्त-कथित भक्ति को छोड़ कर और कुछ स्वर्ग अथवा पृथ्वी के सुखों की याचना नहीं करते। वह भक्ति अच्छी तरह प्रकट है, वह सर्वथा भयहीन है, उसमें सब सुखों का निवास है; शुकदेवजी ने अपनी वाणी (श्रीमद्भागवत) में उसका स्पष्ट निरूपण किया है।

कीट भृंग गति होइ कृष्ण भजि नेह वैर उर आवै जू।
गौ शिशु चरन समान तरै भवसागर साधु बतावै जू॥३२॥

भगवान श्रीकृष्ण के प्रति यदि स्नेह या वैर का ही भाव धारण करले तो उसकी कीट-भृङ्ग की सी गति हो जाती है अर्थात् उसके लिये श्रीकृष्ण के सिवाय और कुछ नहीं रह जाता। साधु जन ऐसा बताते हैं कि वह फिर तो इस संसार सिन्धु को गो-वत्स के खुर के समान पार कर जाता है।

स्नेह से नन्द, यशोदा, गोप, गोपी आदि तथा सभी भक्त ध्रुव, प्रह्लाद आदि भव से पार हो गए एवं वैर से शिशुपराल, कंस, पौण्ड्र, शाल्व आदि। पद्म पुराण में कहा है-

इन राजाओं ने पूर्वकृत के ही अनुसार भगवान श्रीकृष्ण से वैर किया है और उसी वैर के प्रभाव से अपने आपको उनमें लीन किया है। जिस प्रकार झिल्ली कीड़ा भृङ्ग के भय से अपना शरीर भूल कर भृङ्ग हो जाता हैं।

हरै हुतासन-तेज शीत ज्यों फटिकहि मैल न लागै जू।
कृष्ण भक्ति मन महि आवै तव अशुभ-रासि उठि भागै जू॥३३॥

जिस प्रकार अग्नि का तेज शीत का हरण कर लेता है और जैसे स्फटिक मणि में मैल नहीं लगता, उसी प्रकार जिस समय श्रीकृष्ण-भक्ति हृदय में आ विराजती है, उसी समय अशुभ (पाप आदि के संस्कार रूप मल) राशि दूर उठ भागती है। अर्थात् हृदय में भक्ति आ जाने पर सभी विघ्न-बाधाएं (पाप-ताप) दूर हो जाती हैं।

स्फटिक शिलामलः क्वचिदस्तु
मनसि नृणां क्वच मत्सरादि दोषः।

नहिहिममयूषराश्मि पुंजे
भवति हुताशनदीप्तिजं प्रतापः ॥१३५॥

जैसे कभी स्फटिक मणि में मल नहीं लगता, उसी तरह भक्ति-पूरित हृदय में कभी भी मत्सरादि दोष आ ही नहीं सकते जैसे कि अग्नि के प्रबल प्रताप के समाने हिम की शीतल रश्मि-माला नहीं ठहर सकती। जिस प्रकार तन्त्र में भी कहा है-

यथासमस्त लोकानां। जीवनं सलिलं स्मृतं ।
तथा समस्तसिद्धीनां । जीवनं भक्तिरिष्यते ॥

जिस प्रकार लोक में समस्त प्राणियों का जीवन जल कहा जाता है। उसी प्रकार सब सिद्धियों का जीवन केवल भक्ति ही है-अन्य कोई नहीं। मुक्ति ज्ञान से सुलभ है और भुक्ति यज्ञादि पुण्यों से। किन्तु यह भक्ति सहस्रों साधनों द्वारा प्राप्त होने में अति दुर्लभ है।

ज्यौं जान अजान छियें पावक जरै हरै पाप हरि गावै जू।
धाम काम कृत करत रात दिन कृष्ण कथा मन लावै जू॥३४॥

जिस प्रकार जाने या बिना जाने समझे भी स्पर्श करने से अग्नि जला देती है, उसी प्रकार यह श्रीकृष्ण-भक्ति चाहे जिस प्रकार भी की जावे (अर्थात् 'भाव कुभाव अनख आलस हूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥'); पापों का हरण कर लेती है। इस भक्ति का साधन बस इतना ही है कि घर के काम-धन्धे तथा अन्य कृत्यों को करते हुए भी रात-दिन श्रीकृष्ण-चरित्र में अपने मन को लगाए रखें।

सुत धन कुल कर्मनि मदमाते ऐसी भक्ति विसारत जू।
भक्त अनन्य अकिञ्चन के लै पाप ते उन शिर डारत जू॥३५॥

पुत्र, धन, कुल और कर्मों के मद से मत्त हुए लोग ऐसी (परम सुलभ, सुखद

सरल) भक्ति को भुला देते हैं। इन्हीं प्राणियों के सिर में भगवान वह पाप ला पटकते हैं जो उनके अनन्य भक्तों के द्वारा कभी भूल में पहले हो गया था।

तौ लगि हैं त्रय-ताप पाप अरु देह स्वभाव सु त्राशत जू।
नवधा मध्य एक मन माने सकल अमंगल नाशत जू।।३६।।

अब नवधा भक्ति का महत्व सूचित करते आगे कहते हैं कि इस प्राणी को पाप, देह और स्वभाव तभी तक जलाता है और तभी तक तीनों ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) भी हैं जब तक इसने भक्ति नहीं की। अरे! नवधा में से एक भी भक्ति हृदय में आते ही इसके समस्त अमंगलों का नाश हो ही जायगा। यथा श्रीमद्भागवत में इस प्रकार दृष्टव्य है-

एतै रूपद्रितो नित्यं जीव लोक स्वभाव जैः।
न करोति हरेर्नूनं कथामृत निधौ रतिम्।।

स्वभाव-जन्य उपद्रवों के द्वारा जीव इस लोक में तभी तक सताया जाता है जब तक यह भगवान श्रीकृष्ण के लीला कथा रूप अमृत-समुद्र में रति नहीं करता।

भक्ति सुलभ सुख रासि अकुण्ठित साधुनि सोधि बताई जू।
जग जगमगै प्रतापहि देखियतु तातें मो मन भाई जू।।३७।।

क्योंकि साधुओं ने शोध करके यही बताया है कि भक्ति सुलभ, सुख की राशि एवं अकुण्ठित (जो किसी के द्वारा रोकी न जा सके; सर्व तन्त्र स्वतन्त्र) है। इसका जगमगाता हुआ प्रताप जगत् में स्पष्ट दीख रहा है, इसीलिये यह भक्ति मुझे प्रिय लगी है-मेरे मन भा गई है। और भी; ब्रह्म-वैवर्त पुराण में--

भक्त्या मुक्त्यादि दास्याः प्रसिद्धाः।

कहा है कि यह प्रसिद्ध ही है कि मुक्ति आदि सभी, भक्ति की दासियाँ हैं। इसी प्रकार बृहन्नारदीय पुराण में--

हरि भक्तयाः महादेव्याः सर्वामुत्क्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भु तस्तस्याश्चेटिका तदनु व्रताः॥

उल्लखित है कि भगवद्भक्ति ही केवल महादेवी है और मुक्तियाँ (कैवल्यादि) सिद्धियाँ, भुक्तियां आदि उसकी अद्भुत दासियाँ हैं जो सदा ही किंकरियों की तरह भक्ति देवी की आज्ञा का अनुवर्त्तन करती रहती हैं। अब आगे इस प्रकार भक्ति की महिमा कह कर उसका अधिकार किसे है यह बताते हैं-

सुपच जनेऊ धरै कर्म करै परै नर्क जग लागै जू।
माला तिलक धरै गुन गावै तबही भव-डर भागै जू॥३८॥

किसी वेदानुकरण करने वाले श्वपच की तुलना करते हुए कहते हैं कि श्वपच यदि (वेद-वादी होकर) यज्ञोपवीत धारण करले और (वेदोक्त) कर्मों का आचरण करने लगे, तो पहले उसे संसार ही पीछे पड़कर चैन न लेने देगा और पश्चात नरक में जायगा, यह बात निश्चय है। अब यदि वही श्वपच तुलसी की माला धारण करले, तिलक-छाप लगा ले और श्रीहरि के गुण गाने लगे तो सारे विश्व का वह प्रिय हो जायगा और समस्त भय (लौकिक एवं पारलौकिक सभी) भाग जावेंगे, वह निर्भय हो जायगा यथा; पद्म पुराण में-

चांडालोपि मुनिश्रेष्ठो विष्णु भक्ति परो यदि।

मुनि से कहा है कि तो वह चाण्डाल ही श्रेष्ठ है, जो विष्णु भक्ति-परायण है। श्री भगवान कहते हैं-

न मेऽ भक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तःश्वपच प्रियः।

मुझे अभक्त चतुर्वेदी प्रिय नहीं; वरन् श्वपच भक्त ही अत्यन्त प्रिय है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी कहा है-

विप्राद्विषड्गुणयुतादरविंदनाभ
पादारविंदविमुखाच्छ्वचं वरिष्ठम्॥

भगवान अरविन्द नाम के चरण-कमलों से विमुख द्वादश गुण संयुक्त ब्राह्मण

श्रेष्ठ नहीं हैं बल्कि भक्त श्वपच ही उससे श्रेष्ठ है जो गुणहीन है।

भक्ति चिन्ह भक्तनि सों रुचि तब जब हरि मनमहिं आवें जू।
ज्यों विषई भाँवती त्रिया के बन्धु सहोदर भावें जू॥३९॥

अब भक्ति के सम्बन्ध में कहते हैं कि भक्ति का यही सबसे बड़ा चिह्न है कि भक्तों से रुचि हो जाय; तभी श्रीहरि भी हृदय में आ जाते हैं। श्रीहरि के हृदय में आने पर उनके प्रिय भक्तगण वैसे ही प्रिय लगते हैं जैसे लम्पट पुरुष को उसकी प्रिया (जारिणी भांवती) के बन्धु सहोदर आदि उसके नाते प्रिय लगते हैं। यथा श्रीमद्भागवत् में-

सतां प्रसंगान्ममवीर्य संविदो
भवंति हृत्कर्ण रसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनी, श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥३/२५/२५॥
रहू गणै तत्तपसा नयाति
नचेज्ययानिर्वपणाद्गृहाद्वा।
न छंदसानैव जलाग्निसूर्यौ विनामहत्पादरजोभिषेकाम्॥५/१२/१२॥

"साधु पुरुषों से संग करने पर मेरी रसमयी लीला कथा सुनने में आती है तब मुझमें श्रद्धा, रति और भक्ति क्रमशः उत्पन्न होती हैं। हे रहूगण! भक्ति न तो तप से प्राप्त होती है न यज्ञ से, न वन में ही वास करने से और न घर में रहकर वेदाध्ययन करने से ही। और तो क्या सूर्य, अग्नि, जल आदि किसी की उपासना करने से भी नहीं प्राप्त होती। वह तो केवल भक्त-महात्माओं की श्रीचरण रेणु का अभिषेक करने से ही मिलती है।

सम्बत सोरह सै चौरासी अधिक द्वै वरष सिरानी जू।
मुरलीधर वर भक्ति चतुर्भुजदास प्रताप बखानी जू॥४०॥

यश का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि संवत सोलह सौ चौरासी के ऊपर और भी दो वर्ष बीतने पर अर्थात् सोलह सौ छयासी में श्रीमुरलीधर श्रीकृष्ण की श्रेष्ठ भक्ति के प्रताप से चतुर्भुजदास ने इस (द्वितीय धर्म विचार यश) का वर्णन किया।

तृतीय
भक्ति प्रताप-यश

त्रिपदी छन्द, राग घनाक्षरी

नमो नमो जै श्री हरिवंश । सुमिरत होइ कलुषता नंश।
विमल भक्ति रति मन बढ़ै।।
हरि-जस-सागर अंत न लहौं। सन्त प्रताप कछू कथि कहौं
दृढ़ प्रतीति करि मन गहै।।
जैसे क्षीर नीर मिलि रहै। हंस निबेरै और न लहै।
यों जु भक्ति भक्तनि लही।।
मिश्रित आगम निगम पुरान। चुनि काढ़ी शुक परम सुजान।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।।१।।

द्वादश यश ग्रन्थ के ग्रन्थकार स्वामी चतुर्भुज दासजी श्री धर्म विचार यश शीर्षक के दूसरे यश में धर्म की मीमांसा करने के बाद अब इस तीसरे भक्ति प्रताप यश में भक्ति की महिमा का गायन करने के लिए अपने आद्यगुरु की वन्दना करते हुए कहते हैं किश्रीहित हरिवंशजी आप को बारम्बार नमस्कार है। आपके स्मरण मात्र से हृदय की मलिनता नष्ट हो जाती है और विशुद्ध भक्ति के प्रति अनुराग बढ़ जाता है। श्रीहरि की कीर्ति रूपी सागर का ही कोई पार नहीं पा सकता, फिर भी सन्त महापुरुषों की कृपा से कुछ अल्प सा यश कहता हूँ। इसे पूरे विश्वास के साथ धारण कीजिए। जिस प्रकार मिले हुए जल और दूध को केवल हंस ही अलग-अलग कर सकता है उसी प्रकार शुद्ध-भक्ति (ज्ञान,कर्म,योग,मिश्रण रहित) केवल भक्त लोग ही प्राप्त कर सकते हैं। वैसे तो वेद, शास्त्र, पुराणादि में मिश्रित भक्ति ही गायी गई है; परन्तु परम विवेकशील श्रीशुकदेव मुनि ने उसे (भागवत पुराण के रूप

में) अलग निकाल कर दिखा दिया है। उसी भक्ति के प्रताप का मैं यहाँ गान करता हूँ। श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी श्रीहरि यश से सन्त-महानुभावों की कीर्ति को महती मानते हैं। इसकी पुष्टि में श्रीमद्भगवत् गीता में भी कहा है-

भक्त्याः मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

हे अर्जुन-मैं जैसा और जितना हूँ उसको तत्त्वतः मेरे भक्त ही जानते हैं। संत प्रताप को दृढ़ता से मन में बसाने का कारण ग्रन्थकार श्री स्वासी जी स्वयं कहते हैं -

कल्याणरूपा हरिभक्तिरित्थं--
कल्याणदासा मनसिस्थितापि।
भक्तिबिना ब्रह्मपदं गतोऽपि-
संसारपाशान्ननिवर्तते च॥

भक्ति-विहीन लोग ब्रह्म पद को प्राप्त करके भी संसार-पाश से नहीं छूटते। इसीलिये यह जानकर कल्याण स्वरूप भक्तों ने कल्याण रूपा भक्ति को अपने मन में स्थित कर रखा है।

नवधा मध्य एक जो करै। भवसागर नारी नर तरै।
ज्यौं अनेक पहिलें तरे॥
जिन जु क्रोध करि चिंतवन कियौ। तिनहूँ सबनि अभै पद दियौ।
ताकी साखी सु कंस-कुल॥
ज्योति अघासुर फिरि भई लीन। सोई गति शिशुपालहिं दीन।
और दुष्ट अगनित तरे॥
पाखण्ड छद्म-भेष जिन धरे। तिनके काज कृष्णजू करे।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥२॥

अब कहते हैं कि नवविधा-भक्ति में से किसी से यदि एक प्रकार की भक्ति भी बन आवे तो चाहे वह स्त्री हो या पुरुष अवश्य ही इस संसार-सागर से तर जायेगा। जिस प्रकार आज तक अनेक जीव तर गए। भक्ति की ही कौन कहे जिसने श्री हरि के प्रति क्रोध करके ही उनका चिन्तन किया उन सबको भी उन्होंने अपना अभय-पद (परम-धाम) दे दिया। इसकी साक्षी कंस का सारा वंश है। इसी प्रकार अघासुर को मार कर उसकी जीवात्मा रूपी ज्योति आपने-आप में लीन कर ली। यों ही गाली देने वाले शिशुपाल को भी वही गति दी। ऐसे-ऐसे अगणित दुष्ट तार दिये। कहाँ तक कहें पाखंड और कपट वेष धर कर भी जिन्होंने भगवान का संग किया उनका भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धार कर दिया। भक्ति की ऐसी महिमा का मैं गायन करता हूँ। नव विद्या भक्ति श्रीमद् भागवत में इस प्रकार कही गयी है--

श्रवणं कीर्तनं विष्णो स्मरणं पादसेवम्।
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन भक्ति के ये नव अंग हैं। जिन्होंने इन नव भक्ति-अंगों में से जिस अंग को सिद्ध किया; उन्हें भगवान का इष्ट-लाभ प्राप्त हुआ।

कपट विष्णु तन कोरी कियौ, ताहू स्वरूप आपुनो दियौ।
मात हेत पूतन करी॥
कोटि जज्ञ तप देहिं जु दान, कृपा न करें वेगि भगवान।
भक्तनि के वश ज्यों भये॥
माँग्यों बलि जु इन्द्र अस्थान, जज्ञ करै हरि कर दियौ दान।
सुतो पताल पठाइयौ॥

तण्डुल-मुठी सुदामा दये, ता कहँ कोटि-इन्द्र सुख भये।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥३॥

पुराणों में ऐसी कथा है कि एक बार एक कोरी ने साधु-सा बनावटी भेष धारण करके किसी राजा के दरबार में आदर-सत्कार पाया। पश्चात् उसे अपने किये कृत्य पर विचार हुआ तो उसने सोचा कि अहो! कपट भेष धारण करने पर तो इतना सम्मान मिला, यदि मैं सच्चा भक्त हो जाऊँ तो अवश्य ही प्रभु कृपा करेंगे। उसने अब ऐसा ही किया। तब श्री हरि ने उसकी पुरानी करतूत को भुलाकर उसे सारूप्य मुक्ति प्रदान की। इसी प्रकार माता के समान स्तन-पान के बहाने विषपान कराने पर भी पूतना को माता की गति ही दी। कहते हैं कि ऐसे उदाहरण से प्रकट है कि चाहे करोड़ों यज्ञ, तप और दान आदि कर्म कोई करे; परन्तु श्री भगवान उन पर इतनी शीघ्र कृपा नहीं करते जैसे कि भक्त के वश में सहज ही हो जाते हैं। देखिए न, बलि ने इन्द्रासन पाने के स्वार्थ के लिये अपने-आप तक का दान कर डाला तो भी उसे भगवान् ने पाताल लोक ही दिया। इधर सुदामा ने अपने मित्रता के प्यार में श्रीकृष्ण को कुछ मुट्ठी चिवरा (तन्दुल) ही दिये। उसकी प्रीति के वश भगवान ने उसे करोड़ों इन्द्रों के समान वैभव दिया।

ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं , भक्ति की महिमा का ही गायन करता हूँ। भक्ति के बिना जप, तप व्रत, यज्ञादि की व्यर्थता इस प्रकार बताई गई है-

किं वेदैः किं तुवा शास्त्रैः किमुतीर्थाभिषेचनैः।
विष्णुभक्ति विहीनानां किं तपोभिर्किमध्वरैः॥

-वृहन्नारद पुराण

विष्णु-भक्ति रहित लोगों के वेदाध्ययन से, शास्त्र-पठन से, तीर्थादिसेवन तथा तप यज्ञादि करने से भी क्या होगा? अर्थात् भक्ति बिना इन सबका होना व्यर्थ है।

फिर भक्ति का प्रताप कहते हैं-

जीवनं विष्णु भक्तस्य वरं पञ्चदिनानि च।
न च कल्प सहस्रैस्तु भक्तिहीनस्य केशव॥

-पाण्डव गीता

श्रीकृष्ण भक्त का पाँच दिन का जीवन भी भक्तिहीन के हजार कल्प वर्षों के जीवन से श्रेष्ठ है।

ऋषि माण्डव्य महा तप कियौ, वर्ष सहस्र पवन तिन पियौ।
कर्म न ताहू कौ कट्यौ॥
बारें तिन बौना छेदियौ, तिहि राजा ह्वै साटौ लियौ।
सूरी दियौ, जानें जगत॥
अजामिल पापी द्विज भयौ, सुत हित नाम नरायन लियौ।
कर्म कटे सुमिरन करत॥
राजा नृग कों वह गति भई, गऊ सहस्त्र-दश दिन-प्रति दई।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥४॥

मांडव्य ऋषि ने हजार वर्ष तक मात्र वायु पीकर घोर तप किया; परन्तु फिर भी उनका कर्म-भोग नष्ट न हुआ।

संसार में कथा प्रसिद्ध है कि ऋषि ने बालक-पन में एक टिड्डी को काँटे से छेद दिया था। फलतः दूसरे जन्म में टिड्डी राजा हुई और अपना पूर्व जन्म का बदला लेने के लिए राजा ने इन्हें पकड़वा मँगा कर शूली पर चढ़ाया। कहने का तात्पर्य है कि इन माण्डव्य ऋषि का घोर तप उन्हें इस कर्म-भोग से न बचा सका। प्रत्युत इसके विपरीत अजामिल नामक ब्राह्मण महान पापी हुआ। उसके सब कर्म केवल भगवन्नाम स्मरण मात्र से कट गये। सो भी विलक्षणता यही रही कि उसने अपने पुत्र का नाम 'नारायण' रख छोड़ा था और मरते समय उसी पुत्र को ही पुकारा था।

परन्तु पुत्र के भाव से नारायण को पुकारते हुए भी भगवान ने उस पर कृपा करदी। इधर राजा नृग ने दस हजार गो-दान प्रति दिन देने का नियम ले रखा था; फिर भी एक गाय के सम्बन्ध में झगड़ा होने पर उसे गिरगिट की योनि में जाना पड़ा। अर्थात् उसका नित्य प्रति किया हुआ दानरूप कर्म उसे अधोगति से न बचा सका। अतएव कहते हैं, मैं तो भक्ति की महिमा का गायन करता हूँ।

इस छन्द में बलि के किए हुए यज्ञ-रूप कर्म का फल एवं गति बताकर अब तपकर्त्ता की गति का आदिपुराण में वर्णन करते हैं-

माण्डव्योमुनिशक्तोनु ब्रह्मवादी तपश्चरन्।
दृष्टोमया प्रोतशूलिं दुर्वोधं हरि चेष्टितम्॥

माण्डव्य मुनि ब्रह्मवादी एवं तपश्चर्या परायण हैं; उन्हें भी शूलि में चुभा हुआ मैंने देखा। अतः कहना पड़ता है कि श्रीहरि की लीला-क्रिया दुर्ज्ञेय है। इसी प्रकार राजा नृग के यमपुर जाने पर यम ने पूछा कि क्या वे पहले अशुभ कर्मों का फल भोगेंगे या शुभ कर्म का फल भोगना चाहेंगे ? इस पर राजा बोले - हे देव! पहिले अशुभ को भोगना चाहता हूँ। इस पर यम ने कहा- पत् (गिर) - बस, गिरा और गिरगिट की योनि को प्राप्त हुआ। राजा नृग अपने मुख से भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा अंधकूप से निकाले जाने पर उनसे अपना यह वृत्तान्त कहने लगे।

सो जमवस जु कैटिया भयौ, पाउ छुवत वैकुण्ठहि गयौ।
अतिथि जानि भोजन दयौ॥
दिन जम पठवै सुभट सिखाइ, भक्तनि तन हेरो जिन जाइ।
ज्यौं न उलूक रवि देखही॥
ज्यों बगुला मेंडकी न खाई, ऐसें जम भक्तनि बिच जाइ।
जाके हिरदैं हरि बसें॥

हरि करुनामय दीनदयाल, आरत जननि करत प्रतिपाल।।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। ५।।

वही राजा नृग जो यमराज के पास पहुँचने पर गिरगिट हुआ था, उससे कभी यह शुभ बना पड़ा था कि उसने अपने घर आए हुए भूले राहगीरों को जो वास्तव में भक्त थे, अतिथि जानकर उन्हें भोजन दिया था। उसी के प्रताप से राजा नृग को कृकलाश (गिरगिट) की योनि में से भगवान श्रीकृष्ण ने छुड़ाया तथा उन भगवान का चरण-स्पर्श कर वह भगवान के धाम श्रीवैकुण्ठ को गया। प्रतिदिन यमराज अपने दूतों को यह सिखाकर भेजते हैं कि तुम लोग भक्तों की तरफ कभी भी मत देखो; जिस प्रकार उल्लू सूर्य को नहीं देखता। वगुला नदी में मछलियों को खाते हुए भी; वहीं रहने वाले मेंढ़कों को नहीं खाता; यमदूत केवल पापी जीवों को ही बाँधकर लें जाते हैं। परन्तु उन्हीं के साथ रहने वाले भक्तों की ओर जिनके हृदय में श्रीहरि का निवास है-देखते तक नहीं। श्रीहरि दीनों पर दया करने वाले तथा करुणा की तो मूर्ति ही हैं। वे दुख से कातर जीवों की रक्षा करने वाले हैं।

आरत द्रुपदतनया राखियौ, पट बढ़ाइ करुनामय दियौ।
आरत गज बन्धन कटे।।
आरत जब-जब पाण्डव भये, तब-तब राखि कृपानिधि लये।
अरु दुर्वासा के स्राप तें।।
आरत राजा सब जब भये, मागध मथि छुड़ाइ हरि लये।
और बहुत केते कहौं।।
ब्रह्मादिकनि अगोचर रहै, सो जसुधा कौ बन्धन सहै।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। ६।।

कृष्ण-भक्ति का प्रताप ऐसा है कि सभा में फँसी हुई द्रौपदी का वस्त्र बढ़ाकर दयामय भगवान श्री कृष्ण ने बचा लिया। इसी प्रकार आर्त्त गजराज को ग्राह के

द्वारा पकड़े जाने पर संकट से छुड़ाया। यों ही जब-जब पाण्डवों पर विपत्ति आई तब-तब कृपा-सागर भगवान ने रक्षा की और दुर्वासा के श्राप से भी उन्हीं ने बचाया। जब मगध देश के राजा जरासंध ने अनेक राजाओं को कैद में बंद कर दिया तब भी श्रीकृष्ण ने ही जरासन्ध का वध करवाकर उन्हें मुक्त किया। ऐसे अनेक आर्त जीवों की रक्षा की। वे ही श्री कृष्ण भगवान जो ब्रह्मादिकों के लिये भी अलक्षित बने रहते हैं- प्रेम के वश अपनी माता यशोदा के द्वारा बाँधा जाना भी सह लेते हैं।

गोपिन के वश सदाइ श्याम, कीनौ निज वृन्दावन धाम।
लये मनो हैं मोल के।।
यह जु बात गोपिन सों कही, ताकी साखि भागवत सही।
हौं जु तुम्हारौ रिनी हौं।
ऐसे दुरवासा सों कह्यो, हौं वस ह्वै भक्तनि के रहौं।
अम्बरीष पहँ जाहु फिरि।।
निगम गिरा मेटी गोपाल, भीषम प्रण राख्यौ तिहि काल।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। ७।।

भक्ति के प्रताप को आगे कहते हैं कि श्री श्यामसुन्दर गोपियों के प्रेम के वश सदा ही हैं। श्रीवृन्दावन धाम को छोड़कर अन्यत्र जाते ही नहीं, मानो मोल ली हुई वस्तु हों। इस अधीनता को श्रीमुख से स्वयं स्वीकार करते हुए कहा भी है कि हे गोपियो! मैं तुम्हारा सदा ऋणी हूँ। यह सारा प्रसंग भागवत में है। भक्त अम्बरीष को तपोनिष्ठ दुर्वासा मुनि ने न कछु छोटी-सी बात पर से दण्डित करना चाहा था; तब भगवान के चक्र ने उनकी रक्षा की और चक्र के भय से दुखी दुर्वासा भगवान के शरण में गये, परन्तु उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करके यही कह दिया कि मैं तो भक्तों के वश रहता हूँ, आप अम्बरीष के पास ही लौटकर जाइये; भक्त-वश्यता के लिये श्रीकृष्ण ने अपनी मर्यादा को भी तिलाञ्जजि दे दी। सभी जानते हैं कि

भगवान सत्य-प्रतिज्ञ हैं, परन्तु भक्तवत्सल भगवान ने महाभारत युद्ध में अपने भक्त भीष्म पितामह के किये हुए प्रण - "आज जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ" को पूर्ण कराने के लिये अपने प्रण-"मैं महाभारत युद्ध में स्वयं न लड़ूँगा" को तोड़ दिया और रथ के चक्र (पहिये) को उठाकर भीष्म को मारने को दौड़ने का स्वाँग-सा दिखाया। श्रीवृन्दावन को निज धाम बनाने की बात इस प्रकार है-

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

-ब्रह्म वैवर्त पुराण

मैं श्री वृन्दावन को छोड़कर एक पग (डग) भी बाहर नहीं जाता।

उग्रसेन कों दीनों राज, आज्ञा माँगि कियो सब काज।
पनही लै आगे धरी॥
दूत (त) जतनि पांडवनि कौ कियौ, अर्जुन कौ हरि रथ जोतियौ।
सन्मुख व्है रन सर सहे॥
जाकी चरन कमल की रेंनु, लहत न विधि जाँचत यह वेंनु।
मुकुट चरन परसत नहीं॥
ऐसो प्रभु प्रभुता तजि दूरि, है भक्तनि की जीवन मूरि।।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥ ८॥

भक्त-वत्सल भगवान श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को पुनः राज्य देकर उनकी आज्ञानुवर्तिता की। उनके सामने उनके खड़ाऊँ रखने की सेवा की। द्वारका के राजा होते हुए भी पाण्डवों के लिये दूतत्व स्वीकार किया। यही क्या, इससे भी हीन सेवा अर्जुन का रथ जोतकर हाँकने तक की और रणभूमि में रथ में सारथी के स्थान पर होने के कारण कराल बाणों के वारों को सामने होकर सहा। जिन भगवान के चरण-कमलों की धूलि को ब्रह्माजी चाहते हैं; वह उन्हें नहीं मिलती, ऐसा ब्रह्माजी

ने स्वयं अपने मुख से स्वीकार किया है। उन ब्रह्मा का मुकुट भी उन श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को स्पर्श मात्र तक नहीं कर पाता। ऐसे ऐश्वर्यशाली भगवान अपनी सारी प्रभुता दूर छोड़ कर भक्तों के लिए उनकी संजीवनी बूटी बन गये हैं।

विमुखनि कौ न लाख हरि लेत, मुदित संत तुलसी दल देत।
कौरौं तजि जेंये बिदुर कें॥
निज स्वरूप श्रुत देव के गये , जहाँ तृन सयन असन फल भये।
लीला तनु बहुलाश्व कें॥
जज्ञ करत द्विज विमुखित भये, आदर कैं तिय भोजन दये।
कुबजा कौ चन्दन ग्रह्यौ॥
जज्ञ भोग देखत जु लजात, ग्वालनि कौ लै जूँठौ खात।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥ ९॥

विमुख लोग अहंकार से मान, कीर्ति आदि के लिये लाखों की सम्पत्ति के खर्च करते हैं; परन्तु प्रेम का अभाव होने से श्रीहरि उसमें से जरा-सा भी स्वीकार नहीं करते। इसके ठीक विपरीत केवल तुलसी-दल मात्र भी संतों का प्रेम से दिया हुआ स्वीकार करते देखे जाते हैं। उन्होंने विदुरजी के घर जाकर केवल शाक-पत्र भोजन करना स्वीकार किया; परन्तु अभिमानी दुर्योधनादि कौरवों के राजसी मेवों के भोजन का त्याग कर दिया। आगे कहते हैं कि-

निष्किंचन भक्त श्रुतदेव एक गरीब ब्राह्मण थे। उनका श्रीहरि में अत्यन्त अनुराग था। अतएव अपने निजरूप से उसके घर जाकर कन्द-मूल और कुशासन आतिथ्य स्वीकार किया। इधर उसी मिथिलापुरी के राजा बहुलाश्व भी श्रीकृष्ण के भक्त थे। परन्तु यहाँ लीला विग्रह (वपु) से पधारे और उसे संतोष दिया। यज्ञ के करने वाले मथुरा के चौबे (चतुर्वेदी ब्राह्मण) भगवान को भोजन न देकर उनसे विमुख हो बैठे।

केवल अपनी कर्मठता के वश यज्ञ-रूप कर्म के फल में उनकी आस्था रही। परन्तु उन्हीं की पत्नियाँ श्रीकृष्ण भगवान को आदर से भोजन देकर भगवत्प्रेम की अधिकारिणी हो गईं। कंस की दासी एवं वक्र वपु कुब्जा कंस के लिये तैयार किया हुआ चन्दन, केशर, कस्तूरी आदि का अंगराग श्रीकृष्ण को अर्पण करके दिव्य देहधारी सुन्दरी हो गई। भगवान तो प्रेम के भूखे हैं। याज्ञिक बड़े-बड़े भोग लगाते हैं; परन्तु श्रीकृष्ण उसमें प्रेम को न पाकर उस भोग की ओर देखने में भी लजाते हैं; परन्तु ग्वाल-बाल रूप संग के सखाओं के हाथ के उच्छिष्ट कौर छुड़ा-छुड़ा कर बड़े प्रेम से खाते हैं। अतएव कहना पड़ता है कि यह सब भक्ति (प्रेम) का ही प्रताप है- ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं इसका ही गायन करता हूँ।

विल्व मंगलाचार्य (लीलाशुक) कहते हैं-

गोपालाजिर कर्दमैर्विहरसे विप्राध्वरेलज्जसे।
व्रूते गोकुल हुंकृते श्रुति श्रुतैर्मानं विधत्ते तदा।
दास्यं गोकुल पुंश्चलीषु कुरुषेस्त्वात्म्यं न दातात्मषु।
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रि पद्मयुगलं भक्त्यैकलभ्यं भवान्॥

हे कृष्ण! तुम ग्वालों के आँगन की कीच में तो लोटते हो; और अपने से विमुख ब्राह्मणों के यज्ञ में जाने से लजाते हो। गाय के हुंकार का तो प्रत्युत्तर देते हो; परन्तु वेदों की स्तुति सुनकर भी मौन ही रहते हो। इधर गोकुल की गोपियों का दासत्व करते हो और उधर आत्मदान करने वाले को भी आत्मदान (आत्मसाक्षात्कारकैवल्यदान) नहीं करते। अतएव मालूम हुआ कि केवल तुम्हारे युगल चरण कमलों में भक्ति करने वाला ही कोई एक आपको पाता है।

ताकौ मोहन करत सहाइ, भजै अकेलो त्रिभुवन-राइ।
संक न काहू की करै॥

ज्यों प्रहलाद प्रतिज्ञा परी, जल थल गिरि पावक में हरी।
जहाँ तहाँ रक्षा करी।।
यों ही राखि सुधन्वा लयौ, जरत तेल में विमुखनि दयौ।
सुमिरन तब हरि कौ कियौ।।
चन्द्रहास राख्यौ कै बार, कथा प्रसिद्ध सकल संसार।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। १०।।

जो जप, तप, यज्ञ, दान व्रत एवं ज्ञान-कर्म-उपासना आदि के साधनों का आश्रय छोड़ तथा देव, पितर, गन्धर्व, यक्ष, ग्रह आदि किसी का भय न रखकर केवल एकमात्र अनन्य होकर त्रिभुवनपति श्रीहरि का भजन करता है उसीकी भगवान श्रीकृष्ण रक्षा करते हैं। जिस प्रकार प्रह्लाद के पिता ने उसको मारने के कई प्रयत्न किये; परन्तु उसकी यह निष्ठा सिद्ध करते हुए कि जल, थल, पर्वत, अग्नि में सर्वत्र श्रीहरि ही हैं, सब जगह रक्षा की। इसी प्रकार भक्त सुधन्वा की एकान्त निष्ठा की श्रीकृष्ण ने रक्षा की; जब उसके विरोधियों ने उसके विपरीत उसके पिता को कहकर उसे गरम तेल के कढ़ाव में डलवाया। इसी तरह चन्द्रहास की कथा प्रसिद्ध है कि उस अन्य जाति के बालक को राजा की लड़की का वर बनाने पर राजा ने उसे मार डालने के कितने प्रयत्न किए फिर भी श्रीहरि उसकी रक्षा करते रहे और अन्त में राजकन्या और राजपाट उसे मिला।

ज्यौं जड़ भरतहिं धरि लै गये, देवी डरपि फेरि पाठये।
भक्त-तेज लागी जरन।।
दुखित उत्तरा सुमिरे हरी, गर्भ परीक्षित रक्षा करी।
ब्रह्म-अस्त्र के तेज तें।।
भक्तनि के दुख दूखित स्याम, भक्तन हेत जन्म क्रम-नाम।
भक्तनि भावै सो करें।।

धनुष मुकुट तजि मुरली धरी, बिल्वमंगल परतिज्ञा परी।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥ ११॥

जड़ भरत को डाकुओं के सरदार ने देवी के सम्मुख बलिदान करने को पकड़ मँगाया। ये भक्तराज क्यों डरने चले। उसने इसकी पूजा करके हाथ में खड्ग लेकर ज्यों ही इन्हें मारने का प्रयत्न किया; त्योंही देवी के सर्वाङ्ग में भक्त के तेज से जलन होने लगी। अतः देवी ने बलिदान कर्ताओं का विनाश करके भक्तराज को जैसा का तैसा छुड़वा दिया। अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र के तेज से जब उत्तरा की कुक्षि में जलन होने लगी और उसने श्रीकृष्ण को पुकारा तभी भगवान ने उत्तरा के दुख को दूर किया और गर्भ स्थित बालक परीक्षित की रक्षा की। भक्तों के दुख को देखकर श्याम सुन्दर स्वयं दुखित हो जाते हैं; परन्तु भक्तों के लिए वे उसे भी स्वीकार करते है। भक्तों के लिये वे अवतार लेकर जन्म, कर्म और नामादि सब लीला को स्वीकार करते हैं जब बिल्वमंगल (सूरदास) ने श्रीराम मन्दिर में पहुँचने पर अपने इष्ट रूप में दर्शन का प्रण किया; तो तभी भक्तवत्सल भगवान ने मुकुट और धनुष को छोड़ मोर मुकुट मुरलीधर रूप में दर्शन दिया।

बिल्वमङ्गल की प्रतिज्ञा किस प्रकार पूरी की; इसका वर्णन वे स्वयं अपने मुख से इस प्रकार करते हैं -

विहाय कोदण्डशरान्मुहूर्त्ते- गृहीतपाणिमुरुचारुवेणुम्।
पिच्छातपत्रं धृतमुत्तमाङ्गं-सीतापते त्वां प्रणमामि तर्हि॥

हे सीतापति! ये किरीट, धनुष, बाण आदि वेष त्याग कर मोर, मुकुट और वंशी धारण करो, तब हम प्रणाम करेंगे। यह सुनकर उन्होंने वैसा ही किया जैसी भक्त बिल्वमंगल की इच्छा थी अर्थात् राम से श्यामसुन्दर बन गये।

व्याध गीध गनिका से तरे, तिन जु कहा व्रत संजम करे।
वेद-पठन तिनके नहीं।।
पंडित विप्र तजे पिछवार, फेरि कियो नामा तन द्वार।
यह जु कहा वेदनि कही।।
मेटी लोक वेद कुल कानि, हरिपद हिरदे राखे बानि।
तासु सहायक श्याम हैं।।
कुंजर तर डारियौ कबीर, कोट चिनत संक्यौ न सरीर।।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। १२।।

भगवान ने केवल भक्ति के कारण व्याध, (वाल्मीकि) गिद्ध (जटायु), गणिका (वेश्या) को तार दिया। न तो इन्होंने वेदाध्ययन किया था और न जप-तप-व्रत-संयमादि ही किये थे। भक्त नामदेवजी को दर्शन देने के लिए पंढरपुर के भगवान श्री विठ्ठल (श्रीकृष्ण) ने मन्दिर का मुख फेर कर भक्त की ओर कर दिया। फलतः अन्य बड़े-बड़े ब्राह्मण, पण्डित लोग पिछवाड़े पड़ गये अर्थात् उनके दर्शन में बाधा पड़ेगी इसकी परवाह नहीं की गई। ऐसी भक्तवत्सलता की कई बातें भी वेदों ने भगवान की स्तुति के रूप में गाई हैं क्या? अर्थात् नहीं गाईं-याने वेदों के लिए भगवान की भक्त-वत्सलता की बातें अतर्क्य एवं अज्ञात हैं। जिसको भी श्रीहरि के चरण कमलों को हृदय में रख लेने की आदत पड़ गई है और जिसने लौकिक-वैदिक मर्यादा तथा कुल की रीति-भाँति की सीमाओं का उल्लङ्घन कर दिया उसके सर्वदा ही श्यामसुन्दर सहायक हैं। भक्त कबीरदासजी को मर्यादाओं को छोड़ हरिभक्ति करते देख विमुखों ने उनकी परीक्षा करने के लिये हाथी के पैरों तले कुचलवाने को डलवाया और उनको जीते जी भीत में चुनवा देने का प्रयत्न किया, पर वे श्रीहरि के सच्चे शरणागत भक्त जरा भी सशंकित न हुए।

सेन धना रैदास चमार, सबनि सुन्यौ तिनकौ व्यौहार।
और बहुत केते कहौं॥
तिनहि न व्यापत तीनों ताप, दई कृपा करि मोहन छाप।
सब जग जस जगिमगि रह्यौ॥
हरिहि विमुख कर्मनि द्विज करै, अरु ज्यौं चार वेद उच्चरै।
स्वपच भक्त तातें भलौ॥
हृदय रूप, मुख नामहि लेत, उदर अहार-प्रसादहि देत।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥ १३॥

सेना भक्त जाति के नाई रहे और धना जाट थे तथा रैदासजी चमार थे; परन्तु सबही ने सुना है कि इनकी भक्ति एवं व्यवहार कैसा था। हीन जाति में उत्पन्न होने के कारण अपनी दीनता को ये न छोड़े हुए थे। और भी ऐसे अनेक भक्त हुए हैं कितनों का वर्णन किया जाय? इन प्रभु के प्यारे भक्तों को तीनों तापों से कोई कष्ट तो होना दूर रहा; उनके निकट ही वे नहीं आते। जिन्हें स्वयं श्रीकृष्ण ने ही भक्त कह कर अपनाया और जो श्रीकृष्ण के चिह्न (छाप, तिलक मुद्रादि) से अंकित है, वह भगवान का है। इन भक्तों का यश सर्व संसार में जगमगा रहा है। यदि ब्राह्मण होकर भी हरिविमुख है, चाहे वह कर्मों को करता है और चारों वेदों का पाठ भी करता है तो भी उससे तो चाण्डाल भक्त ही भला है क्योंकि उसके हृदय में प्रभु का रूप, मुख में नाम, उदर में प्रसादी भोजन रहता है। छापा तिलक-कण्ठी आदि चिह्न वालों को भगवान स्वयं अपना कह कर स्वीकार करते हैं- कहा है-

यो पुनः कलिकाले तु मत्पुरीषूभवांमृदं।
तस्या नामादिकं चिन्हं गृहीत्वा कुरुते नरः॥
देहे तस्य प्रविष्टोहं जानन्तु त्रिदशोत्तम।
तस्य मे नान्तरं किंचित्कर्त्तव्यं श्रेय इच्छता॥

-स्कन्द पुराण

जो कोई कलिकाल में गोपीचन्दन के नामादिक चिह्न अपने शरीर में धारण करता है; मैं उसके शरीर में प्रविष्ठ हूँ; उसे देवताओं से श्रेष्ठ जानना चाहिये। अपना कल्याण चाहने वालों को चाहिये कि उनसे मेरा अन्तर न करें अर्थात् मेरे समान जानें। यही भाव लघुभागवत में भी आया है - यथा

हृदि रूपं मुखे नाम नैवेद्यमुदरे हरेः।
पादोदकं च निर्माल्य मस्तके यस्य सोच्युतः॥

जिसके हृदय में श्रीहरि का रूप, मुख में उन्हीं का नाम, पेट में उन्हीं का प्रसादी आहार तथा माथे पर इनके चरणामृत एव माला पुष्पादि धारण होता है, वह अच्युत स्वरूप (भगवत्स्वरूप) ही है।

अन्त में जाति-कुजाति का झगड़ा मिटा कर कहते हैं कि वही अच्छा है जो श्रीहरि का भक्त है-यथा

हरि भक्ति रसास्वाद मुदिता ये नरोत्तमाः।
दुर्वर्णं वा सुवर्णं वा तेषां नित्यं नमोनमः॥

जो उत्तम जाति अथवा निम्न जाति में या बुरे वर्ण में भी श्रीहरि के भक्ति-रस के आस्वाद का आनन्द लेने वाला है, हम उसे प्रणाम करते हैं।

जो तन मन दै कृष्णहि भजै, मनसाहू न आँन कहँ जजै।
पतिव्रता ज्यों पतिहि रति॥
संतत अति सतसंगति करै, पर-धन परदारा परहरै।
आतम-सम जीवनि गनै॥
पादौदक सेवै सब काल, हरि मन्दिर जु बिराजै भाल।

---

१. स्मरणीय है कि यवनादि अनेक विदेशी जातियों के श्रद्धालुओं ने भारत में आकर वैष्णव धर्म को अंगीकार किया था। इसका प्रमाण ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में बेसनगर (विदिशा, मध्यप्रदेश) में स्थापित गरुड़-शीर्ष स्तम्भ है, जिसे विष्णु मन्दिर के प्रांगण में हेलियोडोरस ने निर्मित कराया था।

हेलियोडोरस, शुंग राजा भागभद्र की राजसभा में ग्रीक-अधिपति अंकलिकित का राजदूत था।

कण्ठमाल तुलसी वहै।।
भक्तनि की निन्दा नहिं करै, निन्दक-संग दूरि परिहरै।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं।। १४।।

जो तन-मन लगाकर श्रीकृष्ण का भजन करे; यहाँ तक कि किसी अन्य देवि-देवताओं को पूजने का भाव मन में भी न लावे और अपने इष्ट श्रीकृष्ण से ही अनन्य प्रीति का व्रत रखे; जैसा पतिव्रता अपने पति से रखती है, निरन्तर एवं बहुत अधिक सत्संग करे तथा दूसरे के धन और दूसरे की स्त्री का पूर्ण रीति से परित्याग कर दे और सब जीवों को अपने आत्मा की तरह माने, नित्य श्रीहरि भगवान का चरणामृत लेवे और ललाट में तिलक धारण करे तथा गले में तुलसी की माला सदा पहिने रहे, निन्दक लोगों का संग तो दूर से ही अच्छी प्रकार त्याग देवे और भक्तों की निन्दा कभी भी न करे; ग्रन्थकार कहते हैं कि मैं ऐसी भक्ति के प्रताप का गायन करता हूँ।

हरि मन्दिर (तिलक) का स्वरूप के वर्णन इस प्रकार आता है-

नासिका मध्य पर्यंताद्दण्डाकारं सुशोभनम्।
मध्ये बिन्दु समायुक्तं कथ्यते हरिमन्दिरम्।।

-पद्मपुराण

नासिका के मध्य अर्थात् नेत्रों की कोर से लेकर ललाट में सुन्दर दण्डाकार तिलक हो, मध्य में बिन्दु हो, यही हरि मन्दिर है। और निन्दा के बारे में तो शास्त्रों, पुराणों में अनेकानेक स्थानों पर कहा है--

लोके गरीयसी माता मातृत्वोप्यधिकाः खलाः।
माता मलंतु हस्तेन खलःक्षालति जिह्वया।।

-कर्णानन्द

इस संसार में माता ही बड़ी मानी जाती है, क्योंकि वह बालक का मल (मैला) हाथ से फेंकती है। परन्तु वास्तव में तो माता से भी बढ़कर तो ये खल (निन्दक) हैं जो मनुष्य के सर्व मल को जीभ से स्वच्छ कर देते हैं।

हरि सुमिरत आनन्द अति होइ, पुलकित तन नैननि जल सोइ।
ऐसे की दासी मुकति॥
वरन चार तें न्यारे भये, कागद हरि अपनें लिख लये।
जे अनन्य निज भक्त-जन॥
जो यह जस नीके कै सुनै, अर्थ विचार करै मन गुनै।
ताहि भक्ति उपजै घनी॥
मुरलीधरन चरन ब्रत जास, सुमिरै ताहि चतुर्भुजदास।
भक्ति प्रतापहि गाइहौं॥ १५॥

हरि का स्मरण करने से अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। उस आनन्द की पहिचान यह है कि शरीर में रोमांच हो आना और आँखों से अश्रुपात होना इत्यादि। कहते हैं जिसको ऐसी दशाएँ प्राप्त हो गई हैं, मुक्ति उसकी दासी हो जाती है। जो भगवान का निज भक्त जन अर्थात् अपना प्यारा भक्त है वह अनन्य होता है। भगवान् के अतिरिक्त उसके लिये इस विश्व में और कुछ भी नहीं रहता। वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों की मर्यादाओं के बन्धनों को छोड़कर श्रीहरि का हो जाय, तो भगवान भी उसके नाम को अपने भक्तों की नामावलि में लिख लेते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं जो इस यश (भक्ति प्रताप) को भली प्रकार समझकर गुनै और इसमें आई हुई बातों के अर्थ पर विचार करे, मन से मनन करे तो अवश्य ही उस मनुष्य में भक्ति की खूब उत्पत्ति होगी। ग्रन्थकार श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मुरलीधारी श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा का जिसका व्रत है उस भक्त का मैं स्मरण करता हूं। मैं तो भक्ति की महिमा का गायन करता हूँ। अब हरिस्मरण

करने की स्थिति और फल कहते हैं-यथा

हरिस्मरण हर्षेण रोमांचित तनुर्यदा।
दृश्योरानन्दसलिलं मुक्तिर्दासीभवेत्तदा ।।
-आदि पुराण

हरि-स्मरण करने से ज्यों ही हर्ष और रोमांच होता है; त्यों ही आनन्द से अश्रुपात होने लगता है और मुक्ति दासी हो जाती है।

किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसा आभीर कंकायवनाःखसादयः।
येन्ये च पापायदुपाश्रयाश्रया शुध्यन्तितस्मैप्रभ विष्णवे नमः ।।
-श्रीमद्भागवत

किरात (भील), हूण, आन्ध्र, म्लेच्छ, अहेरिया, कसाई, अहीर, कङ्क, (गीध) यवन, खश आदि ये लोग भी हरि के आश्रित भक्तों के आश्रित होकर शुद्ध हो गये थे। ऐसे प्रभु के लिये हमारा नमस्कार है। भावार्थ यह है कि ये शुद्ध हुए अच्युत गोत्र के हो गये। अतएव भक्ति प्रताप यश का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस यश को सुन कर जो मनन एवं निदिध्यासन (तदनुसार बर्ताव) करेगा उसे अवश्य ही सुदृढ़ भक्ति प्राप्त होगी। ग्रन्थकार श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि जिन्होंने मुरलीधर श्रीकृष्ण की चरण सेवा का दृढ़ व्रत लिया है मैं उनका स्मरण करता हूँ और भक्ति की महिमा का गायन करता हूँ।

भक्ति प्रताप (तृतीय) यश समाप्त

चतुर्थ
सन्त-प्रताप यश

त्रिपदी-छन्द राग घनाक्षरी

श्री हरिवंश नाम उच्चार । कहत सुनत उतरै भव-पार।
सार-भक्ति हृदैं बसै।।
जो सुर नर मुनि तैं अति दूरि । दई बताइ संजीवन-मूरि।
श्री वृन्दावन की माधुरी।।
अरु संतसंगति करन जु कही । जातें सकल अविद्या दही।
कही कृपा कर व्यास-सुव।।
दास-चरन सिर नावन कह्यौ। वहै वचन मेरे मन रह्यौ।
सन्त प्रतापहि गाइहौं।। १ ।।

पिछले और तीसरे यश में भक्ति की महिमा गाकर अब इस चौथे यश में स्वामी चतुर्भुज दासजी द्वादश यश में सन्तों की महिमा लिखते हुए कहते हैं कि श्री हरिवंश नाम का उच्चारण करते अथवा कहते-सुनते ही संसार सागर से पार हो जाते हैं, और साररूप भक्ति हृदय में आकर बस जाती है। सच्चे जीवन का मूल जो सुर, नर, मुनि सभी को अत्यन्त दुरूह है वह और श्रीवृन्दावन की माधुरी उन्होंने हमें बताई । और उन्हीं श्री हरिवंशचन्द्र ने सत्संग करने की आज्ञा दी है। 'यथा, साधु-संगति करु अनु दिन राती।' ऐसे सत्संग से सब अविद्या का नाश हो जाता है। श्री व्यासनन्दन हरिवंशचन्द्र ने कृपा करके यह कहा है कि 'भगवद्दासों के चरणों में सिर झुकाओ' यही वाक्य मेरे मन में ठहर गया- स्थिर हो गया। इसलिये मैं सन्तों के पवित्र यश का गान करता हूँ। आचार्य श्री हित महाप्रभुजी सन्तों के पवित्र यश के आगे नमन करते हुए श्रीहितचौरासी में यह कहते हैं-

जय श्री हित हरिवंश प्रपंच वंचु सब काल व्याल कौ खायौ।
यह जिय जानि श्याम श्यामा पद कमल-संगी सिर नायौ।

जो नर जम अरु भवतें डरै, सो निशि दिन सत्-संगति करैं।
परै पार, हरै सकल दुख ॥
ऐसे सकल पुरानानि कही, शुक मुख श्री भागवत जु लही।
कछु सु भाषा करि कहौं॥
साधु संग सर्वोपरि आहि, श्री हरि आप बतावत जाहि।
अरु अकाश वाणी कही॥
अलप-काल सत् संगति करै, दृढ़ व्रत होइ भक्ति मन धरै।
सन्त प्रतापहि गाइहौं॥ २॥

अब आगे कहते हैं कि जो मनुष्य संसार के आवागमन और यमराज से डरता हो, उसे चाहिये कि वह रात-दिन सत्संग करे; इससे उसके सब दुःखों का नाश हो जायगा और वह भव सागर से पार हो जायगा। सत्संग का प्रभाव सभी पुराणों ने गाया है। मैंने उसे श्रीमद् भागवत में श्री शुकदेवजी के मुख से प्राप्त किया है। उसे ही अब भाषा करके वर्णन करता हूँ। साधुओं का सङ्ग ही सर्वोपरि है; श्रीहरि स्वयं जिस साधुसंग की महिमा बताते हैं वही आकाश-वाणी नारद के लिये भी हुई थी। जो कोई अल्प-काल भी सत्संग करेगा वह दृढ़ व्रती होकर भक्ति को अपने हृदय में धारण करेगा। ऐसे सन्तों के पवित्र प्रताप का मं यहाँ गान करता हूँ। 'जो नर यम अरु भव तें डरै'-के प्रसंग में गरुड़ पुराण में भी कहा है-

अहममरेणार्चितेन धात्रा यम इति लोकेहि ताहिते नियुक्तः।
हरि गुरु विमुखान्प्रशस्मि मर्त्यान्हरिचरण प्रणतान्नमस्करोमि॥

यमराज कहते हैं - मुझे विधाता ने संसार के हितार्थ उसके नियमन के लिये 'यम' नाम से नियुक्त किया है, इसलिये मैं हरि-गुरु विमुखों को दण्ड देता और

हरिचरण-रत भक्तों को प्रणाम करता हूँ। श्री शुकदेवजी ने भी स्वयं कहा है कि मनुष्य का इससे बढ़कर सौभाग्य क्या होगा किउसे सत्संग प्राप्त होता है जिसकी क्षणभर की तुलना में न स्वर्ग है, न अपुनर्भव ही।

मिटि करि जाँइ लोक-अपवाद, होइ सकल पहुमी परसाद।
ऐसी नारद सों कही॥
कपिल देव माता सों कही, साधु संग वर सबतें सही।
जानत मम लीला सकल॥
ता तजि आन नहीं उच्चरत, श्रवणद्वार ह्वै हिरदें धरत।
यह मार्ग है भक्ति कौ॥
शौनक ऋषि सब सुख तुलि धरे, साधु संग तें हीनत खरे।
सन्त प्रतापहि गाइहौं॥ ३॥

जब जीव भक्ति करने लगता है तो उसके सभी लोकापवाद मिट जाते हैं और सारी पृथ्वी की उस पर प्रसन्नता हो जाती है ऐसा श्री भगवान ने पुराणों में नारद से कहा है। श्रीमद् भागवत में कपिलदेव ने अपनी माता देवहूति से भी सत्संग की महिमा कही है कि यथार्थ में साधु-संग ही सबसे श्रेष्ठ है। ये साधु-लोग ही मेरी सारी लीलाओं को समझते हैं और उन लीलाओं के सिवाय और कुछ उच्चारण ही नहीं करते। वे मेरी लीलाओं को श्रवण द्वारा ग्रहण करके हृदय में धारण करते हैं; क्योंकि यही (मुक्ति) बन्धन से छूटने का मार्ग हैं। शौनक ऋषि ने एक बार सब सुखों को सत्संग के साथ तौला था; जिसमें सभी सुख तुच्छ और साधु-संग ही खरा, श्रेष्ठ या भारी उतरा था। अतएव मैं भी ऐसे उत्तम साधुओं के पावन प्रताप का गान करता हूँ। 'होहि सकल पुहमी परसाद' के प्रमाण में आदि पुराण में कहा है-

तं देशं पतितंमन्ये यत्र नास्ति हरेः प्रियः।
तं देशं सफलंमन्ये यत्रास्त्रे श्री हरिप्रियः॥

योजनानि तथात्रीणि मम क्षेत्रे वसुन्धरे।
म्लेक्ष देशः शुभेवापि मद्भक्तो यत्रतिष्ठति।।

जिस देश में श्रीहरि के प्रिय भक्त लोग नहीं हैं उस देश को पतित ही जानना चाहिये तथा उस देश को सफल जानना चाहिए वह भले ही म्लेच्छ-देश हो जिसमें श्री हरि के प्रिय भक्त-गण निवास करते हैं। जहाँ प्रिय भक्त-गण निवास करते हैं वह तीन योजन की बसुंधरा का क्षेत्र मेरा ही है भले ही म्लेच्छों का देश हो-पवित्र ही है।

ता तज आँन नहीं उच्चरत'- वे भक्त गण मेरी लीला कथा के सिवाय और कुछ उच्चारण नहीं करते। यथा 'मुकुन्द माला' में कहा है-

नान्यं वदामिन श्रृणोमि न चिंतयामि
नान्यं स्मरामि न भजामि न चाश्रयामि।
भक्तिस्त्वयि च पद पंकज पाद रेणु
श्री श्री निवास पुरुषोत्तम देहि दास्यं।।

हे पुरुषोत्तम! मैं आपके सिवाय न तो कुछ कहता हूँ, न सुनता हूँ, न चिन्तन करता हूँ, न स्मरण। न किसी की सेवा करता हूँ और न आश्रय ही लेता हूँ। अतएव, हे श्री निवास! आप मुझे अपने चरण-कमल-पराग की भक्ति और सेवा दीजिये। 'सौनक ऋषि सब सुख तुल धरे, को श्रीमद् भागवत में इस प्रकार कहा है-

तुलयामलवेनापि न स्वर्गं न पुनर्भवं
भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषाः।।

भगवद्भक्तों के साथ एक क्षण के सत्संग का जो सुख प्राणियों को प्राप्त होता है उसकी स्वर्ग और अपुनर्भव कभी बराबरी कर ही नहीं सकते।

स्वर्ग मुक्ति-सुख, ते अतिहीन, नर राजनि-सुख तन को दीन।
साधु संग सम सर नहीं।।
सूत कह्यौ हौं दोऊ कुल हीन, ऋषि संगति जें भयो प्रवीन।
साधु संग सब ते भलौ।।
गंगा अति सेवत फल होय, संत मिलत तबही फल सोय।
सम्यक हरि हिरदैं बसत।।
जिन सुमिरन पावन घर होइ, पुनि मिलि कै भोजन कर सोइ।
चरनोदक पुनि पाइजै ।।
सकल अभद्र नष्ट व्है जात, जब ही साधु परसलै गात ।
सन्त प्रतापहि गाइहौं ।।४।।

स्वर्ग का सुख मुक्ति के सामने अत्यन्त तुच्छ है; तब भला, राजाओं और मनष्यों का सुख किस गिनती में है ? ये सभी साधु-संग के सुख की बराबरी कर ही नहीं सकते। लोमहर्षण सूत ने कहा है कि यद्यपि मैं विलोम जाति का हूँ- अर्थात् दोनों जातियों-ब्राह्मण और क्षत्रिय से हीन हूँ फिर भी साधु संग से परम प्रवीण (पौराणिक) हो गया; इसलिए साधु-संग ही सबसे श्रेष्ठ है। गंगाजी का बहुत काल तक सेवन करने से सुख होता है; किन्तु सन्त के मिलने पर तत्काल ही यह फल प्राप्त हो जाता है कि श्रीहरि हृदय में आ विराजते हैं। जिन सन्तों के स्मरण-मात्र से पृथ्वी पवित्र हो जाती है फिर यदि उनके साथ मिल कर भोजन प्रसाद पाया जाय तो कहना ही क्या है? इससे श्रेष्ठ और क्या होगा कि उनके चरणों को धोकर चरणोदक-पान किया जाय। सन्त-जन कृपा करके अपने कर-कमलों से किसी के शरीर का स्पर्श मात्र कर देते हैं, बस; उसी क्षण उसके सारे अमंगलों का नाश हो जाता है। यह साधु-महिमा है।

जिनके अतिहि अल्प तप होइ, सन्तनि कहँ सेवत नहिं सोइ।
साधु वाट बैकुण्ठ की।।
बँधै दृढ़ पासि असाधुनि संग, मुक्ति द्वार साधुनि सों रंग।
सन्त कपिल मुनि जे कहे।।
सहन तु शील कृपा अति करैं, बैर-बुद्धि मन महँ नहिं धरें।
ह्वै अनन्य हरि कौं भजें।
कर्म स्वजन वान्धव परिहरैं, कृष्ण भक्ति करि तन जु बिसरैं।
सन्त प्रतापहि गाइहौं।। ५।।

जिन लोगों का तप अति अल्प होता है वे लोग सन्तों का सेवन नहीं करते। वे नहीं जानते कि ये साधु ही बैकुण्ठ के मार्ग हैं। जो लोग असाधु-संग में, सम्बन्धों में बँधे हैं वे मुक्ति के द्वार रूप साधुओं का संग नहीं करते जबकि इनसे ही प्रीति करनी चाहिये। कपिल मुनि ने साधुओं के लक्षण कहे हैं कि वे साधु सहनशील, कृपालु होते हैं; उनके बैर-बुद्धि तो मन में आती ही नहीं। वे अनन्य होकर श्रीहरि का भजन करते हैं। कर्म एवं स्वजन बंधु-बांधवों का परित्याग कर देते हैं तथा श्रीकृष्ण भक्ति में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि अपने शरीर की भी सुधि-बुधि भूल जाते हैं। मैं ऐसे ही सन्तों के पावन प्रताप का गान करता हूँ।

जिनके अतिहि अलप तप होइ। सन्तनि कहँ सेवत नहिं सोइ।

सच्चे सन्तों और अनन्य वैष्णवजनों के सम्बन्ध में अनेक उदाहरण और प्रमाण शास्त्रों में मिलते हैं। यथा स्कन्द पुराण में ही कहा है-

अपूजितो यदा गच्छेद्वैष्णवोग्रहमेधिनां।
शत जन्मार्जितं पुण्य भूपमादायगच्छति।।
ये न गृह्णति भूपाल वैष्णवं गृहमागतं।
तद्गृहं पितृभिस्त्यक्तं स्मशानमिव भीषणं।।

जिस गृहस्थी के घर से वैष्णव बिना सम्मान पाये ही चला जाता है वह उसके शत-शत जन्मार्जित पुण्यों को मानो अपने साथ ले जाता है। जो व्यक्ति अपने घर आये हुए वैष्णव का सम्मान नहीं करता उसके पितृगण उस घर को स्मशान समझ वहाँ से तुरन्त ही चले जाते हैं।

इसी तरह महाभारत में कहा गया है-

असुभिर्वसुभिः सुमचित वाग्भिः । परोपकार क्रियते सद्भिः ।
जगदुपकर्ता सुकृतिः सरलः । कोपि च कोटिषु मध्या विरल : ॥

प्राण, वाणी और धन के द्वारा साधु परोपकार ही करते हैं। ये जगत् के परम उपकारी, सरल, सुकृती और करोड़ों में भी कोई एक ही (ऐसे) होते हैं।

जिन-जिन के जु प्रगट हरि भये, तिन-तिन माँगि सबनि वर लये।
'देहु साधु संगति हमें' ॥
भक्ति करत हरि-दर्शन हेत, दरश भये माँगत वर येत।
तातें संत सबतें बड़े ॥
वासुदेव पै ध्रुव माँगियौ, कथा सुधा जिन अमृत पियौ।
मत्त भये विसरे सकल ॥
सुरति गई सुत त्रिय की जिनहिं, तीनों-ताप न व्यापति तिनहिं।
सन्त प्रतापहि गाइहौं ॥ ६ ॥

जिन-जिन भक्तों की प्रार्थना को सुनकर श्रीहरि प्रकट हुए; उन सबने यही वर माँगा कि हमें साधु-संग ही दीजिये। भक्त लोग भगवान की भक्ति करते हैं और उसके प्रताप से उनका दर्शन प्राप्त करते हैं; और उनके मिलने पर 'साधु-सङ्ग' का ही वरदान माँगते हैं। इससे तो यही निश्चय होता है कि साधु ही सबसे बड़े हैं। भक्त ध्रुव ने तपस्या के द्वारा भगवान को प्रसन्न करके यही वर तो माँगा था कि साधु-संग

दीजिये। उसने जीवन भर श्रीहरि की कथा -सुधा का ही पान किया। जिस कथा-सुधा का पान करने पर भक्त मतवाला हो जाता है और उसे सारे विश्व की सुधि भूल जाती है। जिन्हें स्त्री, पुत्र आदि की सुधि भूल गई फिर उन्हें त्रिताप व्याप्त नहीं होते-नहीं सताते। यह अद्भुत संत-प्रताप है जिसका मैं गान करता हूँ।

श्रीभगवान के मिलने पर किन-किन भक्तों ने क्या माँगा है उसका वर्णन करते हैं- 'वासुदेव पै ध्रु व माँगियौ' यथाः श्रीमद्भागवत में ध्रुव वाक्य-

भक्तिंमुहुप्रवहतां त्वयिमे प्रसंगो
भूयादनंत महताममलाशयानाम्।
येनां जसोल्वणमुरुव्यशनं भवाब्धिं
नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥
तेन स्मरंत्यतितरां प्रिय मीशमर्त्यं
ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः।
ये त्वब्जनाभ भवदीय पदारविंद
सौगंधलुब्धहृदयेषु कृतप्रसंगाः॥

हे अनन्त! आप मुझे अपने भक्त अमलात्मा महापुरुषों का ही संग दीजिये; जिनके संग के प्रभाव से आपकी कथा-सुधा का सदा पान करता रहूँ और अन्त में इस दुःख रूप भव सागर से सहज ही पार हो जाऊँ। हे प्रभो! जो मनुष्य स्त्री, गृह, पुत्र और धन में चित्त को अटकाये पड़े हैं; वे भला, आपका स्मरण कैसे कर सकते हैं? हे कमलनाभ! आपके चरण-कमलों की दिव्य सुगन्ध से जिनके हृदय और प्राण लुब्ध हो रहे हैं; उनके लिए फिर अन्य और ऐसी कौनसी चीजें हैं जो मोहित कर सकें- उनकी तो एक मात्र आप ही गति, मति और धृति हैं।

आगे सन्तों के प्रताप के प्रसंग में ग्रन्थकार कहते हैं कि भगवद्भक्तों के समाज

में सदा भगवान की कथाएँ होती रहती हैं जिनके श्रवणमात्र से भोग, तृष्णा शान्त हो जाती हैं, वहाँ प्राणियों में किसी प्रकार का वैर, विरोध या आतंक नहीं रहता तथा अच्छे-अच्छे कथा प्रसंगों द्वारा निष्काम भाव से सन्यासियों के एक मात्र आश्रय श्रीनारायण देव का बार-बार गुण-गान होता रहता है। भगवान के वे भक्तजन तीर्थों को पवित्र करने के उद्देश्य से पृथ्वी पर विचरते रहते हैं, भला उनका समागम संसार से भयभीत हुए पुरुषों को कैसे रुचिकर न होगा ?

पृथु के वचन साधु रज लहौं, अपने शीश मुकुट हौं बहौं।
तबही महा हौं शोभियो।
बात प्रचेतनि सों शिव कही, साधु चरण तीरथ सम सही।
पाप ताप परसत हरहिं॥
अरु यह बात प्रचेतन कही, भक्त चालत याही ते सही।।
तीरथ पावन करन हित॥
जनम मरन ते भीत जे लोइ, तिनकौ कारज क्यों नहिं होइ।
सन्त प्रतापहि गाइहौं॥ ७॥

श्रीमद् भागवत में पृथु के वचन हैं। उन्होंने भगवान से यही वर माँगा कि मैं साधुओं की चरण रेणु प्राप्त करूँ और उसे अपने मुकुट और शीश (सिर) पर धारण करूँ, तभी मैं महान् शोभा को प्राप्त होऊँगा। प्रचेताओं से भी शंकरजी ने कहा है कि साधु-पुरुषों की चरण-रज ही यथार्थ तीर्थ है। यह चरण-रेणु स्पर्श करते ही समस्त पाप, तापों का हरण कर लेती है। यही बात स्वयं प्रचेताओं ने भी कही है कि इसीसे भक्त-गण पृथ्वी पर पैदल ही विचरते रहते हैं जिससे तीर्थ भी पवित्र हो जायें। फिर भला जो लोग जन्म-मरण के भव से दुःखी हैं उनका कार्य इस चरण-रेणु से सफल क्यों न होगा? अवश्य ही होगा। इसीसे मैं उन सन्तों के प्रताप का गान करता हूँ।

साधुजन किस प्रकार लोक के सकल तापों का हरण करते हैं; इसका महात्म्य आगम में कहा है-

गंगा पापं शशिस्तापं दैन्यं कल्पतरुर्हरेत्।
पापं तापं तथा दैन्य सद्यः साधु समागमः ॥

गंगाजी पापों को, चन्द्रमा तापों को और कल्पवृक्ष दैन्य का हरण कर लेता है, किन्तु साधु-समागम तो शीघ्र पाप, ताप और दीनता का सर्वथा हरण कर लेता है।

यथा; श्रीमद्भागवत में 'तीरथ पावन करन हित' को इस प्रकार बताया गया है-

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वांतःस्थेनगदाभृतः।

ये भक्त भगवान गदापाणि को अपने हृदय में धारण करके पृथ्वी पर विचरते और तीर्थों को भी तीर्थ-पवित्र बनाते हैं।

प्रह्लाद जु नरहरि सों कही। ब्रह्मादिक सुख रहत न सही।
साधु संग हौं मांगिहों॥
माता उदर कूप में रह्यो, तब उपदेश जो नारद कह्यो।
वह उपकार न बिसरिहौं॥
अरु हरि सों मुचकुन्द जु कही, स्वर्ग धरनि सुख रहत न सही।
वा जु साधु संगति बिना॥
सतसंगति बिनु भक्ति न होइ, भक्ति-बिना सुख लहै न कोइ।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ ८॥

प्रह्लाद की रक्षा करने के लिए जब नृसिंह भगवान प्रकट हुए तब प्रह्लाद ने उनसे यही कहा कि हे प्रभो! ये ब्रह्मादिकों के सुख चिरस्थायी नहीं वरन् नाशवान

हैं, अतएव मैं आपसे केवल साधु-संग का ही वर चाहता हूँ। प्रह्लादजी ने अपने सहपाठियों से अपने जीवन की कथा सुनाते हुए कहा है कि मित्रो! जब मैं माता के उदर कूप में था उसी समय श्री नारदजी ने मुझे यह ज्ञानोपदेश कर दिया था; मैं भला उनके इस उपकार को कैसे भूल सकता हूँ। इसी तरह राजा मुचकुन्द ने भी भगवान श्रीकृष्ण से यही कहा है कि हे प्रभो! पृथ्वी और स्वर्गादि के सुख स्थिर नहीं हैं, यदि कोई स्थायी सुख-दाता है तो केवल साधुसंग ही। इस सत्संग के बिना हृदय में भक्ति नहीं हो पाती और भक्ति बिना कोई भी व्यक्ति सुख नहीं प्राप्त कर सकता। यह सब महिमा संत-संग की है; अतः इसीलिये तो मैं संत-प्रताप का ही गायन करता हूँ।

जिन जिन कों हरि दरशन भये, तिन-तिन माँगि सबनि वर लये।।
बहुत कहत बाढ़ै कथा।
श्रीमुख वचन जु आपुन कहे, श्री भागवत माँझ मैं लहे।
हौं साधुनि के वश रहौं।।
दुर्वासा सों सत्य जु कह्यौ, ताको फल जु प्रगट करि लह्यौ।
जसुधा पै जु बँधाइयौ।।
अरु कुरुखेत गये हरि कही, मम जु जन्म तुम दर्शन सही।।
सन्त प्रतापहि गाइहौं।।१।।

जिन-जिन भक्तों को श्री भगवान का दर्शन हुआ उन सबने यही वर माँगा कि हमें आप साधु-संग ही दीजिये। इस विषय में बहुत प्रमाण हैं, अधिक विस्तार करने से कथा बढ़ जायगी। चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मैंने श्रीमद् भागवत में पाया है, ऐसे बहुत वाक्य हैं जिनमें स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से यह कहा है कि मैं सदा सन्तों-भक्तों के वश में रहता हूँ। यही बात दुर्वासा से भी श्रीभगवान ने कही थी जिसका प्रत्यक्ष फल दुर्बासा ने ही राजा अम्बरीष के सामने देखा था।

कहाँ तक कहा जाय, वे तो भक्तों के सदा ही वश में हैं, इसीलिये यशोदा के हाथों अपने आप तक को बँधा दिया। इसी तरह कुरुक्षेत्र में एक बार श्रीकृष्ण गये थे और पर्व पर एकत्र हुए नारदादि सभी ऋषियों से उन्होंने स्वयं ही कहा था कि हे महात्मागणो! तुम्हारे दर्शन से मैं पवित्र हो गया। यह क्या कम बात है कि श्रीभगवान भी जिनके दर्शन से अपनी पवित्रता मानते हैं; उनके विषय में जो कुछ कहा जाय सभी थोड़ा है। इसलिये मैं भी थोड़ा बहुत अपनी शक्ति के अनुसार सन्त-प्रताप का गान करता हूँ। 'दुर्वासा सौं सत्य जु कह्यौ' राजा अम्बरीष की परीक्षा दुर्वासा जी ने कृत्या उत्पन्न करके की थी किन्तु सुदर्शन चक्र ने उसका नाश करके उल्टे ही दुर्वासा का पीछा किया। दुर्वासा त्रिलोकी में भागते फिरे। अन्त में भगवान विष्णु के निकट गये तब उन्होंने यही कहा-

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र ईव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
मयि निर्बद्ध हृदयः साधवः समदर्शिनः।
वशी कुर्वंति मां भक्त्या सा सित्स्त्रयसात्स्त्रिया सत्पर्तियथा॥
-श्रीमद्भागवत

नव-ग्रह देव न पापहिं हरहिं, साधु मुहूरत सेवा तरहि।
यह जु वचन वसुदेव कहे॥
देव भजन छाया उनमान, गति अरु दान जु देत समान।
साधु दीन बान्धव सदा॥
जनक वचन पुनि कहे जु येह, दुर्लभ छन भंगुर नर देह।
तातें दुरलभ भक्तजन॥
जोगेश्वरनि पुराकृत कह्यौ, हरि पूजें, हरि, जन-ढिग रह्यौ।
सन्त प्रतापहि गाइहौं॥ १०॥

नवग्रह और देवता पापों का हरण नहीं कर सकते; किन्तु साधु-पुरुषों की एक मुहूर्त की सेवा से ही जीव संसार सागर से पार हो सकता है। श्रीमद्भागवत में ऐसे वचन वसुदेवजी ने कहे हैं। देवताओं का भजन तो छाया की तरह है, जो अधिक से अधिक अपने समान गति (स्वर्गादि लोक और दान) और साधारण कोटि के ही वर दे सकते हैं किन्तु साधुजन तो सदा ही दीनों के बांधव-सुहृद हैं। इसी प्रकार जनकजी ने भी यही वाक्य कहे हैं कि यह मनुष्य देह क्षणभंगुर है, किन्तु दुर्लभ है, इससे भी अतिदुर्लभ साधुसजनों का संग है। नव योगेश्वरोंने भी कहा है कि यह देह यद्यपि प्राकृत है तथापि इसके द्वारा श्रीहरि की आराधना की जा सकती है और मनुष्य उनका जन होकर सदा के लिए उनका संग प्राप्त कर सकता है। मैं ऐसे दुर्लभ सन्त-प्रताप का यशोगान करता हूँ। 'साधु मुहूरत' सेवा तरहिं' साधु-जन क्षण भर में वातावरण को किस प्रकार अपनी भक्ति के चमत्कार से भर देते हैं यह आगम में प्रकट किया गया है -

मुहूर्तं वा मुहूर्त्तार्द्धं यत्र तिष्ठति वैष्णवः।
तत्रैव सर्व तीर्थानि तदेव च तपोवनम्॥

मुहूर्त अथवा आधा मुहूर्त भी जहाँ कहीं वैष्णवगण विश्राम कर लेते हैं; बस, वहीं सभी तीर्थ, देवता और तपोवन आ विराजते हैं।

भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुरनाम वपु एक।
इनके पदबंदन किएँ नाशत विघ्न अनेक॥

भक्तों के सम्मान न करने से जो हानि होती है सो तो स्पष्ट ही है और ऐसे ही अपमान करने से और भी हानि होती है। यथा द्वारका महात्म्य में-

पूजितो भगवानेवं जन्मान्तर शतैरपि।
प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवस्यापमानतः॥

चाहे भगवान श्रीकृष्ण का पूजन शत-शत जन्मों तक क्यों न करते रहो; यदि

उनके प्रिय वैष्णव भक्त जनों का अपमान किया जाता है तो उनकी प्रसन्नता हो ही नहीं सकती।

अतिही साधु कोप जो करहिं, तदपि अन्त ताको उद्धरहिं॥
सुत कुबेर के ज्यौं तरे॥
उदय ज्यौं न तम जाय, सत्संगति मन करत विहाय॥
पाप ताप परसत हरहिं॥
अगिनि शीत तम कों ज्यौं हरै, ऐसें भवसागर तें नर तरै।
सन्त संग दृढ़ नाव है॥
अर्जुन सों हरि आपुन कहे, ते जु वचन मेरे मन रहे।
सन्त प्रतापहि गाइहों ॥११॥

चाहे भले ही साधु पहले अत्यन्त क्रोध करले; किन्तु अन्त में उसका उद्धार करता ही है। स्पष्ट है कि कुबेर के पुत्र नलकूवर और मणिग्रीव तर गये। जिस प्रकार सूर्योदय के बिना रात्रि का अन्धकार नहीं भागता वैसे ही संतों का संग किए बिना हृदयांधकार-अज्ञान, नहीं भागता। साधुओं का स्पर्श होते ही समस्त पाप-ताप दूर भाग जाते हैं, ऐसे ही, जैसे अग्नि शीत और अन्धकार का हरण कर लेती है। इस प्रकार अज्ञान का नाश होकर मनुष्य भवसागर से पार हो जाता है। निश्चय ही सत्संग एक दृढ़ नौका है। यह बात भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कही है। श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण की कही हुई वही बात मेरे मन में भी जम गई। अतएव मैं भी संत-प्रताप का गान करता हूँ।

सुत कुबेर के ज्यों तरे'' को श्रीमद् भागवत में इस प्रकार प्रकट किया गया है -

अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैवं यथा पुनः।
स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन तत्रापिमदनुग्रहात्॥
वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वादिव्य शरच्छते।

वृत्ते स्वर्लोकतां भूयो लब्धभक्ती भविष्यतः॥

कुबेर-पुत्रों की कथा संक्षेप में इस प्रकार है कि वे दोनों मदिरामत्त हो अत्सराओं के साथ गंगा में स्नान कर रहे थे। उधर से निकलते नारदजी को देख अप्सरायें लज्जित होकर और वस्त्र पहिन बाहर छिप गयीं, पर ये पुत्र-द्वय जल में ही खड़े रहे। नारदजी ने इन्हें वृक्ष होने और फिर श्रीकृष्ण द्वारा उद्धार पाने का श्राप और वरदान दिया। नारद ने कहा कि ये दोनों अब वृक्ष-योनि में जाने के योग्य हैं; ऐसा अब फिर कभी उन्हें अभिमान न होगा। वृक्ष योनि में जाने पर भी मेरी कृपा से इन्हें भगवान की स्मृति बनी रहेगी और मेरे अनुग्रह से देवताओं के सौ वर्ष बीतने पर इन्हें भगवान श्रीकृष्ण का सान्निध्यस प्राप्त होगा और फिर भगवान के चरणों में परम प्रेम प्राप्त करके ये अपने लोक में चले जायेंगे। ये ही यमलार्जुन रूप वृक्ष दामोदर श्रीकृष्ण द्वारा कृष्णावतार में उखाड़े गए और उद्धार पा गए।

मेरे भक्त जहां हैं रहत, तहां सकल हरि तीरथ कहत।
सुख आनन्द सदा तहाँ॥
भक्त वदन ब्रह्मा कौ वास, शिर हौं शंकर नाभि निवास।
पग किन्नर गन्धर्व सब ॥
मेरे जन गावत हैं जहाँ, संतत पंथ बसों हौं तहाँ।
ताते तू सन्तन भजहि॥

भक्तनि भजे सु मेरौ दास, मोहि भजे सुख लहै न तास।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ १२॥

श्रीभगवान कहते हैं कि जहाँ पर मेरे भक्तगण निवास करते हैं वहीं सब तीर्थ आकर रहते हैं और वहीं सुख तथा आनन्द भी रहता है। मेरे भक्त के श्रीमुख में ब्रह्मा का निवास है, सिर में स्वयं मैं रहता हूँ, नाभि में शंकर निवास करते हैं तथा

मेरे भक्त के चरणों के किन्नर, गन्धर्व आदि सभी बसते हैं। जहां पर मेरे भक्त मेरे नाम, गुण, लीला आदि का गायन करते हैं मैं वहाँ पर सदा ही बसता हूँ। अतएव हे भाई! तू भी उन्ही सन्तों का भजन और उनकी सेवा ही कर। जो मेरे भक्तों का भजन करता है वही मेरा दास है, किन्तु जो केवल मेरा ही भजन करता है, मैं उसके द्वारा कुछ भी सुख नहीं पाता। यही तो सन्तों का प्रताप है जिसका मैं गान करता हूँ।

देश विफल मानों हों सोइ, हरिकौ दास तहाँ नहिं होइ।
कलि विशेष सतसंग फल॥
दिखरायौ हरि प्रगट प्रताप, नृपति युधिष्ठिर के तब आप।
ब्रह्मभोज समयौ जहाँ॥
कोटि विप्र भोजन जब होइ, आपुन घन्टा बजै न सोइ॥
गिनती लगि बाँध्यौ जहाँ॥
स्वपच भक्त तब तिहि ठां गयौ, आदर कैं हरि बैठकु दयौ।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ १३॥

मैं उस देश को विफल मानता हूँ जिसमें श्रीहरि का एक भी दास नहीं रहता। कलियुग में तो विशेष सत्संग ही फलदायक कहा गया है। युधिष्ठिर के यहाँ अश्वमेध यज्ञ में ब्रह्म-भोज के समय भगवान श्रीकृष्ण ने भक्त-महिमा का प्रताप प्रत्यक्ष ही दिखा दिया कि करोड़ों ब्राह्मणों को भोजन कराने पर भी वह बाँधा हुआ घण्टा अपने आप न बजा, जो ब्राह्मण भोज की गणना एक करोड़ हो जाने पर आप ही आप बजने के लिये बाँधा गया था। उसी समय वहाँ एक भक्त स्वपच आया। अर्जुन ने आदर से उसके चरण धोये और श्रीहरि ने उसे आदर देकर आसन दिया और भोजन कराया, तभी घण्टा बज उठा। चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मैं ऐसे ही सन्त प्रताप का गान करता हूँ।

श्वपच भक्त भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ है इसका प्रमाण नारद पुराण में इस प्रकार दिया गया है-

श्वपचोपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः।
विष्णुभक्तिविहीनोपि यतिश्च स्वपचाधिकः॥

हे राजन! विष्णु भक्त श्वपच भी ब्राह्मण से श्रेष्ठ हैं और विष्णु-भक्ति विहीन सन्यासी भी श्वपच से अधिकाधिक नीच है।

परसि भक्त कौ भोजन दयौ, घण्टा-नाद कवर प्रति भयौ।
कृष्ण लकुट करि तब हन्यौ॥
भक्त प्रताप जु तें लोपियौ, सीथ सीथ-प्रति नाद न कियौ॥
नृपति देखि विस्मय भयौ॥
कही कथा यह व्यास पुरान, साधुनि कौ देखियौ प्रवान।
भक्त, आभूषन भक्ति है।
सत संगति वस हैं हरि सही, उद्धव सों एकादश कही।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ १४॥

जब सम्मानपूर्वक उस श्वपच भक्त को भोजन कराया गया तब उसके प्रत्येक ग्रास पर घन्टे का नाद हुआ। केवल ग्रास-ग्रास पर घन्टा नाद होने से भगवान श्रीकृष्ण को कुछ लज्जासी आई और वे क्रुद्ध से होकर उस घन्टे को लकुटि से पीटने लगे और कहने लगे- ''अरे मूर्ख ! तूने भक्ति का प्रताप ही लुप्त ही लुप्त कर दिया। तुझे तो भात के शीथ शीथ के साथ-प्रत्येक शीथ पर ध्वनि करनी थी; केवल प्रति ग्रास-ग्रास ध्वनि करके तून बड़ा अनुचित किया; अतएव तू दण्डनीय है।''

यह दृश्य देखकर राजा युधिष्ठिर को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह सम्पूर्ण कथा पुराणों में भगवान वेद-व्यास ने विस्तारपूर्वक वर्णन की है। इस तरह सर्वत्र ही साधुओं का प्रमाण देखा जाता है; कारण यह कि उन भक्तों का आभूषण ही भक्ति है, जिससे सभी आश्चर्यमय बातें पूर्ण हो सकती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने अपने प्रिय सखा उद्धव से श्रीमद्भगावत के एकादश स्कन्ध में स्पष्टतक ही कहा है कि मैं सदा साधु संग-सत्संग के वश में हूँ। जिनके वश में स्वयं श्रीहरि हैं; क्या उनका प्रताप थोड़ा है? नहीं, अतः मैं उन्हीं महा महिमामय सन्तों का ही प्रताप-यश-गान करता हूँ। इस पुराण वार्ता-रूपक में भगवान श्रीकृष्ण घन्टे से कहते हैं-

ग्रासे ग्रासे कृते नादे कृष्णोताडित यष्टिका।
लोपितो भक्त भावस्त्वं शिक्थे न नादितः॥

भगवान श्रीकृष्ण घन्टे को लकुट से ताड़ित करते हुए बोले- 'तू ने भक्ति-भाव का तो लोप ही कर दिया, जो शिक्थ शिक्थ प्रति नाद न करके ग्रास ग्रास प्रति किया।''

.इसके उत्तर में घन्टे ने स्वयं कहा है-

इदं सत्यं प्रभोरुक्तं शिक्थे शिक्थे तु यत्फलं।
एद्दे वन में ज्ञातं तस्माद्ग्रास मनादयत्॥

प्रभो! आपका कथन यथार्थ सत्य है और मुझे भी वैसा ही करना चाहिये था; किन्तु शिक्थ-शिक्थ प्रति भक्त के भोजन का जो अमित प्रभाव है उसको सूक्ष्म तथा स्पष्ट समझने में मेरी मति कुण्ठित है। इसलिये मैंने ग्रास-ग्रास प्रति नाद करके उसके कुछ फल का ही प्रकाशन किया है।

ब्रत अरु जज्ञ छंद तप दान, तीरथ योग नेम जप प्रान।
इन सबहिन के वश नहीं॥
सतसंगति वस रहौं सही, जिन सब संग त्याग कै गही।

सन्तसंगति येऊ तरे॥
दैय्यत रीछ कपि अरु मृग नाग, पशु पंछी तरे परम सभाग।
तब औरनि की कहा कहौं॥
ताते सब सत संगति कर हु, साकत संग दूरि परिहरहु।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ १५॥

अपने भक्त सखा उद्धव से भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- उद्धव! मैं व्रत, यज्ञ, वेदाध्ययन, तपस्या, दान, तीर्थ, योग यम-नियम और प्राणायाम इनमें से किसी के भी वश में नहीं हूँ, किन्तु, हाँ! सत्संग के वश में अवश्य हूँ। यह बात यथार्थ-सत्य है। और उनके भी वश में हूँ, जिन्होंने अपने सर्वस्व का परित्याग करके इस सत्संग का दृढ़ आश्रय लिया है। हे उद्धव! मनुष्यों की तो क्या? सत्संग से तो ये लोग भी संसार-सागर से पार हो गये-दैत्य, ऋक्ष, (रीछ), मृग, नाग, पशु-पक्षी भी परम सभागी हो गये, तब भला औरों की क्या बात कही जाय? - सभी सत्संग से भव पार हो सकते हैं। इसलिए सभी लोग केवल सत्संग ही करो और शाक्तों का संग दूर से ही परित्याग कर दो। श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मैं सर्व-मुक्तिदाता सन्त-प्रताप का गान करता हूँ।

'साकत संग दूर परिहरौ' के प्रसंग में पद्म-पुराण में कहा है-

संगं त्यजे द्विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः।
तेषांलोकन मात्रेण भगवद्भक्ति विस्मृतिः॥
आलिंगनं वरं मन्ये व्याल व्याघ्र वनौकसां।
न संगं शल्य युक्तानां बहुदेवनिषेविणाम्॥

भगवद्विमुखों का संग दूर से ही त्याग दें; क्योंकि उनके दर्शन-मात्र से भगवद्भक्ति का विस्मरण हो जाता है। इससे तो अच्छा वनचारी व्याघ्र और सर्पों का आलिंगन

कर लेना है; किन्तु इन शल्य-युक्त चुभने वाले बहु देव-सेवियों का दर्शन अच्छा नहीं।''

अब सत्संग-विमुख जीवों की दशा का वर्णन करते हुए कहते हैं-

जिनके इन्द्री स्वारथ ज्ञान, पशु सूकर गर्दभ सम जान।
भरन पोषन उद्दिम सदा।।
क्रीड़ा-कपि जु त्रियनि के भये, निशिदिन नाचत ठाढ़े भये।
थोरे सुख कारन बँधे।।
सत्य शौच तिनके सँग जाइ, दया मौन अरु बुद्धि नसाइ।
शोभा लज्जा, जस गयौ।।
अपनो घात अपुन पै करत, जन्म-मरन तन अगनित धरत।
सन्त प्रतापहि गाइहों।। १६।।

जिन मनुष्यों का इन्द्रिय-लोलुपता और स्वार्थ तक ही ज्ञान सीमित है, वे मूढ़ तो पशु, शूकर व गदहे के ही समान हैं; ऐसा जानना चाहिए। जिस प्रकार शूकरादि को एक ही भरण-पोषण का धन्धा है-उसी प्रकार इन लोगों का भी एक ही धन्धा है। इन्द्रियपरायणता अर्थात् इन्द्रियों की गुलामी। ये लोग तो स्त्रियों के इशारों पर नाचने वाले उनके क्रीड़ा-कपि (खिलौने के बन्दर) के समान हैं जो सदा उनके सामने नाचते रहते हैं। और करबद्ध खड़े हुए उनकी आज्ञा-सेवा की प्रतीक्षा करते रहते हैं। ये मूढ़ अत्यन्त ही अल्प सुख में बँधे हुए हैं।

कोई यदि भूल कर भी इनका संग करले तो उसके दिव्य सद्गुण, सत्य, पवित्रता, दया, मौन, बुद्धि, शोभा, शील, लज्जा और यश आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। यह तो मानो अपना नाश अपने ही हाथों कर रहा है। सत्संग करता नहीं, जिससे जन्म-मरण छूट जाय; वरन् विपरीत ही चलता है; जिससे जन्म-मरण प्राप्त होता है। और अनेक शरीरों की प्राप्ति होती है। जो जिसे रुचे सो करे, मैं तो सन्तों का ही पावन यश-प्रताप गान करता हूँ।

'जिनके इन्द्री-स्वारथ ज्ञान' यथा श्रीमद्भागवत में-

यद्यसद्भिः पथिपुनः शिष्नोदरकृतोद्यमैः।
आस्थितो रमते जंतुस्तमो विशति पूर्ववत्॥

जो असत्पुरुष केवल अपनी जिह्वा और उपस्थेन्द्रिय के उद्यम में ही लगा रहता है वह मूढ़ तो पूर्ववत् पुनः तमोमय नरकों में गिरता है। और भी; श्रीमद् भागवत में-

श्वविड्वराहोष्ट्र खरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः।
न यत्कर्णपथोऽप्येतोजातु नामगदाभृतः॥

कहा कि जिसके कर्ण-पथ में गदाग्रज भगवान श्रीकृष्ण का नाम नहीं प्रवेश करता वह पुरुष-पशु तो केवल कुत्ते, ग्राम-शूकर और गदहों के द्वारा ही स्तुत्य है।"

अब चतुर्भुजदासजी फिर सत्संग और साधुओं के चरण-रज की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं कि-

जो नर भव अउ जम तें डरै। सो निशि दिन सत्संगति करै
धरै साधु-रज शीश लै॥
या रज कहँ हरि पीछें फिरत। गंगादिकन जु पावन करत।
श्रीमुख करि अस्तुति करी॥
विविध अन्न कौ भोग जु करत । लै हरि जू के आगे धरत।
देखत ता-कहँ दृष्टि कै॥
रस रसना जु दास की लहत। ब्रह्मा सों हरि आपुन कहत।
सन्त प्रतापहि गाइहों॥ १७॥

जो मनुष्य यमराज और आवागमन से डरता हो वह निशि-दिन निरन्तर

सत्संग ही करे और साधुओं की चरण-रज सदा अपने सिर पर धारण करे। जिस साधु-चरणरज के पीछे-पीछे स्वयं श्रीहरि घूमते फिरते हैं और साधुगण जिस रेणु से गंगादिक तीर्थों को भी पावन बनाते हैं। स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से इसका माहात्म्य कहा है। जो कोई विविध प्रकार के पक्वान्न बनाकर श्री ठाकुर जी को भोग लगाते हैं उन्हें भगवान केवल देख भर लेते हैं। किन्तु वही भगवान भक्त की रसना के द्वारा उसका रस लेते हैं; इस बात को स्वयं भगवान ने ब्रह्मा से कहा है। जिन सन्तों का ऐसा अद्‌भुत प्रताप है, मैं भी उन्हीं के प्रताप-यश का गान करता हूँ।

अब इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए अन्त में सबका सार बताते हैं।

सर्वोपरि साँचौ यह भजन, श्यामहि सुख, संतनि को जजन।
बहुत पुराननि में सुनी।।
अरु जे साधु पुरातन भये, तिनकी रीति भजन सुनि लये।
सन्तनि कौ सेवन सदाँ।
मैं भाषा करि कही सु गाइ, कोटि माँझ ते एक बनाइ।
पर-उपकार जु हेत लगि।।
जो यह जस नीके मन धरै, अतिही सुख भवसागर तरै।
मुरली धरन कृपा करें।।
वृन्दावन तु रसिक जन जहाँ, चतुर्भुजदास सरन रह्यौ तहाँ।
सन्तप्रतापहि गाइहों।।१८।।

'एक मात्र संतों का ही भजन करना' यही सर्वोपरि और सच्चा भजन है और इसीसे श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण को भी सुख मिलता है। यही बात पुराणों में भी कही गयी है, हमने सुनी है। एवं और भी जो पुरातन साधु हो गये हैं उनकी भजन रसरीति जो सुनने में आयी है वह यही रही है कि वे सदा ही संत-जनों का सेवन करते रहे हैं। वही सब कोटि-कोटि सन्तों के लीला-चरित्रों में से मैंने भी यह एक सुयश का छोटा सा ग्रन्थ लिखा है। वही साधारण भाषा में कहा है। इसका उद्देश्य

केवल भक्तजनों के उपकार-परोपकार के ही लिये है, और कुछ नहीं।

अब इसका माहात्म्य कहते हैं कि जो कोई भी इस सन्त-प्रताप यश को अच्छी तरह से अपने हृदय में धारण करेगा; वह बड़ी सुगमता और सुख-पूर्वक इस घोर भवसागर को पार कर जायगा और निश्चय ही उस पर मुरलीधर भगवान श्रीकृष्ण दया करेंगे।

इस ग्रन्थ की रचना कहाँ हुई? इस पर कहते हैं कि श्रीधाम वृन्दावन है जहाँ नित्य ही रसिक जनों-भक्तजनों का निवास रहता है; उसी श्री वृन्दावन में उन्हीं रसिक जनों की शरण में चतुर्भुजदास भी रहा था या रहा करता है। अतएव उसी स्थान में उन सन्तों की ही कृपा से इस सन्त-प्रताप यश की रचना हुई।

श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि जिन सन्तों की कृपा से ही उनके यश की रचना हुई मैं अब बारम्बार उन्हीं के प्रताप-यश का गान करता हूँ।

'सर्वोपरि साँचो यह भजन' - के प्रसंग में, आनन्द लहरी में श्रीभगवान कहते हैं-

मद्भक्तो दुर्लभो यस्य स एव मम दुर्लभः।
तदन्यो वैष्णवो नास्ति सत्यं सत्यं धनंजय॥
कर्मणा मनसा वाचा यत्कृतं पाप संचयं।
तद्विष्णुभक्तसंगेन सर्वं नश्यति तत्क्षणात्॥
अंग संगेन कायिक्यं वार्त्तालापेनवाङ्मयं।
प्रीत्या च मानसंपार्थ सर्वं नश्यतिकिल्विषम्

हे धनंजय! जिसकी बुद्धि में मेरे भक्तों की दुर्लभता का निश्चय है, ऐसे निश्चयवाला भक्त मेरे लिये भी दुर्लभ है अर्थात् जो भक्तों का भी भक्त है मैं सत्य सत्य कहता हूँ, उसके समान तो कोई वैष्णव ही नहीं है। मन, वचन और कर्मों के

द्वारा जो पाप किए जाते हैं या जो संचय है वह विष्णु-भक्त के संग से उसी क्षण नष्ट हो जाता है। उन भक्तों के अंग संग से कायिक, वार्त्तालाप से वाचिक और प्रीति करने से मानसिक पाप नष्ट हो जाते हैं। अर्जुन यह बात बिलकुल सत्य है।''

शिवलिंग सहस्त्राणां शालिग्राम शतस्य च
तुल्यः स्यात्कोटि विप्राणामेकेव साधु पूजनम्॥

हजारों शिव-लिंगों का, सैकड़ों शालिग्राम शिलाओं का और करोड़ों ब्राह्मणों का पूजन केवल एक साधु भगवद्भक्त वैष्णव के पूजन के समान शायद ही होगा। इसी प्रकार मार्कण्डेय पुराण में कहा है-

समीपंतिष्टतेयस्य अन्तकालेपि वैष्णवः।
गच्छंते परमंस्थानं यदपि ब्रह्महाभवेत्॥
वैष्णवाल्लभते भक्तिः भक्तया कृष्णो लभेन्नरः।
तस्माच्च वैष्णवो विष्णुः कलिमध्ये विशेषितः।

जिसके अन्तकाल में वैष्णव जन समीप में स्थित हो वह भले ही ब्रह्म-घाती हो; फिर भी परम धाम में अवश्य जावेगा। ये भक्तजन हृदय में सदा ही श्रीकृष्ण को धारण किये रहते हैं इन वैष्णव-जनों को प्राप्त करने पर स्वयं ही श्रीकृष्ण भक्ति हृदय में आ जाती है और वह व्यक्ति श्रीकृष्ण को प्राप्त कर लेता है। अतएव कलियुग में तो विशेषतया वैष्णव ही विष्णु हैं।

॥ सन्त प्रताप (चतुर्थ) यश समाप्त ॥

पंचम
शिक्षा सार यश

चौपाई, राग मारु

श्री हरिवंश प्रथम यश कहिये। जातें भक्ति परम-पद लहिये।।
'शिक्षा-सार' कहौं समुझाइ। वेद पुरान सुमृति मत गाइ।। १।।

अपने द्वादश-यश के पाँचवें श्री शिक्षा सार यश का आरम्भ करते हुए अपने दादा गुरु श्रीहित महाप्रभु का स्मरण करते हुए ग्रन्थकार श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि- श्री हरिवंशचन्द्र का सुयश सर्वप्रथम कहता हूँ जिसके गायन से भक्ति और परम पद की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् 'शिक्षा सार-यश' समझाकर कहता हूँ जिसमें वेद, पुराण और स्मृतियों का सार संचय किया गया है।

'श्री हरिवंश प्रथम यश कहिये' - श्री हरिवंशचन्द्र महाप्रभु वंशी के अवतार हैं जिन्होंने प्रकट होकर निकुन्ज की रहस्य केलि का प्राकट्य और विस्तार रसिकजनों के लिए किया है। इनके सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है-

पंचमो हरिवंशाख्यो संप्रदायप्रवर्तकः।
द्विजवंशे धर्मगोप्ता संभविष्यति वैकलौ।।

श्री हरिवंश नामक पाँचवें आचार्य पंचम (रस रीति) भक्ति के प्रवर्त्तक होंगे। ये कलियुग में धर्म के रक्षक और ब्राह्मण-कुल में प्रकट होंगे। श्री दामोदरदास सेवकजी ने भी कहा है-

हरिवंश नाम जे कहैं अनन्त सुक्ख ते लहैं।
दुराप्य प्रेम की दशा तहाँ प्रत्यक्ष देखिये ।।
सुने प्रपन्न जे भये अभद्र सर्व के गये।

तिन्हैं मिले प्रसन्न ह्वै न जाति भेद मानिये॥
-श्री सेवकवाणी जी

ये जु वचन सुनि गुनि मन धरिहै। इहि पथ चलत जु दुस्तर तरि है॥
अरु निज भक्ति सार रस पावै। राधापति लै निकट बसावै॥२॥

इन शिक्षा-सार वचनों को जो लोग सुनेंगे, और उनका मनन करके अपने मन-हृदय में धारण करेंगे; वे इस भक्ति मार्ग पर चलते हुए दुस्तर भवसागर को सहज ही पार कर जायेंगे और परम-प्रेम रूपा सार भक्ति-रस का गान करेंगे जिसके प्रताप से उन्हें श्री राधापति श्याम सुन्दर श्रीकृष्ण अपने निकट निवास देंगे।

प्रथम शिष्य गुरु सरन सिधारै, गुन अरु शील स्वभाव निहारै।
बरनाश्रम सों न्यारो होई, इन्द्रीजित गुरु कीजै सोई॥३॥
जो न अनर्पित भोजन करही, आन देव मनसाऊ न धरही।
सदाँ वचन साँचे मुख बोलै, विषय वासना चित्त न डोलै॥४॥

साधक शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह सर्वप्रथम श्री गुरुदेव की चरण-शरण में जावे, वहाँ जाकर उनके गुण, शील (आचरण) और स्वभाव को देखे (यदि ये तीनों बातें ठीक हैं तो)। जो गुरु वर्णाश्रम से अलग है अर्थात् इससे ऊपर उठा हुआ है तथा जितेन्द्रिय है वही गुरु शिष्य के लिये वरण करने योग्य है-अन्य नहीं।

जो गुरु श्री भगवान को अर्पित किये बिना कुछ पाता ही न हो; अन्य देवी देवताओं को मन में भी न लाता हो; सदा सत्य-वाणी मुख से उच्चारण करता हो और विषय-वासनाओं से जिका चित्त जरा भी न डिगता हो, वही गुरु वरण करने योग्य है।

अन्यान्य पुराणों में भी श्रीगुरूदेव के जो लक्षण कहे गये हैं उनका वर्णन पद्म पुराण में दृष्टव्य है -

विष्णुचेतो प्रशांतात्मा विमन्युश्च सुहृन्नृणां।
साधुर्महान् सदालोके स गुरुः परिकीर्त्तितः।
विष्णुव्रतधरोनित्यं वैष्णवानां सुसंमतं।
विष्णोः कथारतोलोके विष्णूत्सव रतो गुरुः॥
कृपासिन्धु स्वयं पूर्णः सर्वसत्वोपकारकः।
परिचर्यायशोलाभाऽविष्णुशिष्यो गुरुर्न हि॥

लोक में गुरु कहलाने योग्य वही है जो सदा प्रशान्त, क्रोध-रहित, साधु, महान् और विष्णु-तद्गत-चित्त होवे। जो विष्णु-व्रतधारी, वैष्णव-सम्मत, विष्णु-कथा-रत, कृपा-सिन्धु, स्वयं पूर्ण, सर्व प्राणियों का हितकारक हो, वही गुरु होने योग्य है। और जो इसके विपरीत आचरण युक्त सेवा-परायण (खुशामदी) यश-लिप्सु, लोभी और अवैष्णव हो, वह गुरु कहलाने योग्य नहीं है। और भी; अगस्त्य-संहिता में-

श्रीकृष्णोपासकः शांतो विषयेश्वपि निस्पृहः।
तपस्वीसत्यवादी च गृहस्थो गुरुरुच्यते॥

जो गुरु श्रीकृष्णोपासक शान्त, विषयों से निस्पृह, तपस्वी और सत्यवादी है, यदि वह गृहस्थ भी है तो गुरु बनाने योग्य है।

आगे और भी गुरु के सूक्ष्म लक्षणों का परिचय कराते हुए-चतुर्भुजदासजी कहते हैं-

होइ प्रसिद्ध जगत जिहि जानें, सम्प्रदाय चहुँ-मध्य पिछानें।
मंत्रतंत्र के भेदहि पावै, वेद द्रुमन कौ सार बतावै॥ ५॥
ता-पहँ मंत्र जु दीक्षा लीजै, शिक्षा देइ सु निश्चय कीजै॥
गुरु के वचन जु मेटे लोई, घोर नर्क तिन कहँ अति होई॥ ६ ॥

कहते हैं कि गुरु ऐसा हो जो जगत् प्रसिद्ध हो, जो सम्प्रदायानुगत परम्परा में हो और जो सम्प्रदाय भी सर्वत्र चारों दिशाओं में प्रसिद्ध हो, परिचित हो। इसके सिवाय वह गुरु मंत्र और तन्त्रों के भेदों को अच्छी तरह पहिचानता हो। वेद-वृक्षों के सार का ज्ञाता हो अर्थात् वेदों का सार श्रीकृष्ण-भक्ति है उसे वह जानता हो। यदि ऐसा गुरु प्राप्त हो तो उससे मन्त्र-दीक्षा लेनी चाहिये और वह जो दीक्षा दे उसे निश्चय रूप से धारण करना चाहिये। जो व्यक्ति प्रमादवश उन गुरुदेव के वचनों का उल्लङ्घन करता है, उसे अवश्य घोर नरकों की प्राप्ति होती है।

पुण्य पुंज तें मनमें आवै, जो विधि गति गुरु साधु सिखावै॥
देहि मंत्र जो ध्यान बतावै, सोई इष्ट ताहि मन लावै॥७॥
सुत दारा अनुचर जन जेते, दीक्षावन्त करै सब तेते॥
बिनु दीक्षा तिनकौ जल पावै, उपजी भक्ति सु सहज गवावै॥८॥

भगवत्प्राप्ति की विधि और गति श्रीगुरु और साधु सिखाते हैं, वह पुण्य पुंजो के उदय होने पर ही मन में धार हो सकती है। श्रीगुरु जो ध्यान बतावैं और मंत्र दें; वही इष्ट हैं, उसे ही मन में लावे। पुत्र स्त्री सेवक और अन्य कुटुम्बीजन जितने भी अपने हैं-उन सबको दीक्षावंत कर दे अर्थात् वैष्णव दीक्षा दिला दे। यदि अदीक्षित व्यक्ति के हाथ का स्पर्श किया हुआ जल भी लेगा तो बड़ी हानि होगी, क्योंकि वह अपनी पाई हुई भक्ति भी सहज ही में खो बैठेगा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री तथा इतर लोग भी श्रीहरि की भक्ति के अधिकारी हैं और मंत्र-दीक्षा के भी। विष्णु यामल में भी कहते हैं-

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यान्सूद्राश्चसत्स्त्रियोपिवा।
विष्णु भक्तिरतान्साधु दीक्षयेद्विधिना गुरुः॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं स्त्री सभी को गुरु विधि-पूर्वक मंत्र दीक्षा देवें । यदि ये विष्णु-भक्ति रत होवें तो जाति आदि का कुछ भी विचार न करें।

कुछ लोग तर्क करते हैं कि स्त्री सधवा हो, चाहे विधवा, उसे किसी से दीक्षा नहीं लेना चाहिये, क्योंकि स्त्री सदा ही अपाबन है। इस कथन का समाधान करते हुए शास्त्र प्रमाण उद्धृत करते हैं। यथा स्कन्द-पुराण में-

सभर्तृकाच विधवा हरेः पूजां करोतिया।
साप्युद्धरति चात्मानं कुलंमेकोत्तरं शतम्॥
स्त्रीणामप्यधिकारोऽस्ति विष्णोराराधनादिषु।
दीक्षातु सर्वेषां ग्राह्यास्त्रीणां चैव विशेषितः॥

स्त्री सधवा हो अथवा विधवा, वह यदि श्रीहरि का आराधन करती है तो अपनी एक सौ एक पीढ़ियों का उद्धार कर देती है। विष्णु-आराधन में स्त्री का पूर्णाधिकार है एवं दीक्षा ग्रहण करने का अधिकार सभी को है, किन्तु स्त्री को तो विशेष रूप से है।

प्रातकाल उठि हरिहिं जगावै, सुमिरन कै अथवा गुन गावै।
मृतिका सहित शौच सो करई, दस जु बार बायें कर धरई॥ ९॥
सात बार विवि-पानि पखारै उभय बार चरननि अनुसारै।
कण्टक द्रुम अरु कटुक कसाये, करै दतौन जो प्रकट बताये॥१०॥

मंत्र दीक्षा ग्रहण पूर्व वैष्णव बनने के पश्चात् उसका क्या कर्त्तव्य है उसका उपदेश करते हुए श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि वैष्णव प्रातःकाल उठकर अपनी भावना में श्री हरि का जागरण करावे और उनका स्मरण (मन ही मन) करता रहे अथवा (उच्चारण पूर्वक पदादि के द्वारा) गुण-गान करे। तत्पश्चात् शौचादि क्रिया में मिट्टी का उपयोग करके जल लेवे और हस्त शुद्धि के लिये प्रथम दस बार बायें हाथ को पवित्र मिट्टी से धोवे और सात बार दोनों हाथों को मिलाकर धोवे।

फिर दो बार दोनों चरणों को धोवे। इस प्रकार हाथ पैर को शुद्धि करके जल से करूला (कुल्ला) करके मुख शुद्धि करे और कटीले, कड़वे और कसैले वृक्षों की दतौन लावे तथा इनसे दंत शुद्धि करे, जिनके लिये शास्त्रों ने आज्ञा दी है वही दंत-धावन लावे, अन्य नहीं।

पुनि स्नान कह्यो विधि जैसो, कूप तड़ाग तजै घर बैसो।
पुनि हरि मन्दिर तिलक जु धरई, दण्डाकार छिद्रयुत करई॥११॥
रामानुजनि विस्तार विशेखी, करें बनाइ आरसी जल देखी।
नाशामूल केश लगि जाई, तिलक भक्त को यह कह्यौ भाई॥ १२॥

फिर स्नान की जैसी विधि कही गई है, उसी प्रकार से कूप और तड़ाग का परित्याग करके केवल घर में ही स्नान करना चाहिये। स्नानोपरान्त हरि मन्दिर अर्थात् तिलक की अपने भाल पर रचना करे जो ऊर्द्ध-पुण्ड्र हो-दण्डाकार हो और जिसके मध्य में एक छिद्र अर्थात् बिन्दु हो।

श्री रामानुज सम्प्रदाय के वैष्णवगण इसका विशेष विस्तार से वर्णन करते हैं, जो उनके ग्रंथों में देखने से मिल सकता है। तिलक करके जल की आरसी (दर्पण) देखें।

कोई-कोई वेद को प्रमाण मानकर ऊर्द्ध-पुण्ड्रादि का निषेध करते हैं किन्तु श्रुति भी तिलक आदि करने की आज्ञा प्रदान करती है यथा-

हरेः पदाकृतिमात्मनोनि धारयेन्मध्येछिद्र मूर्द्ध-
पुंड्रंयो धारयति सररस्यप्रियो भवतिसपुण्यवान्।
मुक्ति भाग्भवति । तस्मात्सर्व दोर्द्धपुंड्रं धारयेत्॥

हिरण्य-केशी शाखा-श्रुति-यजुर्वेद

श्रीहरि के चरणों की आकृति का ऊर्द्ध-पुण्ड्र जो मध्य में छिद्रयुक्त हो धारण करे। तो इसका धारण करने वाला श्रीहरि का प्रिय होता है। वही पुणात्मा है और वही मुक्ति का भी भागी है। अब वैष्णव के सभी श्रृंगार और चिह्नों का श्रीचतुर्भुजदास जी वर्णन करते हैं-

तुलसी की माला जु बनावै, हरिहि चढ़ाय सु आपुन नावै।
ज्यों द्विज सदा जनेऊ धरई, माला बिन जलपान न करई।।१३।।
प्रथमहि गुरु कौ ध्यान जु धरिवौ, मूलमंत्र को सुमिरन करिवौ।
अष्टोत्तर सौ बार जपीजै, घटि तातें कबहूँ नहिं कीजै।।१४।।

वैष्णव तुलसी की माला बनाकर उसे श्रीहरि को समर्पित करके तब आप धारण करे। जिस प्रकार ब्राह्मण सदा ही जनेऊ धारण करता है; उसी प्रकार वैष्णव भी माला के बिना जल भी पान न करे।

भजन की रीति में सर्वप्रथम श्री गुरुदेव का ध्यान करे और उन्होंने जो मूल मंत्र दिया है उसका स्मरण करे। अष्ठोत्तरी माला (१०८ मणियों की) से एक माला का नित्य प्रति जप करे, इससे कम जप करे ही नहीं, वरन् अधिक ही करे।

भक्ति तंत्र में कण्ठी और माला का विधान बताते हुए कहा है-

यज्ञोपवीत वद्धार्या तुलसी नव दामनी।
केचिन्मालाशब्देन माला तु नाभिपर्यता।।
इति कथयंति तत्र मालाशब्देन कंठ्यपि।
कण्ठलग्ना तु या माला सा कण्ठी परिकीर्तिता।।

वैष्णव नव-दाम-मयी तुलसी माला यज्ञोपवीत की तरह धारण करे। कोई-कोई माला का अर्थ नाभि-पर्यन्त माला से लेते हैं। इस 'माला' से 'कण्ठ की

माला' केवल यही अर्थ है। इसका प्रमाण देते हैं-कण्ठ से लगी हुई जो माला है वही 'कण्ठी' कही जाती है।

पुनि हरि की पूजा करै जाई, जिहि विधि गुरु निज भक्ति बताई।
शुद्ध पाक करि भोग लगावै, भक्तनि सहित प्रसादी पावै॥१५॥
लगै सु भोग इष्ट अपने निज, तजि सु अन्न रस फलनि लेहि द्विज।
कुष्ट व्याधि सुत तिय बिनु होई, सदाकाल नरकनि वसै सोई॥ १६॥

अब वैष्णवों के अनुकूल आचार-विचार और रहनी-सहनी को समझाते हुए कहते हैं-

वैष्णव श्रीहरि के मन्दिर में जाकर अपने इष्टदेव की पूजा करे जिस प्रकार श्री गुरु और भक्तों ने उसे बताई है। पूजा-आरती के बाद श्रीठाकुरजी के लिये बड़ी पवित्रता से भोजन-पाक करे और प्रेमपूर्वक भोग लगावे। भोग लगाकर और शयन कराने के उपरान्त भक्तों के सहित प्रसाद पावे। स्वयं अकेला कभी न पावे। अपने इष्ट देव को जो सुन्दर भोग लगाया जाय उसके सिवाय अन्य कुछ पावे ही नहीं, चाहे वह भले ही किसी ब्राह्मण का दिया हुआ फल, अन्न अथवा जल ही क्यों न हो जो वैष्णव अपने इष्टदेव के प्रसाद के सिवाय अन्य कुछ ग्रहण करता है, वह कुष्टी, व्याधि-ग्रस्त, और स्त्री-पुत्रों से हीन होकर अन्त में सब काल के लिये नरकों में निवास करता है।

श्रीहरि के मन्दिर में जाकर पूजा करने का माहात्म्य और विधि नारद पांचारात्र में विविध रीतियों से बताई गई है। पूजा का माहात्म्य भिन्न-भिन्न पुराणों में इस प्रकार है। यथा, हरिभक्ति सुधोदय में-

प्रविशन्नालये विष्णोरर्चनार्थंसुभक्तिमान्।
न भूयः प्रविशेन्मातुकुक्षि कारागृहं सुधी॥

अर्थात् जो भक्तिमान् पुरुष श्री विष्णु भगवान की पूजा करने के लिये उनके मन्दिर में प्रवेश करता है, वह फिर कभी अपनी माता के कुक्षि-कारागृह में प्रवेश नहीं करता और प्रसाद की परिभाषा भविष्य पुराण में इस प्रकार करते हैं-

अतस्तत्पुरुतोन्यस्तं तदा लोक पवित्रतम्।
अन्नपिष्टं रसाघत्तत्प्रसादमुदीर्यते॥

जो कुछ अन्न-पक्व, रस आदि किसी भक्त के द्वारा भक्ति-भाव से श्रीभगवान के लिये निवेदित किया गया है वह सभी प्रसाद है। प्रसाद का सम्मान न करने से श्री भगवान की प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती।

इसी प्रकार और भी, योग-वाशिष्ठ में कहा है-

नोच्छिष्टं नावशिष्टं च हरेरन्नं प्रकीर्तितं।
स्तुतिवाद मिमं मत्वा नरोभवति पातकी॥

श्रीहिर के प्रसाद में शेषान्न और उच्छिष्ठान्न की बुद्धि नहीं रखनी चाहिये। प्रसाद महिमा में जो लोग स्तुतिवाद मनाते हैं वे अवश्य पातकी होते हैं।

भक्ति सुगम अरु आगम आहि अति, तजि कुल कर्म चलै भक्तनि गति।
सो जग जीत परमपद लहि है, ना तरु जुग जुग जम बस रहि है ॥१७॥
जनम कर्म लीला ते कीजै, इष्ट समुझि गुरु पै सुनि लीजै।
दिक्षा दै गुरु शिक्षा देई, ते जु वचन मन में धरि लेई॥१८॥

भक्ति जितनी सुगम है; उतनी ही अगम्य भी है। भक्तों की यही चाल है कि इस भक्ति पथ में कुल और कर्म का सर्वथा परित्याग करना पड़ता है और जो कोई इनका परित्याग कर देता है, वही विश्व-विजेता है तथा परम-पद का भी अधिकारी है। यदि भक्त ऐसी भक्ति न कर सका तो अन्ततः उसे यमराज के वशीभूत होना ही पड़ेगा और उसके दण्ड सहन करने ही पड़ेंगे।

अपने इष्टदेव का निर्णय श्री गुरुदेव के मुख से ही सुनकर भली प्रकार उनका स्वरूप, प्रभाव, गुण लीला-रहस्य आदि शक्ति के अनुसार समझ ले। पश्चात् उन्हीं लीला और जन्म कर्मों का चिन्तन, स्मरण, कीर्तन, ध्यान, अनुकरण (नाट्य) आदि जीवन भर करता रहे। श्री गुरुदेव वैष्णव दीक्षा देकर जो कुछ शिक्षा (आचार, विचार, भावना उपासना सम्बन्धी दें, उन वचनों को बड़ी दृढ़तापूर्वक अपने हृदय में धारण करे, यह वैष्णव साधक का कर्त्तव्य है।

गौ अरु बछहिं वियोग न कीजै, ब्रह्म दोष मन दाब न दीजै।
कर्कश वचन हृदौ छ्वै न कहिजै, वधि समान सो पातक लहिजै॥१९॥
त्रिनुतें तन नीचौ अति कीजै, होइ अमान मान तिहि दीजै।
सहन सुभाव वृछ कौ-सौ करि, रसना सदा कहत रहियै हरि॥२०॥

वैष्णव को चाहिये कि वह कभी भी गाय और उसके बछड़े का परस्पर में वियोग न करावे। ब्राह्मण के दोष मन में भी न लावे। किसी से कर्कश वचन न कहे, जो किसी के हृदय में चुभ कर उसे दुःखी कर दें। जो वैष्णव इन अपराधों को करता है वह बध के समान पाप का भागी होता है। वह अपने आपको तृण से भी नीच बना ले। स्वयं तो अमानी हो जाय और दूसरों को सदा ही सम्मान देता रहे। अपना-सहन-शील स्वभाव वृक्ष के समान बनावे तथा वाणी से सर्वदा 'श्रीहरि श्रीहरि' ऐसा कहता रहे-नाम रटता रहे।

वृषभ वच्छ पर पाँव न दीजै, क्रीडा-अर्थ न नीर तरीजै।
आगि गाँव बन में न लगावै, भोजन जल न अनर्पित पावै॥२१॥
क्रोध आत्मा-घात न कीजै, जुआ खेलत, दृष्टि न दीजै।
मद अरु मांस दोष निज तजियैं, और देव मनसाहू न जजियै॥२२॥

कहते हैं कि वैष्णव कभी भी बैल और वृक्ष पर अपने पाँव न रखे। क्रीड़ा के लिये भी पानी पर न तैरे, ग्राम और वन में कभी आग न लगावे और भोजन तथा

जल श्री ठाकुरजी को अर्पित किये बिना न पावे। अर्पित करके ही पावे।

क्रोध न करे और आत्मघात भी न करे। किसी को जुआ खेलते हुए भी न देखे। शराब, मांस और अपने दोषों का परित्याग करदे तथा अपने इष्टदेव के सिवाय अन्य देवी-देवताओं का प्रत्यक्ष की कौन बात स्वप्न में भी यजन-पूजन न करे।

''और देव मनसा हूँ न जजिये'' ग्रन्थकार स्वामी चतुर्भुजदासजी स्वयं अनन्य रूप से अपने इष्ट के एकनिष्ठ उपासी थे, उनकी उस चौपाई के अधूलिये के प्रमाण में नारद पुराण में कहा है-

अनन्य ममता विष्णोश्चेदनन्य प्रयोजनः ॥

विष्णु में ही अनन्य ममता रखे, यही अनन्य का प्रयोजन है।

इसी प्रकार से मुकुन्द-माला में भी उनके इस कथन की पुष्टि प्रमाणित होती है-

नान्यं वदामि न श्रृणोमि न चिंतयामि।
नान्यस्मरामि न भजामि न चाश्रयामि॥

मैं न तो अन्य का कथन करता हूँ, न श्रवण और न चिन्तन करता हूँ, न स्मरण। भजन भी नहीं करता और आश्रय तो करूँगा ही क्यों? मेरे तो एक मात्र श्रीहरि ही सब कुछ हैं।

परत्रिय तो माता करि जानै, लोह समान कनक उपमानै।
तृनहि आदि चोरी नहि करिये, आपु समान जीव सब धरिये॥२३॥

अब और वैष्णव के कर्त्तव्य का आदेश करते हुए कहते हैं कि परस्त्री को माता के समान स्वीकार करे और स्वर्ण को लोहा करके माने। इसी तरह चोरी तो तृण

मात्र की भी नहीं करनी चाहिये और जीव-मात्र को स्वयं के समान ही समझना चाहिए।

'परतिय तौ माता सम जानै' के आशय का निर्देश हमारे पुराणों और शास्त्रों में भी मिलता है जैसा कि कहा गया है-

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स वैष्णवः॥
सत्यं शौचं दयां धर्मं शीलमिन्द्रियनिग्रहम्।
षडेते यस्य मनसि स याति वैष्णवं पदम्॥

जो पर-स्त्री को माता और पर द्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान मानता है और सबको अपने आत्मा के तुल्य देखता है, वही वैष्णव है। सत्य, पवित्रता, दया, धर्म-पालन, शील और इन्द्रिय-निग्रह-ये छः जिसके हृदय में हैं, वही वैष्णव पद को प्राप्त होता है। इसी तरह षट् व्यसनों के बारे में इस प्रकार निषेध है-

द्यू तं च मांसं च सुरा च वेश्या
पापर्द्धि चौरी परदार सेवा॥
एतानि षष्ट व्यसनानि लोके
घोराति घोरं नरकं नयंति॥
द्यू ता द्रोहविनाशनं नलनृपःप्राप्तोथवा पांडवा-
मद्यात्कृष्णहरस्य राघवपिता पापर्द्धितो दूष्यते।
दुष्यंतो मृगमांस्यतोविनशनं वेश्यारतोब्राह्मण-
श्चौर्यात्कौरव को न नाश गमितः स्त्रीतोमृतो रावण॥

जुआ, मांस-भक्षण, सुरापान, वेश्या-गमन, चोरी और पर-स्त्री गमन ये छः व्यसन हैं। ये अग्नि के समान हैं, इनसे घोर नरकों की प्राप्ति होती है।

जुए और द्रोह ने नल तथा पाण्डवों का नाश कर दिया; मद्य (मदिरा) ने श्रीकृष्णकुल (यादवों) का । और रघुकुल श्रेष्ठ दशरथ और दुष्यन्त का मृगया से नाश हो गया। वेश्या-रत होने से अजामिल ब्राह्मण का नाश हो गया। इसी प्रकार चोरी से कौरवों का तथा पर-स्त्री की तृष्णा के कारण राक्षसराज रावण का भी नाश हो गया।

अब काम, क्रोध और तृष्णा त्यागने और दया-धर्मादि की दृढ़ता के लिये कहते हैं-

दया धर्म अति मनमहिं आने, सत्ता सकल कृष्ण की जानें।
काम क्रोध तृष्णा तजि जानी, अरु षट विषन नरक के दानी।।२४।।

अपने मन में दया-धर्म को दृढ़तापूर्वक धारण करे और सब ओर श्रीकृष्ण की ही सत्ता का ज्ञान रखे। काम, क्रोध और तृष्णा का सर्वथा त्याग करे और यह ध्यान रखे कि 'षट्-व्यसन' नरक के ही देने वाले हैं।

मांस भक्षण का निषेध याज्ञवल्क्य स्मृति में इस प्रकार बताया गया है-

अनुमंता विश्वसिता निहंता कर विक्रयः।
संस्कर्ता चोप हर्त्ताच खाद कश्चैव पाचकः॥
यावंति पशुलोमानि यो पशोर्मांस भक्षकः।
तावद्वर्ष सहस्राणि विष्टायां जायते कृमी॥

कहते हैं कि पशु-मांस भक्षण करने वालों में वध के लिये सलाह देने वाले; विश्वास देने वाले, मारने वाले, बेचने वाले, उसे काटने-पीटने वाले, रंधन करने वाले एवं खाने वाले सभी उतने हजार वर्षों तक नरक में निवास करते हैं जितने वध-पशु के शरीर में रोम हैं और अन्त में विष्ठा के कीड़े होते हैं।

पण्डित सुन्दर बहुत दुखारे, मूरख कुटिल कुरूप सुखारे।
पहिले जनम दियो अब पावहि, अनरथ करि धन कहँ कत धावहि॥२५॥
सावधान हरि सदन सिधारै, करै नहीं अपराध विचारै।
पनही पहिर न सनमुख जाई, जल फल आदि न सन्मुख खाई ॥२६॥

अब विपरीत गति का वर्णन करते हैं कि - जो पण्डित विद्वान हैं वे सदा दुखी रहते हैं और मूर्ख लोग जो कुटिल भी हैं तथा कुरूप भी हैं सुखी देखे जाते हैं। इसका कारण यह है कि पूर्व जन्म में जो दिया था वही अब इस जन्म में पाते हैं। जब ऐसा ही है तब व्यर्थ ही क्यों अनर्थ किया जाय और धन के लिये दौड़ा-दौड़ की जाय?

वैष्णव का धर्म है कि वह श्रीहरि के मन्दिर में जाते समय पूर्ण सावधानी रखे। किसी प्रकार का अपराध न करे। सदा विचार करत रहे। पनही (जूता) पहनकर मन्दिर में न जाय तथा जल, फल आदि कुछ भी उनके सन्मुख खावे नहीं। दृष्टि-ओट से खावै। यही मर्यादा है।

श्री चतुर्भुजदासजी और भी अपराधों का वर्णन करते हैं-

अशुचि उचिष्ट न मन्दिर पैसे, आसन बाँधि न सन्मुख वैसे।
अरु सन्मुख नहिं पांव पसारै, अनुग्रह करै-न काहू मारै॥२७॥
होईन आपुदान कौमानी, कहै न नृपति की असत कहानी ।
निन्दा अरु अस्तुति तें रहिये, आनि देव की बात न कहिये ॥२८॥

अब वैष्णवोंद्वारा पालन करने की बात कहते हैं-

श्रीहरि के निकट मन्दिर में जाकर न तो उनके आगे ही दण्डवत करे और न पीछे ही, केवल उनके दाहिने तरफ से दण्डवत करे, बाये भी नहीं। अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें उपहार (भेंट) अर्पित करे तथा उनके दर्शन (श्रीमुख) की ओर अपनी पीठ न करे।

समय-समय के उत्तमोत्तम अन्न; फूल और फल आदि योग्य वस्तुएँ ऋतु-ऋतु के अनुसार श्रीहरि को समर्पित करे। यदि श्रीहरि को बिना ही अर्पित किये आप स्वयं खा लेगा; तो सचमुच ही वह यमलोक प्राप्त करेगा। अब शिष्य और गुरु की मर्यादा का वर्णन करते हैं-

अधोवायु तहाँ साधें रहिये। गुरु अछत अवदी बात न कहिये।
गुरु छाया नाँघै नहिं काऊ। आसन सज्या धरै न पाऊ।।३१।।
पहिरै नहीं पाँवरी पनही। गुरु गोविन्द समान सु गनही।
जहँ लगि स्वांस न लागे गाता। अति ढिंग जाइ न कहिये बाता।।३२।।

गुरु-शिष्य के बीच मर्यादा बताते हुए कहते हैं कि शिष्य को चाहिये कि वह श्री गुरु के सन्मुख जाकर अधो वायु का त्याग न करे। आजाने पर उसे साधे ही रहे तथा उनके सामने न कहने योग्य-अश्लील बात न करे। श्री गुरु के आसन और शैया पर अपना पाँव न रखे तथा उनकी छाया को न नाके अर्थात् छाया का भी सम्मान करे।

श्रीगुरु की चरण-पादुका और पनहियों को स्वयं न पहने तथा श्रीगुरु और इष्टदेव गोविन्द में समान भाव रखे। शिष्य की श्वास जहाँ तक जावे, शरीर में स्पर्श करे; इतने निकट जाकर उनसे बात न करे। अर्थात् जिससे शिष्य की श्वास वायु श्री गुरु के शरीर का स्पर्श न करे; क्योंकि यह एक अपराध है।

शिष्य इन अपराधों से बचता हुआ ही श्री गुरुदेव की सेवा करे।

गुरु-मर्यादा और उनके सम्बन्ध में होने वाले अपराधों का वर्णन वाराह-पुराण में इस प्रकार किया गया है-

कुटिलाचरणं चैव परनिंदा पर स्तुतिः
अश्लील भाषणं चैवाधोवायुविमोक्षणम्।।

शक्तौ गौणोपचारश्चह्यनिवेदित भक्षणम्।
तत्तत्कालोद्भवानांच फलादीनामनर्पणम्॥
अन्य भुक्त प्रसादान्नं तिर्यग्पुंड्रस्य धारणम्।
पृष्टी कृत्याशनं चैव परेषामभिवादनम्॥
गुरौ मौनं निज स्तोत्रं देवता निंदनं तथा।
अपराधास्तथा विस्णोर्द्वा त्रिंशापरिकीर्तिता॥

श्री गुरुदेव के सामने कुटिल आचरण, पर निन्दा, पर-स्तुति, अश्लील-भाषण, अधोवायु छोड़ना, ऋतुओं-ऋतुओं के फल एवं अन्न समर्पण करने का सामर्थ्य रहते हुए भी बिना ही निवेदन किये स्वयं खा लेना, शक्ति रहते हुए भी गौण उपचारों से निवेदन करना; अन्य देवी-देवताओं को प्रसाद ग्रहण करना, तिर्यक् पुण्ड्र धारण करना, श्री गुरु के सामने पीठ करना, आसन मार कर बैठना, श्री गुरु के सामने अन्य किसी को अभिवादन करना, चर्चा करना, श्री गुरु से मौन रहना, अपनी बड़ाई करना, देवताओं की निन्दा करना ये बत्तीस अपराध हैं जो वैष्णव के लिये सदा वर्जनीय हैं।

अब यह बताते हैं कि श्री भगवान के अर्चा-विग्रह में एवं श्री गुरुदेव में कैसी बुद्धि रखनी चाहिये और कैसी नहीं-

शिला-बुद्धि हरि स्वरूप सु आने, और नरनि सम गुरु कहँ जाने।
साधु भक्त कौ वरन विचारै, जल समान चरणोदक डारै॥३३॥
कृष्ण मंत्र वचननि सम जानें, आनदेव सम सरि हरि मानें।
इहि विधि वास नर्क निज जानहु, व्यास वचन सुनि साँची मानहु॥३४॥

जो मूढ़-बुद्धि मनुष्य साक्षात् श्री भगवान जो अर्चा-विग्रह स्वरूप में विराजमान हैं, उनमें मूर्ति-बुद्धि करता है तथा श्रीगुरुदेव को अन्य साधारण मनुष्यों के समान मानता है, साधुओं की जाति का विचार करता और हरि, गुरु एवं सन्तों के

चरणामृत में साधारण जल बुद्धि करके यहाँ-वहाँ डाल देता है तथा श्रेष्ठतम तत्व भगवान श्रीकृष्ण के मंत्र को अन्य शब्दों के समान मानता तथा पूर्ण परब्रह्म श्रीहरि को अन्य देवताओं के समान गिनता है वह अवश्य नरक-वासी होता है। यह बात व्यासजी ने पुराणों में कही है, इसे सत्य जानना चाहिये।

सावधान इहि विधि चलै तैसें, नवधा भक्ति करै पुनि ऐसें।
श्रवण कथन सुमिरन मन दीजै, अरु संतत सत संगति कीजै॥३५॥
मृतक जरत उपजै मति तैसी, परत्रिय रमत अन्त गति जैसी।
जो मति उपजत सुनत पुरानहि, सो मति सदा हृदैं में आनहि॥३६॥

पहले कहे गये नियमों में सावधान रहता हुआ साधक अपने मार्ग पर चले, फिर नवधा भक्ति का आचरण करे। उसमें भी श्रवण और कीर्तन में विशेष ध्यान दे और स्मरण में मन लगा दे तथा सदा-सर्वदा सत्संग ही करे। वैराग्य अत्यन्त दृढ़ रखे। शव के जलाने के समय जैसी वैराग्यमयी मति होती है, पर-स्त्री रमण के उपरान्त जैसा वैराग्य और संसार से घृणा होती है तथा जैसे पुराण के सुनने के पश्चात् संसार के झूठे पन का बोध होकर उससे उपरामता आती है; साधक को चाहिये कि ऐसी ही वैराग्यमयी बुद्धि सदा अपने हृदय में लावे।

अब ग्रन्थकार वैराग्य का वर्णन करते हुए जीव को सचेत करते हैं-

जोवन जाइ बुढ़ा पा आवै, तृष्णा अति तरुनी जु दिखावै।
सेत केश मृत की धुज मानौ, भयौ सही काल को पयानौ॥३७॥
जिनकी आयु कलप-सत भारे, ते या भुवि पर बहुत सिधारे।
अपप आयु कलियुग निज तेरी, सब तजि हरिभजि, सुनि मति मेरी॥३८॥

कहते हैं कि मनुष्य का बचपन तो खेल-कूद में चला ही गया, युवावस्था भी चली गयी, और बुढ़ापा आ गया किन्तु तृष्णा तो तरुणी होती जा रही है। सिर के केश श्वेत हो गये जिससे स्पष्ट दीख रहा है कि मृत्यु की मानों ध्वजा ही फहरा रही है और विकराल काल हमारे लिये उस स्थान से जहाँ वह रहता है, पयान कर चुका है-रवाना हो चुका है। साधारण मनुष्य की क्या बात, जिनकी आयु बड़ी भारी-सैकड़ों कल्प-वर्षों की थी वे भी-ऐसे बहुत से लोग पृथ्वी पर से परलोकों में सिधार गये। रे मनुष्य! तेरी तो आयु केवल बीस-तीस वर्ष की ही अत्यन्त अल्प है, क्योंकि तू कलियुग में है और इसकी आयु का यही प्रमाण है। अतएव भैया! मेरा कहना मान ले कि सर्वस्व का परित्याग करके केवल श्रीहरि का ही भजन कर, अन्य कुछ नहीं।

श्रीहरि का आराधन करने से लौकिक एवं पारलौकिक सभी वस्तुओं की प्राप्ति होती है अतएव श्रीहरि का ही आराधन करना चाहिये। जैसा कि हरि भक्ति सुधोदय में कहा गया है-

धनवान् पुत्रवान् भोगी यशस्वी भय वर्जितः।
मेधावी मतिवान्प्राज्ञो भवत्याराधनाद्धरेः ॥

"श्रीहरि का आराधन करने से मनुष्य धनवान्, पुत्रवान्, भोग-सम्पन्न, यशस्वी, भय-रहित, मेधावी, मतिमान और बुद्धिमान् हो जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं-

आनदेव सेवै लहै लघु सुख, विछुरत ताहि होहि सतगुन दुख।
सुपन प्राय औरनि के दान, मेघ छाँह तृन-अगिनि समान॥ ३९॥
पहिले दिन अब लगि गये जेते, दुख सुख अबहि कहाँ हैं ते ते॥
ऐसें ही अगिले जो जै हैं, पाप पुण्य ता साथ सिधै हैं॥४०॥

जो लोग साक्षात् ब्रह्म श्रीहरि को छोड़ कर अन्य देवताओं का सेवन करते हैं वे अल्प सुख प्राप्त करते हैं। तथा उन अल्प सुखों के छूटने पर और भी सैकड़ों गुना दुःख ही पाते हैं। श्रीहरि के सिवाय अन्य देवी-देवताओं का दिया हुआ सुख आदि दान स्वप्न के समान है। जिस प्रकार मेघ की छाया और तृण की अग्नि अस्थायी और अल्प होती है। जो मनुष्य की आयु के पिछले दिन अब बीत चुके हैं, उनमें जो दुःख-सुख आदि भोगने पड़े, वे अब कहाँ हैं ? नहीं हैं। इसी प्रकार अगले दिन भी जावेंगे और उनके साथ तेरे किये हुए पाप और पुण्य ही जावेंगे।

सकल पुण्य हरि कौ जस गायें, पाप सबै हरिकों विसरायें।
नाना कुरनि बाँधि भटकावै, भवसागर कौ पार न पावै॥४१॥
चन्द्र सूर तारागन जे ते, काल-चक्र डर वे फिरें ते ते।
वह ध्रुव अटल भजन हरि कीनों, नारद आदि अभै पद दीनों॥४२॥

अब श्रीहरि की महिमा का स्मरण करते हुए कहते हैं कि श्रीहरि का सुयश-गान करने से सभी पुण्य प्राप्त हो जाते हैं। इसी तरह श्रीहरि का विस्मरण करने से सारे पाप आकर प्राप्त होते हैं। यह विस्मरण-पाप ही जीव को नाना योनियों में बाँध कर भटकाता रहता है और यह जीव इस भव-सागर का अन्त तक पार ही नहीं पाता। इस विश्व-ब्रह्माण्ड में चन्द्र, सूर्य और तारागण आदि जितने भी हैं सभी काल-चक्र से भयभीत हैं। किन्तु ध्रुव को तो देखो; जो काल-चक्र के भी भय से रहित हुआ ध्रुवलोक में निवास कर रहा है; क्योंकि उसे श्रीहरि ने ही अटल कर दिया है। यह श्रीहरि के भजन का ही प्रताप है। इसी तरह नारद आदि भी अभय-पद को प्राप्त हो गये हैं। भाव यह है कि श्रीहरि के भजन-प्रताप से सदा-सर्वदा मंगल और कल्याण ही है।

ऐसे प्रभु तजि औरहि जानें, माता तजि स्वपची ज्यौं मानें।
हरि के भजत सकल सुख पावै, सुर नर साधुक कहि शिर नावै॥४३॥

द्रुम के पेड़ जु ज्यों जल नावत, पान फूल शाखा सुख पावत।
वारि पेड़-डारिनि पर डारहि, वृद्धे नहिं घट-कोटि पखारहि॥४४॥

जो ऐसे परम दयालु प्रभु को छोड़कर और किसी दूसरे को जानता है वह तो ऐसा ही है जैसे कोई अपनी जन्मदात्री माता को त्याग कर किसी चाण्डाली को माता मान ले। श्रीहरि का भजन करने से सभी सुख प्राप्त होते हैं; और उसको सभी देवता और मनुष्य साधु मानकर सिर झुकाते हैं-प्रणाम करते हैं। जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में पानी डालने से वृक्ष की शाखाएँ, डालियाँ, पत्तों और फूल सभी सुख पाते हैं उसी तरह केवल मूल रूप श्रीहरि का सेवन करने से सभी देवता आदि प्रसन्न हो जाते हैं। किन्तु यदि मूल को त्यागकर कोई पेड़ की डाली और पत्तो को सींचता फिरे, तो एक घड़े की क्या बात कोई करोड़ों घड़े ही क्यों न डाल दे, उस वृक्ष की वृद्धि नहीं होगी। ऐसे ही श्रीहरि को छोड़कर अन्य सब कुछ करने पर भी कुछ लाभ न होगा।

श्रीहरि के यजन में ही सबका यजन है। इस पर श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं-

भूँखे हाथ पाँव इन्द्रिन दुख; भोजन करत सबै पावैं सुख।
खीर खांड कर चरन लपेटै, होहि न बल, बिनु प्राननि भेटै॥४५॥
साक-पत्र द्रुपदा कर लहियौ, त्रिपत भयो हरि आपुन कहियौ।
दश-हजार ऋषि तृप्ति भये तब, सुनी कथा दुरवासा की सब॥४६॥

जैसे कोई व्यक्ति भूखा हो तो उसके हाथ, पाँव और इन्द्रियाँ सभी दुखी रहते हैं और पेट में भोजन जाने पर सभी सुखी हो जाती हैं। यदि भूखे मनुष्य के हाथ-पावों में खीर और शर्करा लपेटी जाय तो क्या उसे शान्ति मिल सकती है? भूख तो खाने पर ही जायगी और भोजन के उपरान्त ही प्राणों में शक्ति और शरीर में बल आवेगा।

यह बात प्रसिद्ध ही है कि भगवान श्रीकृष्ण ने द्रुपद-सुता कृष्णा के हाथ से एक शाक-पत्र मात्र खाया था और उस कण से श्रीकृष्ण के तृप्त होते ही दुर्वासा के शिष्य दस-हजार ऋषि गण सब के सब तृप्त हो गये थे। यह दुर्वासा ऋषि की कथा सुनी गयी है।

'सुनी कथा दुर्वासा की सब' यथा; श्रीमद्भागवत में यह कथा इस प्रकार आती है-

योनो जुगोपवन एत्य दुरंत कृच्छाद्
दुर्वाससोऽरिरचितादयुताग्र भुग्यः।
शाकान्नशिष्टमुपभुज्य यतस्त्रिलोकीं
तृप्ताममंस्त सलिलेविनिमग्न संघः॥

अर्जुन ने युधिष्ठिर से कहा-हे धर्मराज! दुर्योधन के छलपूर्ण अनुरोध से अपने क्रोध के लिए प्रसिद्ध दुर्वासा ने हम लोगों को ऐसी आपत्ति में डाल दिया था कि जिससे पार पाना कठिन था। उसी समय श्रीकृष्ण वन में हम लोगों के पास आये और सूर्य के दिये हुए पात्र में जो साग का एक टुकड़ा बच रहा था उसी को खाकर उन्होंने विश्व को तृप्त कर दिया और दुर्वासा के दारुण शाप से हमारी रक्षा की। दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों के साथ भोजन किया करते थे परन्तु उस दिन अपने शिष्य-समूह के साथ जल में स्नान करते समय ही उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि त्रिलोकी का पेट भर गया है और फिर वे लौटकर भोजन के लिए हमारे पास आये ही नहीं, न जाने किस ओर चले गये।

इस पद में यह भाव बताया गया है कि केवल श्रीहरि की आराधना करने से ही सबका आराधन हो जाता है। यथा पद्म-पुराण में कहा गया है-

यै स्मिनाराधितो विष्णुर्विश्वमाराधितोभवेत्
तुष्ट चराचरश्चापि सर्व देव मये हरौ॥

जिसने श्रीहरि का आराधन कर लिया उसने मानो विश्व के सब देवताओं का आराधन कर लिया; क्योंकि चराचरात्मा श्रीहरि सर्व देवमय हैं उनके तुष्ट होने पर सभी तुष्ट हो जाते हैं।

अब पुनः केवल श्रीहरि के ही यजन पर जोर देते हुए कहते हैं--

ऐसो प्रभु तजि आन न यजिये, श्रवण कथन मनसाहु-न भजिये
घट-भर दूध बून्द दधि विगरै, भक्ति ससल्य लगत यों डगरै।।४७।।
निज प्रभु जानि भरोसो करि है, ताके सकल कलेशहि हरिहै।
जिनके तन मन वसत सचाई, जरत तेल शीत ह्वै जाई ।।४८।।

ऐसे परम श्रेष्ठ श्रीहरि को छोड़कर अन्य किसी देवता आदि का पूजन न करे तथा अन्य का श्रवण और कथन वाणी से कौन कहे; मन से भी न करे। जैसे घड़ाभर दूध एक बूंद दही से बिगड़ जाता है; उसी प्रकार भक्ति सशल्यता (अन्य देवाश्रय ग्रहण) से एकदम बिगड़ जाती है। वहाँ से चली ही जाती है। जो अपने इष्टदेव के रूप में जानकर प्रभु का विश्वास करेगा, वे प्रभु भी उसके सारे क्लेशों का हरण कर लेंगे। इस प्रकार जो भी बुद्धि से लेकर तन-मन सभी से उनके प्रति सचाई रखेगा तो निश्चय ही उस अनन्य भक्त के लिये जलती हुई तेल की कढ़ाई भी शीतल हो जायगी।

'ऐसे प्रभु तजि आन न यजिये' -यही अनन्यता है जैसा कि नारद पांच रात्र में कहा है-

नान्य देव गुणानश्रूयान्तान्य देवंविनिंदयेत्।
नान्यं देवार्पितं भुक्ते यजेन्न पितृनपि।
नान्यं जानाति स्वप्नेपि सोऽनन्यः कत्थ्यते बुधैः।।

बुध लोग उसी को अनन्य कहते हैं जो न तो अन्य देवों का गुण श्रवण करता है न चिन्तन करता है, न अन्य देवों का अर्पित प्रसाद पाता है, न यजन ही करता है, और तो क्या अन्य को स्वप्न तक में जानता भी नहीं; फिर निन्दा-स्तुति की बात ही कहाँ रही ?

तन मन बुद्धि न हरि तजि जाकैं, ह्वै वश श्याम भये फिरैं ताकैं ।।
नामदेव की छान छबाई, मन्दिर फेर्‌यौ गाय जिवाई ।।४६ ।।
बिना बीज गेहूं निपजाये, सेन हेत हरि चुपरन आये ।
ऐसो सब सन्तनि यश गायौ, भक्तनि के वश आपु बँधायौ ।।५० ।।

जिसके तन, मन और बुद्धि श्रीहरि का त्याग नहीं करते, श्रीहरि उसी के वश में हुए पीछे-पीछे फिरते हैं। इसी भक्ति के वश होकर श्यामसुन्दर ने भक्त नामदेव की छान छाई थी, मन्दिर का मुँह फेर दिया था और मरी हुई गाय तक जिला दी थी।

इसी प्रकार धन्ना जाट के यहाँ खेतों में बोये बिना ही गेहूँ उपजाये थे तथा सेन भक्त के बदले स्वयं श्रीकृष्ण दुर्योधन के चरणों में तेल लगाने आये थे और चरण दबाकर चले गये थे। ऐसे अनेक भक्त की परवशता का यश-गान भक्तों और सन्तों ने किया है जिससे यही पता चलता है कि श्री भगवान भक्तों की भक्ति से रीझ कर स्वयं ही उनके वश में हो गये।

'तन मन बुद्धि न हरि तजै जाकें' को पद्मपुराण के प्रमाण से यों कहा जा सकता है कि ऐसे ही भक्त के वश में सदा श्री श्यामसुन्दर रहते हैं यथाः-

भक्त्यैव वश्यो हरिरादि देवः,
सदा प्रमाणं किल गोपिकात्र ।।

आदि देव भगवान सदा ही भक्तों के वश में रहते हैं इसका प्रमाण गोपिकाएँ

हैं। एवं ब्रह्म-वैवर्त्त-पुराण में-

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञाने नापि कर्मणा।
हरिर्हिसाध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिका॥
त्वंतु भक्तिः प्रियातस्य सततं प्राणतोऽधिका।
त्वयाऽहूतस्तु भगवान्यातिनीच गृहेष्वपि॥

श्री भगवान न तो तप से, न वेद-पाठ से न ज्ञान से और न कर्म से ही वश में होते हैं। वे तो एक भक्ति से वश में होते हैं। इसका प्रमाण गोपियाँ हैं । नारदजी कहते हैं- हे भक्ति देवी! तुम तो श्रीहरि को प्राणों से भी प्यारी हो-उनकी प्रिया हो। तुम्हारे आह्वान करने पर भगवान दीन-भक्तों के घर भी पहुँच जाते हैं।

ब्रत तीरथतप का दिए दानहि, छूटै तब सेवै भगवानहि।
ज्यों सोनों सौ-बार पखारै, होइ न शुद्ध अगिनि बिनु डारै॥५१॥
अरु संतत सत्संगति कीजै, साधुन कौ चरणोदक लीजै।
श्री भागौत कथा रति बाढ़ै, असत चरित सुनत तन बाढ़ै॥५२॥

कोई भी व्यक्ति व्रत, तीर्थ-सेवन, तपस्या और दान से संसार नहीं छुड़ा सकता। संसार तो तब छूटेगा जब वह श्री भगवान का सेवन करेगा। जिस तरह स्वर्ण को सैंकड़ों बार जल में धोने पर भी वह शुद्ध नहीं हो सकता। वह तो केवल अग्नि में तपाने पर ही शुद्ध होगा। इसी तरह जीव व्रत, तपस्या दानादि से पवित्र नहीं हो सकता। इसकी आत्यन्तिक शुद्धि तो केवल श्रीहरि के भजन सेवन से ही होगी। साधन को चाहिये कि निरंतर सत्संग करे तथा सन्तों का चरणोदक लेकर नित्य पान करे। श्रीमद्भागवत की कथाओं में रुचि बढ़ावे और असत् चरित्रों को सुने ही नहीं। उनकी बातों को सुनकर शरीर जल-सा उठे। जीव अन्य साधनों से नहीं केवल भक्ति से पवित्र होता है।

यत्प्राप्यते नैष्टिक याहि भक्त्या
न तत्तयोभिर्व्रत दान तीर्थैः।
न चाध्वरै योर्गपथैश्च सांख्यैः
तस्माद्यतेथा हरि भक्तिमाप्तुम्।
द्विजाः मयाज्ञातमशंशयंतत्
सारं त्रिलोक्या हरि भक्तिरुत्तमम्।
भ्रष्टस्तुते वै हरिभक्ति वर्जिताः
पतंत्यधोनाद्रित कृष्ण भक्ताः॥

-वामन पुराण

जिस प्रकार की पवित्रता नैष्टिक भक्ति से प्राप्ति होती है वैसी ब्रत, दान, तीर्थ, यज्ञ, योग मार्ग तथा सांख्य से भी नहीं प्राप्त होती, इसलिये भक्ति का ही प्रयत्न करना चाहिये। हे ब्राह्मण! मैंने यह बात भली प्रकार निःसन्देह-पूर्वक जान ली है कि त्रैलोक्य में एक हरि भक्ति ही उत्तम है। जो अभागे इस भक्ति से वर्जित होकर इधर-उधर भटकते हैं वही भ्रष्ट होते हैं और अन्त में नरकों में जाते हैं क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण-भक्तों का सम्मान नहीं किया।

अब ग्रन्थाकार सब वेद शास्त्रों का सार क्या है; उसका निरूपण करते हैं-

पण्डित तो श्लोक बखानै, मूरख ताकौ मरम न जानै।
अलप आयु पढ़ि हैं थोड़े नर, वारे तें जंजार परे घर ॥ ५३॥
वेद पुरान सार सबको यह, कहि हरि नाम सकल पापनि दह।
साधुनि के मुख मैं सुनि पायौ, सो जस निज भाषा करि गायौ॥ ५४॥

आजकल पण्डित लोग तो शास्त्रों के श्लोकों का बखान करते हैं किन्तु मूर्ख लोग उसका मर्म ही नहीं समझ पाते। कारण यह कि कलियुग के लोग तो स्वयं ही अल्प (थोड़ी) आयु के हैं और उस पर भी कम बुद्धि वाले कम पढ़े

लिखे। और बचपन से ही घर के जंजाल, स्त्री-कुटुम्ब आदि के भरण-पोषण में लगा दिये गये या स्वयं लग गये हैं।

इन लोगों के लिये वेद और पुराणों का सार यही बताया जाता है कि वे सर्व साधन विहीन, अल्पायु, अल्पमति लोग केवल हरि नाम का ही आश्रय लें। बस वही उनके सारे पापों का नाश कर देगा। मैंने साधु-सन्तों के मुख से जो कुछ सुना था वही सब भाषा करके सुना दिया-गान किया है। अब ग्रन्थकार इस यश का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

जैसे पथरहिं भिदत न पानी, समुझत नहीं सुनत यह बानी।
ठगबग डिंभिनि की सब मानत, और चरित्रनि सों चित सानत ॥५५॥
यह जस सार विचार जु करि है, सुनि के पुनि मारग अनुसरिहै।
मुरली धरन शरन निजु राखहि, चतुर्भुजदास सही जस भाषहि ॥ ५६॥

जिस प्रकार पत्थर में पानी नहीं भिदता, इसी तरह जो मूढ़ लोग हैं उन्हें भी यह बात समझ में नहीं आती। संसार की यही गति है कि ठग, वाचाल (छलिया) और दम्भियों की बातें प्रायः सभी लोग मान लेते हैं और अन्य लौकिक चरित्रों में अपने चित्त को सानते हैं अर्थात् व्याख्यान, उपन्यास और अखबारबाजी में अपना मन लगाते हैं, भगवच्चरित्र में नहीं।

यह 'शिक्षा सार' सबका सार रूप है। जो मनुष्य इस पर गम्भीर विचार करेगा और सुनकर अपने इष्ट वैष्णव मार्ग का अनुसरण करेगा, उसको अवश्य ही मुरलीधर भगवान श्रीकृष्ण अपनी शरण में रेखेंगे-अपनायेंगे। चतुर्भुजदास यह यश सत्य ही कह रहा है।

सारे जीव माया मोहित होने के कारण यथार्थ बात नहीं समझते । यही उनका मोह है। जैसा कि विष्णु रहस्य में कहा है-

सा हानिस्तन्महाच्छिद्रं संमोहः सच विभ्रमः।

यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न चिंतये॥
आयुषः क्षण लेशोपि न लभेत्स्वर्ण कोटिभिः।
तच्चेद्विफलतां याति को वाहा निरतः परम्॥

वही हानि है, वही महा छिद्र (दोष) है, वही मोह है और वही संशय है, जिस समय में वासुदेव श्रीकृष्ण का चिन्तन नहीं किया जाता। कोटि-कोटि भार स्वर्ण के बदले में क्षण भर की आयु नहीं मिल सकती। फिर यदि वह आयु भी व्यर्थ सही खोई जाय तो भला इससे बड़ी मूढ़ता और क्या हो सकती है?

• • •

अन्त में इस द्वादश यश के परम उद्भट भाष्यकार श्री श्री १०८ श्री आचार्य युगल वल्लभजी गोस्वामी अपने यश की समाप्ति करते हुए कहते हैं-

एक-एक अक्षर की महिमा अनेक भाँति,
वेदरु पुरान सब कृष्ण नाम गायो है।
सो तो अनन्त नाम कैसे के बखान करौं,
वदन हजार शेष पार हू न लायो है।
बल्लभ युगल हित, पोत के खिवैया सन्त,
इनकी दया तैं मेरो मन उफनायो है।
जो कछु बनायौ बुद्धि सो तौ करि लीजै सुद्ध,
चाह करि बौना जु अकास-फल लायो है।

॥ शिक्षा सार (पंचम) यश समाप्त ॥

षष्ठ
हितोपदेश यश

चौपाई, राग मारु

श्री हरिवंश सुमिर जस गाऊँ राधाकृष्ण चरन रति पाऊँ
'हित-उपदेश सुनै गुनै कोई, आवागमन न कबहूँ होई॥१॥

पिछले पाँचवे श्री शिक्षा-सार-यश में भक्ति को सुगमतम जीवन-मार्ग बतलाते हुए नवधाभक्ति के प्रकार, वैष्णव धर्म की सहजता और वैष्णव जीवन-दर्शन का दिग्दर्शन कराने के पश्चात संसार चक्र में जीवन जी रहे जीव को उपदेश करते हैं । श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि श्री हरिवंश का स्मरण करके मैं इस यश को गाता हूँ ताकि श्री राधाकृष्ण के चरण कमलों का प्रेम मुझे मिले। जो कोई इस हित-उपदेश को सुनकर मनन करेगा उसे पुनः संसार चक्र में नहीं पड़ना होगा। श्री हरिवंश यश की गरिमा को समझाने के लिए यह पंक्तियाँ हमें सहायक होती हैं-

सर्वे मङ्गल माङ्गल्य सर्व संवितनोतियः।
सकृदुच्चरितं येन हरिवंशोति नामकम्॥
हितरूपेण भक्तानां स्वोपकारेण संयुतः।
हितश्च हरिवंशश्च नाम्ना कलिमलापहः॥
यावद्दारागृहापत्यदेह कोषादयः पशून।
सर्वार्थ कामान्यत्प्रीत्याः नो तावन्मानसं व्रजेत्॥

जो एक बार भी 'श्री हरिवंश' नाम उच्चारण करता है उसका यह (नाम) सब प्रकार से कल्याण करता है क्योंकि यह सब मङ्गलों का भी मंङ्गलकर्ता है।

यह हित रूप से अंतःकरण में बैठकर भक्तों का उपकार ही करता है। इसीसे यह हित हरिवंश नाम से विख्यात है। इस नाम के ग्रहणकर्ता के सब कलिमल (पाप) नाश होते हैं। जब तक स्त्री, घर, पुत्र, देह, कोष, पशु, अर्थ, कामना आदि को हित ही की न माने-उनकी प्रसन्नता के हेतु इन सबको न लगावे अर्थात् अर्पण न करे तब तक यह नाम हृदय में विराजमान नहीं होता।

यह नाम सर्वोपरि है। इसे रटने से श्रीराधाकृष्ण के चरणों में प्रीति हो जाती है। अतएव हित में प्रीति हो इसलिये ''हितोपदेश यश'' कहते हैं-'हितोपदेश' के सुनने का फल आवागमन से मुक्त होना है।

औरनि भक्ति ज्ञान समझाऊँ, हौं विषयावश हरि बिसराऊँ।
सत पथ तजि जु अपथहि धायौ, अगनित जनम-जनम डहकायौ॥२॥

यहाँ पर उपदेश के बदले अपने स्वयं को ही सम्बोधित करते हुए ग्रन्थकार अपनी लघुता ही सामान्य जनों की तरह बताते हुए कहते हैं कि मैं अन्य लोगों को तो भक्ति सम्बन्धी तत्व बोध कराता फिरता हूँ परन्तु स्वयं विषया (स्त्री) के वश होकर श्रीहरि को भूलता हूँ। मैं उत्तम मार्ग को छोड़कर कुमार्ग में खूब दौड़ता फिरा। इसीके फलस्वरूप असंख्य जन्म पुनः -पुनः पाता हुआ भटकता फिरा।

उपरोक्त छन्द में ग्रन्थकार का लक्ष्य सतूपथ के अर्थ में भक्ति को छोड़ने से तात्पर्य है और अपथ पर दौड़ने का तात्पर्य कुसंग रूप स्त्री एवं स्त्री-संङ्गियों के संग से है। कहा है-

स्त्री संगिनां संगं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।

-श्रीमद्भागवत

आत्मवान् भक्त पुरुष, स्त्री तथा स्त्री-संगियों का संग दूर से ही त्याग दे, क्योंकि स्त्री-संग ही बन्धन का कारण है। कहा है-

लाख बयालीस जल में कीन्हे, नाना भाँति जन्म तिहि लीन्हे।
इतने ही जन्म जु थल भटकायौ, बहु विधि विधि नटवत जु नचायौ॥३॥

चौरासी लाख योनियाँ हैं उनमें बयालीस लाख जल के जीवों में मैंने अनेक प्रकार से जन्म लिये अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के जलचरों के रूप में जन्म ग्रहण किये। और शेष बयालीस लाख योनियों में मुझे पृथ्वी पर भी जन्म लेकर भटकना पड़ा। कहने का अर्थ, ब्रह्मा ने बहुत प्रकार से नर्तक (नट) के समान अनेक योनियों में मुझे नचाया। चौरासी लाख योनियाँ हैं जिनमें चार खानि बताई गयी हैं यथा-अणुज, उद्भिज (पृथ्वी फोड़कर उगने वाले), जरायुज (जेर रूप आवरण से ढँके हुए पिण्ड) और स्वेदज (पसीने से उत्पन्न होने वाले जीवधारी)

कबहूँ कीट पतंग ह्वै जरियौ, कबहूँ तिर्यकतन तिहि धरियौ।
साठ-सहस्र वरष सुनो ठाई, कुरि बिरछन की जाइ बसाई॥

अब कहते हैं कि यह जीव कभी तो कीड़े, पतङ्ग आदि जीवों के रूपों को धारण कर अग्नि या दीपशिखा आदि में पहुँच कर जलकर नष्ट हुआ, तो कभी तिर्यक्‌योनि (शूकर-कूकरादि) में शरीर धारण कता हुआ भटका। इसके पश्चात् साठ हजार वर्षों तक वृक्ष योनि में जाकर शरीर धारण कर स्थायी वास किया।

वरषा धाम सीत सहि लीनों, कटत जरत तन त्रास न कीनों।
पर उपकार फूल फल दाई, तब कुरि जाइ गऊ की पाई॥५॥

फिर इस जीव ने उस वृक्ष देह में वर्षा, धूप और ठण्ड को सहन किया तथा किसी के द्वारा काटे और जलाये जाने पर अर्थात् कई प्रकार की शारीरिक यन्त्रणाएँ पाने पर इसने त्रास न माना और फल-फूल आदि के द्वारा दूसरों का उपकार ही किया । तब (इस प्रकार साधुकृत्य के फलस्वरूप) गाय की कुरि (शरीर, चोला) पाई।

बहुत बार तन गौ जब पायौ, पुनि ओसरौ मनुज कुरि आयौ।
तब तब जमदूतनि धरि लीन्हों, लै-लै अघ-कुण्डनि में दीन्हों।।६।।

इस जीव ने कई बार गाय का शरीर पाया। तब कहीं जाकर फिर मनुष्य प्राप्ति का अवसर आया। (इस मनुष्य शरीर को पाकर भी भगवत् भजन नहीं किया। यहाँ तक कि सुकृत तो दूर सब पाप ही पाप किये इससे जब-जब मनुष्य शरीर में मृत्यु का अवसर आया तब-तब यमदूतों ने पकड़ लिया और नरक कुण्डों में डाल दिया।

तिनकी त्रास न जात बखानी, एक ते एक अधिक दुखदानी।
भूतल जो जु बरस सौ जीजै, जरत सँड़ासिनि तोरिबौ कीजै।।७।।

आगे कहते हैं कि उन नरकों की यातना का दुख वर्णन नहीं किया जाता अर्थात् कहाँ तक कहा जाय-बहुत दुःख है। उनमें से प्रत्येक एक से एक बढ़कर दुःखदायी है। याने यों समझो कि जैसे इस पृथ्वी पर सौ वर्ष कोई जिये और उसको लाल-लाल दहकती हुई गर्म सड़ासिनियों (संड़ासियों) से कोई उस के शरीर को तोड़ता रहे।

नरकों के दुःख का वर्णन इस प्रकार आता है-

अन्तराल एव त्रिजगत्यांदिशि दक्षिणस्या-
मधस्ताद्भूमेरुपरिष्टाच्च।
यत्र वैवस्वतो पितृ राजो स्व विषयं-
प्रापितेषु जन्तुषु स्वपुरुषैः संपरेतेषु।
यथो कर्मावद्यं दोष मेवानुल्लंघित भगवच्छासनः
सगणो दमं धारयति।।१।।
तत्र नरका अष्टा विंशति गणयन्ति केचनः।।२।।

एवं विधा नरका यमालये षुसंतिशतशः सहस्रशस्ते-
षु च सर्वेषु सर्वसवाधर्मवर्तिनः।
ये केचिदिहोदिताऽनुदिता श्चक्रमशोऽनिविशन्ति॥३॥
-श्रीमद्भागवत

तीनों जगत (लोक) के भीतर दक्षिण दिशा में यमपुरी के नीचे और पृथ्वी के ऊपर नरक है। जहां पितृराज विवश्वान सूर्य के पुत्र यमराज अधर्म करने वाले प्राणियों को मरणोपरान्त अपने दूतों के द्वारा पकड़, मँगाकर उन प्राणियों के खोटे कर्म, दोषों के अनुसार जिन्होंने कि भगवत् आज्ञा का उल्लङ्घन करके मनमानी की है, उनको दण्ड देता है।

वहां मुख्यतः अट्ठाइस नरक ऋषि-मुनि बताते हैं; शेष अन्य छोटे नरक हैं। इस तरह यमपुरी में सैकड़ों, हजारों नरक हैं। उन सब में सब ही अधर्मी जो कहे गये हैं जो क्रम-क्रम से एक-एक नरक में पड़कर भटकते हुए निरन्तर वास करते हैं।

सो सहिये वह सही न जाई, जम जातना पहर अधिकाई।
अगनित बरस तहाँ दुख पायौ, पुनि-पुनि तिन जु कुरनि भटकायौ॥८॥

पूर्व छन्द में कह आये हैं सौ वर्ष इस भूतल पर गरम दहकती हुई संड़ासियों से नोचते हुए जीवित रहते हुए भोगा हुआ दुःख तो सहा जा सकता है परन्तु यम की पहर मात्र की यातना उस दुःख से भी बढ़कर है; वह सही नहीं जाती, परन्तु यमराज के घर की उस घोर यातना को असंख्य वर्षों तक भोगने का दुःख भी इस जीव ने उठाया है और पुनः-पुनः उन्हीं योनियों में जन्म लेकर चक्कर लगाया है।

जननी जठर बस्यौ जब जाई, तब सब सुरति पाछिली आई।
जल बूंदते प्रगट जिहि कीनौ, चरन करनि करि नर तन दीनौ॥ ९॥
मल में मगन दुखित अति भारी, जठर अगिनि कीनी रखवारी।
भोजन पान तहाँ पहुँचायौ, से प्रीतम जनमत विसरायौ॥१०॥

अब कहते हैं कि जब मनुष्य योनि में माता के गर्भ में जाकर बसा तब पुराने अनेक जन्मों में चक्कर खाने की याद आई। माता के उस मलभरे गर्भाशय में उन्हीं प्राचीन बातों की सुधि करके चिन्ता मग्न होकर अत्यन्त दुखित हुआ। वहाँ भगवान से जीव प्रार्थना करता है कि मुझे इस दुख से छुड़ाइये; अब मैं आपको न भूलूंगा; इत्यादि; परन्तु देखो तो! जिसने इस शरीर को प्रकट किया, माता के गर्भ में जठराग्नि की आँच (गर्मी) से रक्षा की और गर्भाशय में ही अन्न और जल आहार के लिये पहुँचाया, उसी प्रियतम परमात्मा को इस जीव ने गर्भाशय से बाहर आकर पृथ्वी पर गिरते ही भुला दिया।

तब कहतो जो छूटन पावौं, कृष्ण चरन तजि आनन ध्यावौं।
परिजन कुटुम्ब मिले जब आई, दिन-दिन रुचि अति बढ़ी सवाई॥११॥
बालापन खेलत सब खोयौ, भयौ तरुन विषयाजु विगोयौ।
जित तित फिर्‌यौ बार बगरायैं, गन्यौ न अगम धतूरो खायें॥१२॥

जब जीव ने गर्भ में भगवान की स्तुति की थी तब कहा था कि यदि इस गर्भ के क्लेश से छूट पाऊंगा तो श्रीकृष्ण के चरणों को छोड़ और किसी को न घ्याऊँगा, परन्तु जैसे ही गर्भ से बाहर हुआ त्योंही कुटुम्बी तथा अन्य आत्मीयजन मिले और प्रति दिन उत्तरोत्तर उनसे राग होता गया। इसी प्रकार बालकपन की अवस्था तो खेल में ही बीत गई और ज्योंही युवावस्था को प्राप्त हुआ तो स्त्री (विषया) के द्वारा फंसाया गया । फिर छैला बना, बाल, केश बनाये, इधर उधर बाग-उपवन, देश-विदेश घूमता रहा। ऐसा भूला मानो धतूरा खाया हो।

आमिष अस्थि रुधिर कफ मल भरि, तापर त्वचा मढ़ी बनाय करि।
पुनि नख केस कमान-सी बानी, तिहि रंग रचि हरि भगति न जानी॥१३॥

ऊपर कह आये हैं कि युवावस्था में स्त्री के द्वारा बर्बादी में पड़ा। अतः इस चौपाई में स्त्री के वास्तविक स्वरूप को दिखाते हैं।

स्त्री-शरीर, माँस, हड्डी, रक्त, कफ, मल-मूत्रादि से भरा हुआ है। उस पर मानो बनाकर चमड़ी मढ़ दी है जिससे चिकना-चुपड़ा दिखाई पड़ता है। उसीमें नख, केश आदि बड़े सुहाते-से दीखते हैं और वह (स्त्री) ऐसी वाणी बोलती है मानो धनुष की कमान हो। ऐसी स्त्री के रंग में रँग कर जीव अपने गर्भ में दिये हुए वचनानुसार हरिभक्ति को न जान पाया। सरस्वतीपादूस्वामी प्रबोधानन्दजी ऐसे प्रसंग में कहते हैं-

विण्मूत्रश्लेष्म पूयास्थि भरित मिदं स्नायुमांसादिमज्जा-
रक्ताद्यात्मा त्वचाच्छादितमहहवही स्वार्थनिर्मूलकारी।
एकं ब्रह्माद्य ताप युवतिरिमतं स्वीय संमोह जालं-
त्यक्त्वा दूरेण वृन्दावन मति परमस्वार्थमद्धाश्रयेतः ॥

विष्ठा, मूत्र, कफ, पीव, अस्थि इनसे भरा हुआ और नसें (स्नायु), मांस, झिल्ली, रक्त आदि से युक्त तथा बाहर से खाल के द्वारा मढ़ा हुआ युवती का शरीर सब प्रकार से स्वार्थ का समूल नाशकारी एवं ब्रह्मादि को भी संतप्त (मोहित करने वाला) कारी, संमोहन करने वाला श्रीहरि का साक्षात् जाल दूर से ही छोड़ कर, हे मेरे मन! परम स्वार्थ के स्वरूप श्रीवृन्दावन धाम का आश्रय कर।

तनक स्वाद लगि जिय बध कीने, तिन सांटे अगनित अघ लीने।
आधो दादुर अहि मुख परही, वह जु धर्‍यौ त्यों माँखी धरही ॥१४॥

अब आगे कहते हैं कि क्षणिक स्वाद के लिये वह जीव जीवों का वध करता है और उसके बदले में असंख्य पापों का गट्ठा अपने सिर पर लेता है।

ऐसे मतवालों की ऐसी ही दशा रहती है जैसी साँप के मुँह में बैठे हुए तथा उसी हालत में स्वयं मक्खी को पकड़ कर खाने का प्रयत्न करनेवाले मेढ़क की होती है।

काल व्याल मुख में सब ऐसे, अनरथ करत अघात न तैसे।
माता-पिता गुरु बन्धु न माने, ते अपराध न जात बखाने।।१५।।
रसना स्वाद लगत है जैसो, उदर स्वाद पावै जो तैसो।
तौ सब जीव मारिकै खातौ, पाप करत मन में न सकातौ।।१६।।

इस प्रापंचिक जगत में हरेक प्राणी की यही स्थिति है मानो संसार के सारे जीव कालरूपी सर्प के मुँह में पड़े हुए हैं। प्रत्येक क्षण सैकड़ों जीवों को काल लील रहा है तो भी जीव अनेक प्रकार के दोष (अनर्थ) करता हुआ भी अघाता नहीं। माता, पिता, गुरु और अन्य बान्धवों की कही हुई नसीहत को वह नहीं मानता; न उनकी मर्यादा, लज्जा, संकोच आदि ही पालता है। इन अपराधों का वर्णन नहीं किया जा सकता।

खाद्य पदार्थों का स्वाद जिस प्रकार केवल जीभ ही को आता है, परन्तु यदि कहीं वह स्वाद पेट में वैसा ही आता होता तो यह मतवाला मनुष्य संसार के सभी जीवों का मांस खाने के लालच में उन्हें मार कर खा जाता और सब जीवों को मार डालने जैसा घोर पाप करके मन में सशंकित भी न होता अर्थात् इतने प्राणियों के वध के उपरान्त भी इसे अपने पापों के लिए संकोच न होता।

स्त्री और मांस में मस्त धुन्धुकारी ने माता-पिता को न मानकर उनके प्रति जो कुव्यवहार किया उसके उन अपराधों का वर्णन इस प्रकार आता है-

एकदा पितरौ ताड्य पात्राणि स्वयमाहरत्
तत्पिता कृपणः प्रोच्चैर्धनहीनोरुरोदह।।

पितर्युपरते तेन जननी ताडिता भृशं।
क्व वित्तं तिष्टते ब्रूहि हनिष्ये लत्तयानचेत्॥
इति तद्वाक्य संत्रासाज्जनन्या पुत्रदुःखिता।
कूपे पातः कृतो रात्रौ तेन सा निधनं गता॥

-पद्मपुराण में भागवतमाहात्म्य के अन्तर्गत

एक समय धुन्धुकारी माता-पिता को डण्डे से पीटकर उनके बर्तनों को झटककर ले गया (तथा उन्हें बेचकर उसने वेश्या को खिलाया) उसका दुःखी एवं धनहीन पिता जोर से रोने लगा। इधर पिता को छोड़कर धुन्धुकारी ने माता को पीटना शुरू किया। पूछने लगा कि बता! धन कहाँ रखा है? अन्यथा लातों से खबर लूँगा। इस त्रास के कारण पुत्र के द्वारा दुःखित माता ने रात्रि में कुएँ में कूदकर प्राण दे दिये।

दुष्टों के ऐसे अपराधों का वर्णन कैसे किया जा सकता है?

खाये मरै अन खायें मरई, जल अहि बाघ अगनि ते जरई।
शस्त्र जु अस्त्र मरण धर्म जाकौ, पाप करत तन त्रास न ताकौ॥१७॥
भृंग पतंग कुरंग गति गज झख, एक स्वाद तें परत काल भख।
पाँचो दोष रोष भरे नर कहँ, सो निज जान काल के मुख महँ॥१८॥

अब यदि कोई कहे कि मांस खाने से बल, पराक्रम, वीर्य आदि बढ़ते हैं; तो कहते हैं कि इससे क्या होगा? फिर भी मृत्यु से तो नहीं बचेगा। इसीलिये ग्रन्थकार कहते है कि मांस खाता है और मृतयु भी होती ही है। साथ ही मांस खाने में प्राणीवध का पाप भी होता है। इस पर कोई कह सकता है कि यदि मांस न खावे तो क्या मृत्यु से बच जावेगा? तब ग्रन्थकार पुनः समझाते हैं कि जो मांसादि नहीं खाता वह भी मरता ही है परन्तु वह हिंसा के पातक से बच जाता है।

कोई जल में डूबकर मरता है, कोई सर्प के काटने से मरता है, कोई बाघ के द्वारा खाया जाकर मृत्यु को प्राप्त होता है, तो कोई शस्त्र-प्रहार से मरता है, कोई

तो जारण, मारण-उच्चाटन आदि अनुष्ठान के घात से नष्ट होता है; और अग्नि द्वारा जलाया ही जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पाप करते न डरना ही पापी बनकर नरक जाने का रास्ता तैयार करना है।

अब एक-एक स्वाद के वश होने से काल के मुख में पड़नेवालों के उदाहरण देते हुए कहते हैं कि भौंरा गन्ध के विषय में पड़कर मारा जाता है; पतङ्ग रूप (प्रकाश) के रंग में मस्त होकर और मृग शब्द के चक्र मे पड़कर, हाथी स्पर्श के वश अंधा होकर तथा मछली जीभ के स्वाद के पीछे प्राण खोती है। तभी ग्रन्थकार कहते हैं कि इन पाँचो दोषों से भरा हुआ मनुष्य तो काल के मुख में ही है। काल भी रोष में भरकर मनुष्य को अपना निज का कलेऊ ही जानता है। यह प्रसंग नीति में भी कहा गया है -

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृंग मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च।
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥

मृग, हाथी, पंतग, भृंग और मछली ये पाँचों अपनी एक-एक इन्द्रिय के वश में होने से ही मारे जाते हैं तो फिर यह प्रमादी मनुष्य क्यों न मारा जायगा, जो अपनी पाँचों इन्द्रियों से पाँच-पाँच विषयों का सेवन करता है ?

हाटक नाटक सुत त्रिय राच्यौ, नाना गति रति कै अति नाच्यौ।
कछि बहु रूप कछू नहि जोयौ, माया नटिनी नटहि विगोयौ॥१९॥
बूझै जाहि सो यहै सुनावै, मानुष देह बहुत दुख पावै।
सुत दारा सुख सठनि बतायौ, तिहि जड़ जरत अग्नि घृत नायौ॥२०॥

कहते हैं कि यह मनुष्य स्वर्ण, तमाशाबाजी तथा स्त्री-पुत्र के रंग में मतवाला है। उनमें प्रीति करके अनेक प्रकार गति ले-ले कर खूब नाच रहा है यह एक ही

जन्म में नाचा हो सो भी नहीं बहुत से जन्मों में अनेक मायारूप उसने धारण किए; फिर भी विचार कुछ नहीं किया। जिससे पूछा जाय; वह यही उत्तर देता है कि मनुष्य देह में बहुत कष्ट हैं। फिर भी स्त्री-पुत्र-कलत्रादिकों को सुख केवल मूर्ख लोग ही बतलाते हैं। ये श्रीहरि-विमुख अग्नि के समान इस संसार को सुख बतलाकर वैसा ही करते हैं जैसा धधकती अग्नि में घी डालने से होता है। तब यह सहज ही समझ आ जाता है कि प्रपंच को सुख बताने वाले पण्डित, शठ और हरि-विमुख हैं।

धन, स्त्री, पुत्रादि में आसक्त जीव के लिए उपदेश करते हुए श्रीमद् शङ्कराचार्य जी कहते हैं -

मा कुरु जन धन यौवन गर्वं हरति निमेषात्कालः सर्वं।
का तव कान्ता के ते पुत्राः संसारोऽयमतीव विचित्रः॥
कस्य त्वं वाकुत आयातः काते जननी को ते तातः।
तत्त्वं चिन्तयतदिदं भ्रातः भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढ़मते॥

अर्थात् हे भाई ! धन, कुटुम्ब और युवावस्था का गर्व मत कर; क्योंकि काल इसे एक निमेष मात्र में नष्ट कर देगा। तू देख कौन तेरी पत्नी है? कौन तेरे पुत्र हैं? कौन तेरी माता है तथा कौन तेरा पिता है? और यह भी समझ कि तू कौन है? तथा कहाँ से आया है? अरे यह सब संसार विचित्र है। इन सब तात्त्विक बातों पर विचार कर। अरे मूढ़मते! सब छोड़ गोविन्द का भजन कर! गोविन्द का भजन कर!! गोविन्द का भजन कर!!!

इसी बात की पुष्टि करते हुए भर्तृहरि कहते हैं-

आदित्यस्यगतागतैरहरहैर्संक्षीयते जीवनं।
व्यापारैर्बहुभार कर्म गुरुभिः कालोपि न ज्ञायते॥
दृष्ट्वा जन्म जरा विपत्तिमरणं त्रासस्तुनोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमंयी प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतोजगत्।

सूर्य उदय अस्त होते हुए आयु को क्षीण करता है। उसी आयु को जीव व्यापार एवं कर्मों के करने के भार (कर्तव्य) से दबा हुआ होने से जाता हुआ देखकर भी नहीं जान पाता। यद्यपि जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति एवं मरण आदि को देखता है तो भी त्रास नहीं उत्पन्न होता। सो भी एकाध नहीं, सारा जगत मोहमयी प्रमाद मदिरा में मतवाला है

ताकी ताप न कहूँ सिराई, स्वर्ग रसातल भुव भटकाई
कर्म धर्म कैसो भरमायौ, सुख को कन जु कहूँ नहिं पायौ॥२१॥

जिस शठ पण्डित ने गृह में स्त्री, पुत्रादि को सुख निरूपित किया उसकी तपन कहीं भी शीतल न हुई। उसीके प्रभाव से कभी स्वर्ग में, कभी पाताल में और कभी सात द्वीप, नौ खण्ड भू लोक में जन्म ले-लेकर जीव भटकता है; फिर भी कहीं लेशमात्र भी सुख नहीं पाता।

भरत खण्ड कर्मक्षेत्र है। यहाँ कर्म-धर्म के बीज बोये जाते हैं उसका फल भी मिलता है। उसीको बतलाते हैं कि इन कर्म-धर्मों ने भी किस प्रकार भरमाया है, उसे देखो कि जब मनुष्य कर्म-धर्म के करने का फल सुनता है तो उसके मन में उनका आचरण करने का लालच उत्पन्न होता है और उन कर्म-धर्म का अनुष्ठान करके उनके फलों को भोगने के लिये चौदहों भुवनों में चक्कर लगाता है परन्तु वहाँ हजार, दस हजार की आयु से लगाकर ब्रह्मा की द्विपरार्द्ध आयु भोग कर भी पुनः उसी चौरासी के चक्कर में पड़ता है।

यहाँ तक युवा अवस्था का वृतान्त पूर्ण करके अब आगे वृद्धावस्था के विषय में कहते हैं-

तौ लगि जरा प्रकट भई आई, त्वचा सकुरि तन गो मुरझाई
मारत दण्ड कुब्ज-तन ह्वै गो, जीवन रतन कहूँ गिरि कै गो ॥२२॥
पग-पग प्रति अघ ताहि निहारै, पावै नहीं सीस दृग ढारै।
प्रीति खाट लाठी सों बाढ़ी, तजै न नेंकु गही अति गाढ़ी ॥२३॥

ज्यों ही तरुणावस्था गई की जरावस्था आकर उपस्थित होती है। शरीर की चमड़ी सिकुड़ जाती है। सब देह में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। पीठ में कूबड़ निकल आती है मानो जरा ने डंडा मारा हो और युवावस्था रूपी रत्न कहीं का कहीं बिखर पड़ा हो।

अब बुढ़ापे के कारण सिर हिलने लगता है और युवावस्था की याद करके वह बार-बार रोकर आँसू बहाता है। खाट और लाठी से उसे खूब प्रेम हो जाता है तथा इन्हें सदा ग्रहण किये रहता है, जरा नहीं छोड़ता क्योंकि इनके बिना बूढ़े का काम चल ही नहीं सकता।

अनर्थ साधि साधि धन जोरत, भयो परायौ तिनहि निहोरत।
गयो नाम 'डोकरा' कहावै, कोउन ताहि बकत बतरावै ॥२४॥

पहिले तो मनुष्य युवावस्था में अनेक अनर्थ रच रच कर भी धन को इकट्ठा करता है परन्तु बूढ़ा होते ही उसका वही धन पराया हो जाता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादि के कब्जे में चला जाता है; तब यह उन्हीं लोगों की अनुनय-विनय करता है। तब भी वे लोग इसके लिए धन का खर्च; अपव्यय एवं धन घटने के भय से नहीं करते। साथ ही पुराने नाम पिताजी, दद्दाजी, बाबूजी आदि सब छोड़कर सब लोग उसे 'डोकरा' कहकर पुकारने लगते है। उससे कोई ठीक तरह बातचीत भी नहीं करते।

स्वारथ खान पान लगि टेरै, सबके वदन स्वान सम हेरै।
इहि विधि कै सब जनम सिरायौ, गये प्रान तब प्रेत कहायौ ॥२५॥
एक घरी घर में नहिं राखें, काढ़हु वेगि सबै यों भाखें।
बहुत बार ऐसे डहकायौ, कबहूँ तौ राजा जू कहायौ ॥२६॥

अब वह जीव वृद्ध हो चुका है अतः एक खान-पान के स्वार्थ के लिए स्त्री, पुत्रादिक से चिल्लाकर माँगता है। उन लोगों के मुँह की ओर बूढ़ा कुत्ते की तरह निहारता रहता है। इस प्रकार बालकपन से लेकर अति वृद्ध अवस्था तक का जीवन बीत गया। जब प्राण शरीर छोड़ गये तब सब लोग कहने लगे कि यह प्रेत हो गया, अब इसे शीघ्र घाट पर पहुँचाओ।

इस प्रकार मृत्यु के उपरान्त पाप-पुण्यों के भोगानुसार नरक-स्वर्ग भोगकर पुनः चौरासी के चक्र में से गुजरा अर्थात् इस प्रकार बहुत बार यह जीव जन्म भर भटका - माया के द्वारा छकाया गया। कभी भटकता-भटकता राजा के यहाँ उत्पन्न होकर 'राजाजी' भी कहाया।

हय गय साहनि अनी बढ़ाई, पर पुर देश न लेत अघाई।
जहां लगि देश देह ताकौ जन, उजरत मरत विथा पावै तन ॥२७॥
स्वपनो सो सुख दुख अति पावै, चित्त चक्रित जित तितकों धावै।
जिहि तन विविधि भोग मानी रति, विट कृमि भस्म मरत ताकी गति ॥२८॥

इसके पूर्व छन्द में कह आये हैं कि जब कभी चौरासी चक्र में भ्रमण करता हुआ राजा हुआ तो उसने हाथी, घोड़े, शूर, सामन्त आदि की सेना को इकट्ठी करके दूसरे राजा के देश पर चढ़ाई करदी और उसके नगर पर कब्जा जमाता हुआ भी अघाया नहीं। जहाँ तक दूसरे राजा का देश, उसकी सेना तथा स्वयं वह राजा भी सामने आया, उन्हें उजाड़ा, मारा एवं घायल कर डाला।

विजयी राजा इस देश-जन-धन को पाकर सुखी होता है उधर पराजित राजा इन्हीं को नष्ट हुआ देख अत्यन्त दुःख पाते है। ये राजा गण इन नाशवान देश-जन-धन को फिर भी स्वप्न-सा नहीं मानते कि किस प्रकार देखते-देखते किसी का बना और किसी का बिगड़ा; बल्कि विजयी वियज की खुशी में तथा पराजित हार के दुख के कारण चक्रित-चित्त हुआ, इधर-उधर दौड़ता है। यह नहीं विचारता कि जिस शरीर के द्वारा उसने अनेक विषयभोगों में आसक्ति बांध ली है उसकी मरते ही कृमि, विड्, भस्म-तीन दशाये होंगी अर्थात् मरने पर देह को गिद्ध, काग आदि खावेंगे तो विष्ठा हो जायगा, यदि पड़ा रहा तो सड़ कर उसमें कीड़े पड़ जायेंगे अथवा जलाये जाने पर केवल भस्मावशेष रह जायगा।

पुनि जजि जज्ञ इन्द्र पद पायौ, सुकृत घटें अधहि जु गिरायौ।
गुन प्रवाह में पुनि पर्‌यौ जाई, गई लुकाइ सु सकल बड़ाई॥२९॥
बहुत बार जम-सदन सिधार्‌यौ, तिन करुना करि वचन उचार्‌यौ।
“बार-बार ह्यां तू कत आवै, भूतल गयें न हरि गुन गावै ”॥३०॥

पूर्वोक्त छन्द में राज्य-विस्तार की बात कही गयी है। अब आगे कहते हैं कि चक्रवर्ती बनने पर फिर राजसूय आदि यज्ञ किये, जिससे स्वर्ग में पहुँचकर इन्द्र पद पाया; परन्तु ज्योंही पुण्य का क्षय हुआ तो पुनः नीचे गिराये गये, तब वही सत-रज-तम इन तीनों गुणों की धारा में पड़े अर्थात् पुनः चौरासी योनियों में भ्रमण करने लगे। पहिले जो राज्य कमाया था, यज्ञ किये थे, दान दिया था, इत्यादि बड़े बड़े काम किये थे वह सारी कीर्ति छिप गई। समय बीत गया सब भूल गये। राजा जी भी भव-प्रवाह में गोते खा रहे हैं, पुनःपुनः दुष्कर्म करते हैं और फिर यमराज के घर पहुँचते हैं। अन्त में कई बार लौट-लौट आना देखकर यमराज दयावश पूछते हैं - अरे भाई! तू यहां हमारी यमपुरी में बार-बार क्यों आता है? पृथ्वी पर जाकर तूने हरि के गुण नहीं गाये क्या? इसीलिये श्री दामोदर दास ‘सेवक’ अपनी सेवक

वाणी में कहते हैं -

पर्‌यो प्रवाह काल के, कदापि छूटिहै नहीं,
श्री व्यासनन्द नाम जो प्रतीति सौं न रट्टहीं।'

यज्ञ करने पर इन्द्र पद पाना तथा पुण्य क्षय होने पर नीचे गिराये जाने का प्रमाण इस प्रकार श्री मद् भगवत्-गीता में भगवान ने कहा है-

त्रै विद्या मां सोमपाः पूतपापा।
यज्ञेरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्राथयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्र लोकमश्णन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।
ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोक विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्युलोकं विशन्ति॥

अर्थात् त्रिविध धर्म-अर्थ-काम रूप पुरुषार्थ सेवी पुरुष यज्ञ में सोम पान कर, पापों का त्याग करके तथा यज्ञ रूप मेरा पूजन करके स्वर्ग गति को प्राप्त करते हैं। वे देवताओं के साथ इन्द्रलोक में अपने पुण्यों से दिव्य भोग भोगते हैं तथा पुण्यों के क्षीण होने पर पुनः मृत्यु लोक में आकर गिरते हैं।

राधावल्लभ चरण उपासहि, तो कत सहतौ एती त्रासहि।
तें सन्तन की सीख न मानी, अजामिल की सुनी न कहानी॥३१॥
तें भागौत सुन्यौ न विचार्‌यौ, मानुष देह वृथा कत डार्‌यौ।
सुनै पुरान और अधिकाई, कही बहुत देवनि की बड़ाई॥३२॥

आगे यमराज के प्रश्न करने के उपरान्त ग्रन्थकार स्वामी श्रीचर्तुभुजदास जीव को समझाते हैं कि अरे ! तूने यदि श्रीराधा वल्लभ के चरणों में प्रीति की होती तो तुझे इतना त्रास क्यों सहना पड़ता। तूने संतों की शिक्षा को माना नहीं। क्या तूने अजामिल की कहानी नहीं सुनी? तूने न तो श्रीमद्भगवत सुनी और न उसका विचार

ही किया। तू ने मानव-देह को नाहक क्यों खो दिया? तूने अन्य बहुत पुराण तो सुने जिनमें केवल देवी-देवताओं की बड़ाई की गई है।

"राधावल्लभ चरन उपासहि" के सम्बन्ध में कहा है -

युगलौ राधिका कृष्णौ राधिकावल्लभौवरौ
नित्यं जपति यो भक्त्या प्राप्नोतिवाञ्छितंफलं॥
अशेष पातकघ्नं च संपूर्णं दुःख नाशनं ॥ इत्यादि॥
- नारद पाञ्चरात्र

दोनों श्री राधिका एवं श्रीकृष्ण 'एक प्राण दो देह' दिखाई पड़ते हुए भी एक ही 'राधिका वल्लभ' रूप हैं। इन्हें जो प्रेमसहित सेवन करता है वह सब प्रकार के इच्छित फलों को भोगता है तथा निःशेष रूप के उसके पापों का एवं संपूर्ण दुखों का नाश हो जाता है।

तिन तिन फलनि फिर्यौ जु धायौ, लोभ लागि ज्यों मूल गँवायौ।
मणि तजि काँच कहाँ ते धरियौ, विष लै अमी सिन्धु परहरियौ॥३३॥
स्वान पूँछ जलनिधि क्यों तरिये, दीपक लिये कूप क्यों परिये।
आन देव तब बीच न करहीं, जब यम आइ केश कर धरहीं॥३४॥

आगे कहते हैं कि तूने अन्य पुराणों में जिस देवता के पूजने का जिस-जिस फल को सुना उन्हीं के लिए दौड़ता (कर्म करता) फिरा। और इस लालच में तूने मूल सर्वाधार श्रीभगवान को गँवा दिया। तूने इसी प्रकार किया मानो मणि छोड़कर काँच ग्रहण किया और अमृत सिन्धु छोड़ विष स्वीकार किया। भला कुत्ते की पूँछ को पकड़कर कोई समुद्र कैसे पार हो सकता है? जिसके हाथ में दीपक हो वह कुएँ में कैसे गिर सकता है? अर्थात् ज्ञान-बुद्धि विवेक से युक्त मानव शरीर पाकर तू वास्तविक बात का निर्णय न करके अन्य देवों के पूजन में लग यज्ञ यागादि का

अनुष्ठान करके केवल कुछ समय स्वर्गादि पाकर पुनः नरक कुएँ में क्यों गिरता है? जब यमराज अपने दूतों सहित तुम्हारे बालों को पकड़कर मृत्यु समय खींचते हैं तब कोई अन्य देवी-देवता बीच में पड़ कर तुम्हें बचा नहीं सकता।

मन,वच,कर्म हरिहि भजि भाई, ता तन हम पै हेर्‌यौ न जाई।
फिर सुर सकल ताहि सिर नावें, जो निसि दिन जु कृष्ण गुन गावें॥३५॥
ताके देश काल व्रत न संजम, रसना थकै न होइ कछु श्रम।
लहै अति लाभ न कहत सिराई, सुलभ सु भक्ति कृष्ण की भाई॥३६॥

ऊपर की सारी स्थिति इस प्राणि-जगत में जीव को सिद्ध करते हुए ग्रन्थकार अब आगे कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म शरीर के द्वारा श्रीहरि का भजन कर। हे भाई ! ऐसा जो करता है उसकी तरफ नरक देने वाले देखते भी नहीं। उस हरिभक्त जीव को सब देवता सिर नवाते हैं जो रात्रि दिन श्रीकृष्ण का गुण गाता है। उस भक्त के लिए देश, काल, व्रत, तथा संयम आदि का; हरिभक्ति करने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है और हरिनाम लेने में जीभ को कोई कष्ट नहीं होता और न किसी प्रकार की थकावट ही होती है। इस हरिभक्ति से अत्यन्त लाभ होता है। कोई उस लाभ को कहता भी जाय तो उसका अन्त नहीं हो सकता। ऐसी श्रीकृष्ण की भक्ति सहज ही मिल जाती है।

असन वसन स्रक भूषन पावै, सो धौं हरि उप-भुक्त चढ़ावै।
माया सहज जीति तिहि राखी, उद्धव वचन भागवत साखी॥३७॥
नैन त्रिसहि तो देखै हरि तन, श्रवननि कथा विविध हरि की सुनि।
हरि अस्थान चरन चलि जैये, करनि न हरिकृत करत अघैये॥३८॥

अन्न, वस्त्र, भूषण तथा इत्र-चन्दनादि जो पावे उन्हें श्रीहरि को अर्पण करके आप स्वयं शिरोधार्य करके ग्रहंण करे। जो ऐसा करता है वह मानो माया को सहज

ही जीत लेता है। ऐसा भागवत में श्रीकृष्ण भगवान स्वयं उद्धवजी से कह रहे हैं। यदि नेत्र रूप के प्यासे हों तो श्रीहरि को ही देखे तथा कानों से विविध हरि-लीला कथा सुने। चरणों की सफलता इसी में है कि श्रीहरि के स्थान को पाँव-पाँव चले तथा हाथों से भगवान का काम करते हुए कभी सन्तुष्ट न हो।

शीश तौ हरि हरिदासनि नावै, भेंटि भक्त अति हृदौ सिरावै।
तुलसी चरन वास नाशाकै, होहि भक्त इहि सुलभ भक्ति कै।।३९।।

इसी प्रकार आगे कहते हैं कि सिर की सार्थकता तो तभी है जब श्रीहरि तथा श्रीहरि के दास अर्थात् भक्त-महानुभावों के आगे वह नवे और हृदय का पूरा सन्तोष तभी माने जब वह भक्त-जनों के हृदय का आलिंगन प्राप्त करे। फिर कहते हैं कि नासिका द्वारा गन्ध ग्रहण करने की सच्ची उपयोगित भी तभी है जब श्रीहरि के चरणों में अर्पित हुई तुलसी की ही गन्ध को प्राप्त करे। तात्पर्य यह कि अपनी इन्द्रियों को ऐसे ही सारे आचरण अपनांने की आदत डालने पर किसी भक्त को श्रीहरि की भक्ति सुलभ या सिद्ध हो सकती है।

तिनकी कही एक नहिं मानी, महामोह अज्ञान निसानी।
कीर नरी ज्यों बँधि रह्यौ भाई, पंक कै चाहत पंक छुड़ाई।।४०।।

अब ग्रन्थकार श्री चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि यमराज ने उपदेश किया परन्तु हे जीव! तूने उनकी कही हुई बातों में से एक को भी न माना। यही तेरे महामोह एवं अज्ञान का सुबूत हैं जिस प्रकार तोता नली को पकड़कर बँध जाता है (तोते को पकड़नेवाले उसको पकड़ने के लिए अनाज के खेत में एक रस्सी बाँस की पोली नली में पिरोकर उसके दोनों छोर झाड़ों से बाँध देते हैं। जब तोता अन्न खाने को आता है तो स्वभावतः रस्सी में फँसी नली पर बैठ जाता है। नली तोते के भार से घूमती है और तोता गिरने के भय से उसे जकड़कर पकड़ता है परन्तु नली द्वारा

घुमाये जाने पर वह उल्टा लटक जाता है और 'गिर पड़ूँगा' इस डर से उस नली को छोड़ता नहीं। छोड़ दे तो वह उड़ जायगा पर भयवश छोड़ता नहीं। इतने में पकड़नेवाला तोते को पकड़ लेता है)। उसी प्रकार हे भाई ! तू भी संसार के पदार्थो से बंधा है। जैसे कोई कीचड़युक्त पानी से कीचड़ को धोना चाहे; उसी प्रकार तू यज्ञ-कर्म तथा देवी-देवताओं का पूजन करके भव बन्धन से छूटना चाहता है किन्तु कभी छूट नहीं सकता। कहा है -

यथापंकेन पंकांभः सुरया वा सुराकृतं।
भूतहत्यांतथैवैकां न यज्ञैर्मार्ष्टुमर्हति॥
-श्रीमद्भागवत

जैसे कीचड़ भरे जल से कीचड़ तथा मदिरा से मदिरा शुद्ध नहीं होती; त्योंही प्राणियों की हत्या (घोड़ा मार कर यज्ञ करने से) से कोई भव बन्धन से कैस छूट सकता है।

यह तौ कथा कही मैं जैसी, सब जीवनि की गति है तैसी।
कंचन के हर सवाँ बुवावहि, चन्दन काटि सु वारि लगावहि॥४१॥
जो सौ बार सुनी यह बानी, सब संतनि ऐसी जु बखानी।
करता हरता सकल प्रानपति, सो बिसरावत करत आन रति॥४२॥

ग्रन्थकार श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि यह कथा मैंने जिस प्रकार कही, सब जीवों की ठीक ऐसी ही दशा है। जैसे कोई स्वर्ण के हल से भूमि को जोतकर सवाँ (धान्य विशेष) बोवे तथा चन्दन को काटकर उससे खेत के चारों और बारी लगावे वैसे ही यह जीव स्वर्ण-सी मनुष्य देह एवं भरतखण्ड-सी कर्म भूमि पाकर उसमें सवाँ-कोदों के समान निकृष्ट अन्य देव यजन रूप बीज बोता है तथा उस कर्म की पुष्टि भागवत धर्म से करता है अर्थात् चन्दन रूप भागवत धर्म जो स्वयं उद्धारक

है उससे अन्य निकृष्ट धर्मों का प्रतिपादन करता है। इस सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले, नाश करनेवाले, सब प्राणिमात्र के प्राणों के आधार एवं पालन करनेवाले स्वामी श्रीभगवान ही हैं; ऐसी बात सन्तों से सैकड़ों बार सुनी और ऐसा ही सब सन्तों ने वर्णन किया है तो भी उस बात को भूलकर यह जीव अन्य देवान्तरों से प्रीति करता है।

श्रीभगवान के कर्त्रा-हर्त्ता पन को भूल कर स्वयं कर्म-धर्म कर्ता बन कर, अपने में कर्तापन का अभिमान लाना ही चौरासी के चक्र में पड़ने का कारण है। गीता में कहा है -

अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते

अहंकार से विमूढ़ हुआ जीव 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है उसी के बारे में आगे के छन्द में कहते हैं -

जा देह के होत अभिमानी, सो तौ इनके हाथ विकानी।
नृपति कहै यह है निज मेरौ, मात पिता जनम्यौ तिन केरौ।।४३।।
सुत त्रिय के वश बँध्यौं महाडर, किरमि शरीर मध्य तिनकौ घर।
धरनि कहै मोही में परिहै, अग्नि कहै मोही में जरिहै।।४४।।

जिस देह के लिये अभिमान किया जाता है वह तो इन लोगों के हाथ बिक चुकी है। राजा कहता है कि यह शरीर मेरा है। (सैनिक, नौकर, प्रजा के रूप में) जन्मदाता माता-पिता अपना मानते हैं क्योंकि वे उसे अपना उत्पन्न किया मानते हैं। इधर जीव स्वयं ही स्त्री-पुत्र के वश में अपने आप बँधा उनका ही अपने को मानता है। परन्तु इस शरीर में कीड़ों का वास है। इधर पृथ्वी जानती है कि मरने पर मुझ ही में आकर मिलेगा तथा अग्नि कहता है कि मुझ ही में आकर यह भस्म होगा,

अर्थात् -

हाथ पाँव सिर जबहिं पिराई, तब ताके बरजें न रहाई।
पाँच तत्व सब सौंज पराई, कृष्ण भजै तो जीतै भाई॥४५॥
तो लगि भव दुस्तर नहिं तरियै, मुरलीधर पद प्रीति न करियै।
औरनि "चतुर्भुजदास" सिखावै, घर बरतनि घूरौ जु बुझावै॥४६॥

जब इस शरीर के अंग हाथ, पांव, सिर आदि में पीड़ा होने लगती है तब मनुष्य उसे रुक जाने को कहे तब भी नहीं रुक सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर की साधारण-सी पीड़ा रोकने अथवा नियन्त्रण की शक्ति मनुष्य में नहीं है। यह शरीर अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी एवं आकाश इन पांच तत्त्वों से बना है। मनुष्य का अपने शरीर में कुछ अपना नहीं है। सारी सामग्री दूसरों (पांच तत्त्वों) की है। जो श्रीकृष्ण भगवान का भजन करेगा वही इस शरीर पर विजय पावेगा अर्थात् इसके बन्धन से मुक्त होगा। जब तक कोई मुरलीधर श्रीश्यामसुन्दर के चरण-कमलों में प्रीति नहीं करता तब तक इस संसार सागर से तरना अत्यन्त कठिन है - अरे कठिन क्या? तर ही नहीं सकता। अपनी दीनता दिखाते हुए अब स्वामी श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि देखो! मैं दूसरों को शिक्षा, उपदेश दे रहा हूँ परन्तु स्वयं अपनी नहीं सम्हालता। मेरी ऐसी ही दशाहै जैसे कोई अपने जलते हुए घर का बुझाना छोड़कर घूरा (कूड़ा-करकट) बुझाने का प्रयन्त करता हो। ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार हितोपदेश यश का यहाँ समापन करते हैं।

• • •

अन्त में टीकाकार अपनी ओर से शिक्षा देते हुए कहते हैं -

सागरि भव बूड़ो जीव, सींव नायँ याकी कछु,
पापन अघायो नहि, ध्यायो नहि स्याम कौ।
अन्ते जमदूत भूत, पकर्‌यो यमराज देख,
कृपाकर लेख हूँ, दिखायो सुख धाम कौ।
ऐरे मतिमंद इहाँ आवत क्यों बार-बार,
तैंने नायँ जान्यो कह प्रभाव कृष्ण नाम कौ।
'वल्लभ युगल हित' समुझायो न मान्यो हित,
छाँड़के प्रवाह पर्‌यो विलखै बे काम कौ।

॥ हितोपदेश (षष्ट) यश समाप्त ॥

सप्तम
पतित पावन यश

त्रिपदी छन्द, राग धनाश्री

श्री हरिवंश चरन चित लाई, भक्ति सुधा जिन दई बताई।
तौ पाइ सु रस मादिक भये जू॥
बिसरे आरज-कुल पथ कानि, त्रिविध ताप मन लेत न मानि।
तौ जानि संत संगति परे जू॥
अरु जाने श्री वृन्दावन राय, दीन जननि की करत सहाय।
तौ भाव प्रेम बस साँवरौ जू॥
सुने सकल देवन के दान, अलपति सुख, अध परत निदान।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥१॥

पिछले हितोपदेश यश में गृहस्थों के लिये भगवद्भक्ति का उपदेश प्रापंचिक जगत की निस्सारता बतलाते हुए किया गया। पतित पावन यश में अब आगे ग्रन्थकार स्वामी श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं - मैं श्री हरिवंश चरणों को अपने चित्त में धारण करता हूँ, जिन्होंने भक्ति के क्षेत्र में अमृततुल्य प्रेम साधना पक्ष का प्राकट्य किया है। इस सुन्दर स्वादिष्ट रस को पाकर भक्त लोग मतवाले हो गये और प्रेमावेश में उन्हें अपना आर्य-पथ और कुल मर्यादा भी भूल गयी। दैहिक, दैविक और भौतिक इन तीनों तापों को वे मन में भी नहीं लाते। अर्थात् इनकी आशंका ही कभी मन में नहीं उठती। इस तत्त्व को जानकर भक्त लोग संत-संग में प्रेम करने लगे; और इसी संत-संग के प्रभाव से उन्होंने वृन्दावनराय श्री राधावल्लभलाल को जाना, जो सदा दीनों की सहायता करते हैं। वे श्याम-सुन्दर सदा ही प्रेम-भाव के वश में हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र की ऐसी भावमयी प्रेम-वश्यता और दयालुता के साथ-साथ उसी भक्त-सत्संग में उन भावुक जनों ने यह भी जाना कि अन्यान्य देवताओं के द्वारा दी गई वस्तुओं और लोकों तक का दान अत्यन्त अल्प है और उनका अन्तिम फल अधःपतन ही है। इसलिये मैं केवल पतित-पावन प्रभु श्रीकृष्णचन्द्र हा ही यश गान करता हूँ।

'भक्ति-सुधा जिन दई बताई' इस पंक्ति का भावार्थ समझना आवश्यक है कि किस प्रकार हरिवंश चन्द्र महाप्रभु ने ही प्रेम लक्षणा भक्ति का प्रकाश किया। इस तत्त्व का सन्दर्भ पुराणों में देखें। यथा; आदि पुराण में स्वयं भगवान कहते हैं -

न तपोभिर्नं वेदैश्चनाचारैर्नच विद्यया।
वसोस्मि केवलं प्रेम्णा प्रमाणं तत्र गोपिका॥

मैं न तप से, न वेद से, न आचार से और न विद्या से ही प्रसन्न होता हूँ। मैं तो केवल प्रेम से प्रसन्न होता हूँ, इसका प्रमाण गोपियाँ हैं। इसी प्रकार भर्तृहरि ने भी प्रेम की श्रेष्ठता बताई है -

मीनस्नान परः फणी पवन भुक्मेषस्तु पर्णाथनो।
नीराशीसतु चातकः प्रतिदिनं शेते विले मूषकः॥
भस्मोद्धूलस्तु धूसरो खरगणो ध्यानानुरक्तोवकः।
किं तेषां फलमस्ति तेन विधिना प्रेम प्रधानं तपः॥

कि मछली स्नान-परायण है, सर्प वायु-भोजी है, मेष केवल पत्ते ही खाता है, बेचारा चातक स्वाँति पानी पर ही अवलम्बित है, मूषक प्रतिदिन बिल का सेवन करता है, गदहा सदा भस्म धारण करता है, और बगुला सदा ध्यानस्थ ही रहता है किन्तु अरे विधाता! इनके तप से लाभ ही क्या है? जो प्रेम की प्रधानता नहीं है।

भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए प्रह्लाद जी भी कहते हैं -

दैतेया यक्षरक्षा स्त्रिय शूद्रा ब्रजौकस।
खगाः मृगाः पाप जीवाः भक्त्याह्यच्युत तां गता॥

दैत्य, यक्ष, राक्षण, स्त्रियाँ, शूद्र, वनवासी, खग और मृग आदि जितने भी पाप जीव हैं भक्ति सब को भगवान अच्युत का संग प्राप्त करा देती है। अध परत निदान को समझने के लिये श्रीमद्भगवद्गीता का प्रमाण है कि देवताओं के उपासक अन्ततः पृथ्वीपर ही आ गिरते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं।
क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति।

पुण्यों के प्रभाव से स्वर्ग - लोक में गये हुए मनुष्य वहाँ पुण्यों के फलस्वरूप सुख को भोग कर अन्त में पृथ्वी पर ही आ गिरते हैं।

अब आगे और भी पतित पावनता का वर्णन ग्रन्थकार करते हैं -

निरधन को धन दीनदयाल, अकुलिन कौ कुल नन्द कौ लाल।
तौ काल सन्तरिपु को सही जू॥
बिन व्रत तप तीरथ अस्नान, जोग यज्ञ संजम-बिनु दान।
तौ गान एक हरि के तरे जू॥
ऐसे बहुत कहौं समुझाइ, उपजै भक्ति सुनौ चित लाइ।
तौ जाइ नहीं जम लोक कौं जू,
सुपनौ-सो लागै संसार, वा जु भक्ति सुत वित जंजार।
तौ पतित-पावन जस गाइहों जू।।२॥

श्रीनन्दलाल निर्धनों के धन और कुल-हीनों के कुल हैं। सन्तों के रिपुओं के लिये वे काल स्वरूप हैं। बहुतसे लोग बिना ही व्रत, तप, तीर्थ सेवन-स्नान, योग, यज्ञ, संयम और बिना ही दान के केवल एक श्रीहरि के गुण-गान करने से भव-सागर पार हो गये।

आगे कहते हैं कि सब लोग चित्त लगाकर सुनो; मैं ऐसा बहुत सा पतित पावनता का चरित्र गान करूँगा, समझा कर कहूँगा जिसे सुनने से फिर यमलोक में नहीं जाना पड़ेगा। भगवद्भक्ति हृदय में आ बसेगी जिससे यह संसार स्वप्न सा मालूम होने लगेगा। उसी भक्ति के प्रभाव से ये पुत्र, स्त्री, धन आदि झंझट से दीखने लगेंगे। यह सब जिनकी कृपा से होगा मैं उन्हीं पतित-पावन का यशगान करता हूँ।

'अकुलनि को कुल नन्द को लाल' - इस पद्यान्त को यों समझना चाहिये कि कुल हीनों के लिये भगवान श्रीकृष्ण भी उनके ही समान हैं। वे स्वयं किसी जाति-पाँति में बंधे नहीं हैं। 'अकुल' का अर्थ अच्युत गोत्रीय भी है और श्रीकृष्ण उन्हीं अच्युत गोत्रियों के हैं। यथा; श्री सेवकजी ने कहा -

श्री हरिवंश किशोर अहीर, अरु तिन संग बनितन की भीर।
तीर जमुन नित खेलहीं॥
तिनकी दईजु जूठन खात, आचारी निज कहत खिस्यात।
बात यहैं सांची सदा॥

''जाइ नहीं जम लोक कौं' - का भावार्थ श्रीमद्‌भागवत में इस प्रकार समझाया गया है-

आज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोक नामयत्।
संकीर्तितमघं पुसां दहेदेधो यथानिलः॥

नैव सनरकं याति नेक्षते यम किंकरै।
यद्यप्य मंगलो मर्त्यो विष्णु लोके महीयते॥

कि जो कोई जानकर अथवा बिना जाने ही भगवान अच्युत का नाम ले लेता है उसके सारे पाप उसी प्रकार भस्म हो जाते हैं; जैसे अग्नि से घास-फूस। और वह न तो नरकों में जाता है और न यम किंकरों का दर्शन ही करता है। वह इस अमंगल मर्त्य-लोक को त्याग कर उत्तम विष्णु-लोक को प्राप्त होता है।

अब ग्रन्थकार जो पतित जीव पवित्र हुए हैं, उनकी गणना और उनका संक्षेप में परिचय कराते हैं -

पतित पिंगला तजि करि आस, नाम लयो मन भई उदास।
तब त्रास मिटी जमराज की जू॥
सुजस कहौं अपने मुख गाय, तरी अहिल्या परसत पाँय।
तौ जाइ शिला-तन त्यागियौ जू।
व्याध तीन जैसे व्यौहार, जनम मरन छूटे संसार।
तौ परे-पार हरि-लीन ह्वै जू॥
प्रथम सु एक अहेरें गयौ, धनुष चढ़ाइ बाण कर लयौ।
तौ पतित पावन जस-गाइहों जू॥३॥

कि पिंगल वेश्या बड़ी पतित थी। वह जनकपुर में रहते हुए भी विषय-रत थी। उसने रात्रि भर एक दिन अपने जार का स्मरण किया पर वह न आया। तब उदास होकर अपनी शय्या पर लेट गयी और भगवान का स्मरण करने लगी। इससे उसे अपनी आत्मा का बोध हो गया और उसके लिए यमराज का भय सर्वदा के लिए मिट गया। दूसरे अहिल्या अपने पति गौतम ऋषि के शाप से पाषाणी हो गयी थी। वह भी श्रीरामचन्द्रजी का चरण-स्पर्श करते ही पावन हो गयी और अपने पति लोक हो चली गयी। उसने स्वयं ही अपनी पावनता प्राप्ति का सुयश गान किया।

तीन व्याधों का भी वर्णन है कि वे भी अपने व्याध-कर्म व्यवहार में आसक्त थे किन्तु प्रभु की कृपा से संसार के आवागमन से छूट कर प्रभु में ही लीन हो गये; उनके धाम में चले गये। इन तीनों से पहले व्याध का यह हाल है कि वह शिकार करने के लिए वन में गया। ज्योंही उसने हाथ में धनुष लेकर उस पर बाण चढ़ाया त्योंही उस समय आकाश में बादल छा गये, अन्धकार छा गया और पृथ्वी तमसाच्छन्न हो गई।

पाण्डुर-धरनि मेघ तब भयौ, वह डस्यौ काल धरनि गिर गयौ।
तौ ठयौ बान कर ही रह्यौ जू॥
छाती स्यार चढ़यौ तब आइ, बान देखि सो गयौ पलाइ।
तव पाइ चिन्ह हिरदै खुले जू॥
देखत शंख चक्र अनुसार, जम-भट लागे करन विचार।
तौ बार-बार मन सोच हीं जू॥
यह सुनि कृष्ण सुभट गये तहाँ, लै पहुँचायौ हरि जू जहाँ।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥४॥

व्याध को उसी समय एक काल सर्प ने डस दिया जिससे वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और उसके धनुष-बाण हाथ में ही रखे रह गये। व्याध को मरा हुआ जानकर एक सियार आया और उसकी छाती पर चढ़ बैठा। व्याध की छाती पर उसके चरण चिह्न बन गये जो देखने में शंख-चक्र के समान प्रतीत होते थे। किन्तु सियार ने देखा कि यह व्याध तो धुनष-बाण लिए है अतएव उसे जीवित समझ वह सियार डर कर भाग गया। इधर व्याध को लेने के लिए यम के दूत आये किन्तु उसके हृदय पर शंख-चक्र आदि के से चिह्न देखकर दूर ही खड़े होकर विचार करने लगे। उसी समय भगवान श्रीकृष्ण के पार्षद गण भी उसे लेने के लिए

आये और उस व्याध को लेकर भगवान श्रीकृष्ण के धाम में पहुँचा दिया। इस प्रकार जिसकी अकारण दया ने उस पतित व्याध का उद्धार किया; मैं उन्हीं पतित पावन-प्रभु का सुयश गान करता हूँ।

'पतित-पिंगला ...... जमराज की' पद्यांश पर श्रीमद्भागवत पुराण ने एक अनुकरणीय उपदेश वाक्य बताया है -

आशाहि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा संछिद्यकांताशां सुखं सुस्वाप पिंगला॥

कि आशा ही परम दुःख और निराशा ही परम सुख है। आशा का संछेदन या नाश करके ही पिंगला सुख से सो गयी।

वेश्या के अज्ञान का वर्णन श्रीमद्भगवत में किया गया है -

अहो मे मोह वितस्त्रं पश्यता विजतात्मनः।
या कांतादसतः कामं कामये ये न वालिशा॥
यदस्थिभिर्निर्मित वंश वंशयस्थूणं त्वचारोमनखैर्पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्विण्मूत्र पूर्ण मदुपैति काया॥
विदेह नांपुरेह्यस्मिन्नहमे कैव मूढ़धीः।
यान्यमिच्छत्यसत्त्य स्मादात्मदात्काममच्युतात्॥
सुहृत् प्रेष्ट तमोनाथ आत्माचायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥

वह कहती है कि अहो! मुझ अजितेन्द्रिय का मोह तो देखो ! जो झूठे प्रियतम की आशा कर रही हूँ। मेरे समान मूर्ख और कौन होगा ! जो अस्थि आदि से निर्मित स्नायु सूत्रों से बद्ध, क्षर, मूत्र और मल का आगार और सब प्रकार से अपवित्र

शरीर में कान्त बुद्धि कर रही हूँ। इस विदेह नगरी में केवल मैं ही एक ऐसी मूढ़ बुद्धि हूँ जो अपनी निज की आत्मा-स्वरूप अच्युत भगवान का परित्याग कर अन्य पुरुष के सुख का मिथ्या मनोरथ करती हूँ। अब मैं अन्य किसी की आशा न कर, सबका परित्याग करके अपने आत्मा, सुहृद, प्रियतम स्वामी से ही जो इसी मेरे शरीर में विराजमान हैं, उन्हीं को अपना यह शरीर अर्पण करके भगवती लक्ष्मी के समान उनसे निरन्तर रमण विहार करूँगी। 'तरी अहल्या परसत पाय' का प्रसंग वाल्मीकि रामायण में इस प्रकार है-

उपलतनुरहिल्या गौतमस्यैव भार्या-
चरणनलिनसंगादूर्द्धलोकं जगाम।
इदमपि मुनि पत्नी श्रापितापि कदाचित्-
ब्रजति ममहि नौका किंकरो मिक्वयामि॥

भगवान श्रीराम से गंगा पार करते समय निषादराज ने कहा - प्रभो! मैंने सुना है कि गौतम मुनि के शाप से पाषाण हुई अहल्या आपके चरण-कमलों के स्पर्श मात्र से ऊर्ध्व लोक को चली गयी है। यदि कदाचित् उसी प्रकार आपके चरण-स्पर्श से मेरी नौका भी चली गयी तो फिर मैं बेचारा क्या करूंगा? कहाँ जाऊंगा? फिर तो भगवन मैं बेमौत ही मर गया न? देखत 'शंख-चक्र अनुसार···हरि जू जहां', पर पद्म पुराण में बताया गया है कि जिनके शरीर में भगवान के शस्त्रादि के चिह्न हों; वे अवश्य उनके धाम में जाते हैं-

विष्णुशस्त्रांकितं पृण्यं वक्तुं नैवच शक्यते।
गोमायु पाद चिन्हेन श्वपचो वैष्णवीं गतिम्॥ ९॥

भगवान विष्णु के शस्त्र-चिन्हों की पवित्रता और पुण्य का हम वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि सियार के चरणों के द्वारा बने हुए शंख-चक्र के प्रभाव से श्वपच भी वैकुण्ठ लोक में चला गया। और भी विष्णु धर्म संहिता में-

गोपीचन्दन मुद्राभिर्मुद्रितोयः सदाभवेत्।
अश्वमेध सहस्त्राणि वाजि मेधशतानि च॥
सर्वाणि तीर्थ दानानि व्रतानि नियमा यमाः।
कृतानि तेन नित्यंवै सकृतार्थो भवेन्नरः॥

बताया है कि नकली चिह्नों के बदले जो कोई गोपीचन्दन और मुद्रा (शंख-चक्रादि) से अपने शरीर को नित्य मुद्रित करता है उसे हजारों अश्वमेध और सैकड़ों बाजपेय यज्ञों का फल मिलता है। और व्रत, तीर्थ, दान और सारे नियम और यमों के पालन का भी फल मिल जाता है। अन्त में वह कृतार्थ होकर परम-धाम को जाता है। अब ग्रन्थकार दूसरे पतित व्याध की कथा का वर्णन करते हैं-

और पखेरू पकरत फिरै, तिहि ठां ऋषि हरि ध्यानहि धरै।
तौ धरै अग्र उपहार लै जू॥
ऋषि नहिं लेइ रह्यौ धरि मौन, वधिक कहै माँगहु कहु तौन।
तब कौन काज इहाँ रहौ जू॥
मो-ते गई चिरैया स्याम, ताबिनु बहुत फिर्‌यौ तजि धाम।
तौ ताहि मोहि दै आनि कै जू॥
कछुक पीत पट अरु भुज चारि, शंख चक्र गदा पद्म सुधारि।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥ ५॥
हेरत वधिक बहुत-दिन गये, दुखित जानि वैसे हरि भये।
तब लये पकरि ऋषि पहँ गयौ जू॥
कारज दर्श दुहुन कौ भयौ, तिन कहँ कृष्ण अभै-पद दयौ।
तौ गयौ बधिक बन तीसरौ जू॥
तिहि नारद पाये मग जात, लूटन लाग्यौ कही ऋषि बात।
तौ खात सबै घर पतित तूँ रे॥
ऋषिहि राखि घर पूछन गयौ, पाप संघाती कोउ न भयौ।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥ ६॥

यह दूसरा व्याध वन-वन पक्षी पकड़ता फिरता था। एक बार किसी वन में गया जहाँ एक ऋषि ध्यान लगाये बैठे थे। व्याध ने उनके सामने फल-फूल उपहार रखते हुए प्रार्थना की कि हे प्रभो! इन्हें ग्रहण करिये। किन्तु मुनि ध्यान मग्न थे इससे नहीं बोले। तब व्याध ने पुनः आग्रह पूर्वक प्रार्थना की कि 'हे मुने! आप क्यों नहीं बोलते; क्या चाहते हैं; आप आज्ञा करें। आप यहाँ क्यों रहते हैं?'

उस व्याध की भोली बातें सुनकर मुनि ने कहा-'भैया! मेरे पास से एक 'श्याम-चिड़िया' भाग गई है। मैं उसी के लिए घर छोड़ कर यहाँ आ पड़ा हूँ। मैं उसके बिना बहुत व्याकुल फिरता रहा; अतः तू उसे पकड़ कर ला दे।'

व्याध ने पूछा-उस चिड़िया की पूरी पहिचान बताइये। ऋषि ने कहा-वह चिड़िया पीत-वस्त्र पहनती है और उसकी चार भुजाएँ हैं जिनमें वह शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण करती है।

ऋषि की बात सुनकर व्याध चला गया और बहुत दिनों तक 'श्याम चिड़िया' को खोजता रहा पर जब वह न मिली तो व्याध बड़ा दुखी हुआ। उसकी सच्चाई और दुख को देख कर श्रीहरि से न रहा गया और वे उसके लिए चिड़िया के समान ही बनकर आ गये। व्याध उस चिड़िया को पकड़कर ऋषि के पास गया। ऋषि ने भगवान को पहचान लिया। इस प्रकार दोनों को श्रीहरि मिल गये--दोनों का काम बन गया। श्रीकृष्ण ने दोनों को अपना अभय-पद दिया। अतएव मैं तो पतित पावन यश का ही गान करूँगा।

अब तीसरे वधिक की कथा में कहते हैं कि यह तीसरा व्याध एक बार वन में गया। वहाँ उसे रास्ते में जाते हुए नारदजी मिल गये। नारदजी को व्याध अकेला जानकर लूटने लगा। उससे बृह्मर्षि ने कहा- अरे भाई! तू तो पाप कर करके कमाता है - पापी बनता है और तेरे सारे घर के लोग खाने के ही साथी हैं। नारद की बात सुनकर वह अपने घर में पूछने के लिए गया। पूछने पर सबने पाप का साथी होना स्वीकार नहीं किया।

आइ कही फिरि ऋषि सों बात, पाप न बाँटें घर के तात।
तौ, जात नरक हौं राखियौं जू॥
सो तार्‍यौ हरि विरद फिराइ, गनिका तरी जु सुआ पढ़ाइ।
तौ गाइ कपट तेहू तरे जू॥
माली नाम नीच कुल भयौ, अति पापी जु गो तिय हयौ।
तौ गयौ निकसि बन में बस्यौ जू॥
तैसेय एक कोकिलनी नारि, गई तापै भरतारहि मारि।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू ॥७॥

तीसरे व्याध की कथा को पूर्ण करते हुए आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि घर से लौट कर उस व्याध ने कहा कि हे मुने! घर के लोगों में से किसी ने भी मेरा पाप नहीं बाँटा; जो मेरे परम प्रेमी थे। इससे अब सभी पाप मेरे ही सिर पर आ पड़े हैं, इससे मुझे तो अब नरक में ही जाना पड़ेगा। आप कृपा करके मुझे बचाइये। इस पर नारदजी ने उसे भगवन्नाम का उपदेश दिया और वह व्याध भी तर गया। इस प्रकार श्रीहरि ने अपने विरुद की लज्जा रखने के लिये इस तीसरे व्याध को भी तार दिया। एक गणिका भी तोता पढ़ाते समय मृत्यु को प्राप्त होने से तर गयी। और तो क्या; जिन्होंने कपटपूर्वक भी श्रीहरि का गान किया वे भी तर गये।

पहले एक श्वपच माली नाम का हुआ था। उसने बड़े पाप किये थे। उसने गौ, और स्त्री तक का वध कर डाला था। इसलिये घर से निकाल दिया गया था और वन में ही रहता था। इसी पापी के समान एक पापिनी कोकिलनी नाम की स्त्री अपने पति को मार कर उसी माली के पास रह गयी। जिनकी कृपा से इनका भी उद्धार हुआ। मैं उन्हीं पतित-पावन प्रभु का यशोगान करता हूँ।

जीरन हरि-मन्दिर पाइयौ, वासो तहाँ दुहुनि मिलि कियौ।
तौ पियौ सुरा तिनवानि कै जू॥

है अति मत्त वसन दिये डारि, ध्वजा चढ़ाई अम्बर फारि।
तौ चार-पहर गावत गये जू।।
अति-श्रम सुरा छूटि तन गयौ, तिन कहँ कृष्ण अभय पद दयौ।
भयौ काज यह भक्ति तें जू।।
अजामील तार्‌यो सुत नाम, तुलाधार गयौ ताही धाम।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू ।। ८।।

उन दोनों ने मिलकर एक पुराने जीर्ण मन्दिर में निवास किया तथा जंगली फल मूलों से मदिरा बना कर पान की। दोनों उन्मत्त हो गये और अपने शरीर के वस्त्रों को उतार फेंका। फिर उन्हीं वस्त्रों की ध्वजाएँ बनाकर आकाश में चढ़ा दी। इस प्रकार गाते-नाचते चार पहर दिन बीत गया। नाचने-गाने के कारण अत्यधिक श्रम हुआ जिससे उनका शरीर भी उसी हालत में टूट गया। परम दयालु श्रीकृष्ण ने उन्हें भी अपना परम-धाम दिया। यह कार्य उन्मत्त दशा में भगवान की गुणावली गान करने से हुआ।

इसी प्रकार अजामिल ब्राह्मण केवल अपने लड़के 'नारायण' नाम के बहाने भव से तर गया। तुलाधार भी इसी तरह उसी धाम में चला गया। इसलिये मैं भी अब उन्हीं पतित-पावन प्रभु का यशोगान करता हूँ।

अजामिल और तुलाधार जिस नाम के प्रभाव से पार हो गये उसकी महिमा शास्त्रों में बहुत कही गई है। यथा-आदि पुराण में कहा है-

ब्रह्महापिसुरामत्तः स्तेयी सर्वाप हारकः।
सपूतः सर्व पापेभ्यः यस्यनाम्नापरं तप।।

ब्राह्मण का वध करने वाला, मदिरा-पायी और सर्वस्व हरण करने वाला चोर भी श्रीभगवान के नाम से पवित्र हो जाता है और वामन पुराण के अनुसार--

वसुंधरायाँ प्रकटो प्रवादो,
ह्ययं हरेनाम महात्म्य जातः।
कर्तुं न शक्नोति च पातकी तत्।
पापं हरेर्नाम दहेत यावत्॥

पृथ्वी पर यह बात प्रकट है- भगवन्नाम का यह माहात्म्य है कि उसमें पापों को जलाने की जितनी शक्ति है; उतनी पापी में पाप करने की नहीं है।

इसी प्रकार 'विरंचि सर्वस्व' में भगवन्नाम की शक्ति इस प्रकार बतायी गयी है-

नाम्ना हरेर्कीर्तनतः प्रयाति, संसार पारं दुरितौघ मुक्तः
नरः ससत्यं कलिदोष जन्म, पापं निहत्याशुकिमत्रचित्रम्॥

जब भगन्नाम संकीर्त्तन से सारे विश्व के पाप भस्म हो सकते हैं तो फिर भला एक मनुष्य के पापों की गणना ही क्या है!

अब ग्रन्थकार और ऐसे पतितों का वर्णन करते हैं-

सिवरी वन-फल तोरन जाइ, चाखि मिष्ट धरे खाटे खाइ।
तौ आइ, वे हरि आगैं धरे जू॥
अन्तरगति रति जानत श्याम, सिवरी 'नारायण' भयौ नाम।
तौ धाम अभै-पद पाइयौ जू॥
थोरे भजन बहुत फल देत, जानत तन मन के सब हेत।
तौ लेत जु देत अनन्य ह्वै जू॥
कुबिजा डर न कंस को कियौ, लै चन्दन मोहन-चरचियौ।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥ १॥

शबरी नाम की भीलनी वन में फल तोड़ने के लिए जाती थी और उन फलों में से चख-चख कर मीठे फल धर लेती थी और खट्टे स्वयं खा जाती थी।

जब भगवान राम उसके आश्रम पर आये तब उसने वही जूठे किन्तु मीठे फल उनके सामने भोग लगा दिये। भगवान तो हृदय के प्रेम को पहचानते हैं इसलिये उसके प्रेम से दिए हुए फलों को खा गये और उसके साथ अपना नाम दे दिया। तब से सभी लोग उन्हें शबरी 'नारायण' कहते हैं। और अन्त में उन्होंने इस शबरी को अपना अभय पद भी दिया।

भगवान का यह स्वभाव है कि वे जीवों के तन और मन के सभी भावों को जानते हैं और थोड़े से भजन से बहुत सा फल दे देते हैं और जो कोई अनन्य भाव से प्रेम-पूर्वक कुछ देता है उसे अवश्य ग्रहण करते हैं।

कुब्जा कंसराजा की दासी थी और नित्य प्रति उसके लिये चन्दन सर पर ले जाया करती थी। एक दिन मार्ग में श्रीकृष्ण मिल गये और उनके माँगने पर उसने कंस का जरा भी भय न किया और कंस के लिये घिसा हुआ चन्दन श्रीकृष्ण के अंगों में चर्चित कर दिया, बस इतने से ही भगवान श्रीकृष्ण उस पर प्रसन्न हो गये। अतः मैं तो ऐसे कृपालु पतित-पावन श्रीहरि का ही सुयशगान करता हूँ। नारायण भगवान का अन्यतम आश्रय लेने का महात्म्य ब्रह्माण्ड पुराण में बताया गया है।

त्यक्त सर्वकुलाचारो महापातक वा नपि।
विष्णु भक्ति समाश्रित्य नरोनाहेति यातनाम्॥

कि कोई मनुष्य महापापी भी हो किन्तु भगवान की भक्ति का आश्रय ले लेवे और अपने कुलाचारों का भी परित्याग कर दे तो यातना को नहीं प्राप्त होता।

इसी तरह श्रीमद्भगवद्गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपिस्युःपापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेपि यांति परांगतिम्॥

हे अर्जुन! मेरा आश्रय लेकर स्त्री, वैश्य शूद्र तथा अन्य पाप योनि वाले भी परम गति को प्राप्त होते हैं। आगे और भी कहते हैं।

घर वर माल सुदामा धरी, तौ लगि मुख बोले नहिं हरी।
तौ करि-कृपा जब आनि दई जू॥
कपट-छाँड़ि जु थोरेहु अनुसरै, ता कहँ कृपा कृपानिधि करै।
तौ तरें जु वर्ण अवर्ण सबै जू ॥
राक्षस रीछ पंछी पशु तरे, कपि दैंयति अन्त्यज निस्तरे।
तौ करै कर्म कहा वेद में जू॥
तीन साखि अकुलीन जु होइ, हरि के भजत जगत-पर सोइ।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू ॥ १०॥

सुदामा माली ने पुष्प-माला भगवान श्री कृष्ण के लिये बना रखी थी किन्तु जब तक उसने आकर उन्हें समर्पित नहीं की तब तक श्रीहरि भी उससे नहीं बोले। जब उसने माला समर्पित की तो वे प्रसन्न हो गये और उन्होंने उस पर कृपा कर दी। यह सत्य है कि यदि कोई कपट त्याग कर इन श्रीहरि का अनुसरण कर ले तो कृपानिधि भगवान उस पर शीघ्र ही कृपा कर देते हैं। फिर तो सभी वर्ण, सवर्ण और अवर्ण (जाति-कुजाति) भव से पार हो जाते हैं। मनुष्यों की तो क्या बात? उनकी कृपा से राक्षस, रीछ, पक्षी, पशु, कपि दैत्य और अन्त्यज (चाण्डाल) आदि भी तर गये। भला इनकी इस कृपा के सामने कर्म और वेद की क्या चल सकती है। कोई तीनों शाखाओं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) से भले अनुकूल ही क्यों न हो; श्रीहरि का भजन करते ही विश्व भर से श्रेष्ठ हो सकता है। मैं उन्हीं पतित-पावन प्रभु का सुयश गान करता हूँ।

'तौ तरै वर्ण ओ अवर्ण सबै जू'- के विषय में श्रीमद् भागवत के एकादश स्कन्ध में कहा गया है- श्री भगवान कहते हैं मैं केवल एक भक्ति से ही ग्रहणीय हूँ क्योंकि ये साधु ही मेरे प्रिय, सुहृद और आत्मा हैं। मेरी भक्ति-निष्ठा से तो चाण्डाल

पर्यन्त पवित्र हो सकते हैं। श्री शुकदेव जी कहते हैं कि किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, अहीर कंक, यवन, खस तथा अन्यान्य जो भी सवर्ण हैं वे सब के सब जिन यदुपाश्रय भक्तों के चरणाश्रय से पवित्र हो जाते हैं; मैं उन भक्तों के प्रभु को नमन करता हूँ। श्रीभगवान का यह दयामय स्वभाव है कि जो भक्त उनका भजन करते हैं उन चरणाश्रित अनन्यभावमय भक्तों के जो भी विकर्म होते हैं और जिनसे वे पतित हो सकते हैं, उन सबका नाशकर उनके हृदय में सन्निविष्ट होकर रहते हैं।

'तीन साखि अकुलीन जो होय' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य से अकुलीन अर्थात् गिरा हुआ या वर्ण संकर ही क्यों न हो भक्ति से श्रेष्ठ बन सकता है। पद्म पुराण में दृष्टव्य है -

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सूद्र अथवा अन्त्यज ही क्यों न यदि श्री विष्णु भगवान की भक्ति से सम्पन्न है तो उसे सर्वोत्तम ही मानना चाहिये। चाण्डाल मुनियों से भी श्रेष्ठ है यदि वह विष्णु भक्ति परायण है और विष्णु भक्ति-विहीन द्विज भी चाण्डाल से नीच हैं वास्तव में जो शूद्र भगवद्भक्त हैं, वे शूद्र नहीं है । हे भागवतोत्तमोत्तम! किन्तु शूद्र तो वह है जो भगवान जनार्दन का भक्त नहीं है। अब आगे ग्रन्थकार कहते हैं-

क्वारी-कन्यहि जो सुत होइ, हरि के भजत जगत पर सोइ
तौ गोइ जनम सो व्यासकौ जू।।
कन्त मरत पाछे सुत जने, गोलक नाम सबै मिलि भने ।
तौ जनें अन्ध अरु पाण्डु हे जू।।
कन्तहि छित जने औरहि सों जु, कुण्डज नाम कहावै ज्यों जु।
तौ यो जु पाण्डु-सुत जानिवै जू।।
पुनि पाँच बन्धु की एकै नारि, गुरु भ्राता सब डारै मारि।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू ।। ११ ।।

कि यदि कुमारी कन्या के पुत्र उत्पन्न हो जाय तो वह कानी नस्त (अमर्यादित कानि नष्ट) कहलाता है। बस ऐसा ही जन्म पाराशरनन्दनव वेद-व्यास का था। और यदि पति के मरने के पश्चात पुत्र पैदा हो तो उसे सभी लोग गोलक (विधवा के जार कर्म द्वारा उत्पन्न जारज) पुत्र कहते हैं। बस इसी तरह के गोलक अन्धे धृतराष्ट्र और पांडु ये दोनों थे। इसी तरह जो स्त्री अपने पति के रहते हुए ही अन्य पुरुष से मिलकर पुत्र उत्पन्न करे तो उस पुत्र को कुण्डज पुत्र कहते हैं। पाण्डु के युधिष्ठिर आदि पुत्र कुन्ती से उत्पन्न किये गये थे ये सब कुण्डज थे। फिर इनमें भी युधिष्ठिर आदि पाँच भाइयों की एक ही पत्नी द्रौपदी थी तथा इन्हीं पांण्डवों ने अपने गुरु द्रोणाचार्य और भ्राता कौरवों का भी वध कर डाला था। किन्तु श्रीकृष्ण की पतित पावनता तो देखो जिन्होंने वेद-व्यास, धृतराष्ट्र, पांडु, युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, अर्जुन, द्रोपदी आदि सभी को पावन करके अपना अभय परम पद दिया। मैं उन्हीं पतित-पावन प्रभु का सुयश गान करता हूँ। जन्म को लेकर किसी संतान का क्या नाम पड़ता है इसका प्रमाण अमर कोष में इस प्रकार दिया गया है :-

अमृते जारजः कुण्डः मृते भर्त्तरि गोलकः।

जो संतान पति के रहते हुए किसी जार से उत्पन्न की जाय उसे 'कुण्डज' कहते हैं तथा पति के मरने के उपरान्त उत्पन्न की हुई संतान 'गोलक' कहलाती है।

इसके पहले के छन्द में जिनका नाम गिनाया है पुनः उन्हीं के सम्बन्ध में कहते हैं कि इन सबने एक श्रीकृष्ण को ही अपना माना था। इसीसे वे पार हो गये तथा इसी प्रकार के और भी लोग श्री भगवान की पतित-पावनता से पवित्र हुए।

भजे अकेले सुन्द श्याम, आज्ञा माँगि कियो सब काम।
तौ नाम जगत जै जै भनै जू।

नारद विदुर जु दासी जने, अरु प्रति लोम सूत कुल गने।
तौ भनैं भक्त तिहुलोक में जू।।
कलि कबीर रैदास चमार, कृष्ण-कृपा तें उतरे पार।
तौ और बहुत केते कहौं जू।।
पारस परसत कंचन होइ, गंगहि मिलि पवित्र सब तोइ।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू।।१२।।

जैसे कि पांडवों ने एक अकेले श्याम सुन्दर का ही भजन किया और किसी का आश्रय नहीं लिया, तथा श्रीकृष्ण की आज्ञा माँग-माँग कर उन्होंने अपने सारे काम किये इसीलिये जगत् में उनका नाम और जय-जय कार हो गया-सारे विश्व में उनकी बड़ाई फैल गई; नारद और विदुर इसी प्रकार दोनों दासी पुत्र हैं। किन्तु भक्ति के प्रभाव से या श्रीकृष्ण-कृपा से त्रिलोक में भक्त के नाम से प्रसिद्ध और परम भक्त भी हो गये और सूतजी (लोम हर्षण) और प्रतिलोम (ब्राह्मण क्षत्रिय मिश्रित) जाति के थे किन्तु भक्ति के प्रभाव से या श्रीकृष्ण-कृपा से त्रिलोक में भक्त के नाम से प्रसिद्ध और परम भक्त भी हो गये। कलियुग में कबीर भी कौन उच्च जाति के थे? जुलाहा थे और भक्त रैदास जी भी जाति के चमार थे। किन्तु ये लोग भी श्रीकृष्ण-कृपा से संसार-सागर से पार हो गये। इस प्रकार और भी अनेक भक्त तर चुके हैं जिनकी अमित कथाएं हैं, कहाँ तक वर्णन की जायँ?

जिस तरह पारस-मणि से स्पर्श करके सभी धातुएं स्वर्ण बन जाती हैं और गंगा जी से मिलकर सभी जल पावन हो जाते हैं; उसी प्रकार पतित-पावन प्रभु से मिलकर सभी पतित पवित्र हो जाते हैं। मैं उन्हीं पतित-पावन प्रभु का सुयश गान करता हूँ।

'भजे अकेले.... जै जै भनै जू'--यथा; कवि कालिदास ने कहा है--

कानीनस्तु पितामहः समभवत्पुत्रस्तुयो गोलकः
तत्पुत्रस्तु युधिष्ठिरः प्रभृतयो कुंडायतो वांधवाः।
पंचानांद्रुपदा तथा सहचरी युद्धे हते सोदरः।
श्रीकृष्णेन कुलं कलंक निहितं नित्यं यतो वंदितम्॥

जिनके पिता कानी नस्त, विचित्र वीर्य और चित्रांगद थे तथा पुत्र भी गोलक थे उनके पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल, सहदेव भी कुण्डज थे। इस पर भी इन पांचों भाइयों की एक ही पत्नी द्रुपद-तनया द्रोपदी थी और इन्हीं पांडवों ने युद्ध में अपने सहोदर कौरवों का वध भी कर डाला था। इस प्रकार के कुल कलंक पाण्डवों को भी श्रीकृष्ण ने पावन बना दिया क्योंकि ये पाण्डव नित्य उन श्रीकृष्ण का ही वन्दन करते थे।

'नारद विदुर जु दासी-जने'--के प्रसंग में श्रीमद्भागवत में यों कह गया है-

अहं पुरातीत भवेऽभवं मुने दास्यास्तु कस्याश्चन वेद वादिनाम्।
निरूपितो बालक एव योगिनां शुश्रूषणे प्रावृषि निर्विविक्षताम्॥

नारद जी कहते हैं कि हे पराशर नन्दन व्यास! पिछले कल्प में आपने पूर्व जीवन में मैं वेद-वादी ब्राह्मणों की एक दासी का लड़का था। वे योगी वर्षा ऋतु में एक स्थान पर चातुर्मास्य कर रहे थे। बचपन में ही मैं उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया गया था। मैं यद्यपि बालक था फिर भी किसी प्रकार की चंचलता नहीं करता था। जितेन्द्रिय था। खेल-कूद से दूर रहता था और आज्ञानुसार उनकी सेवा करता था। मैं बोलता भी कम था अतः प्रसन्न होकर उन महात्माओं ने मुझ पर दया कर दी। विदुरजी भी दासी पुत्र थे। उसका वर्णन महाभारत में दिया गया है। इसी प्रकार लोम-हर्षण सूत जी भी प्रति लोमज थे। उन्होंने स्वयं ही श्रीमद् भागवत में कहा है-

अहोवयं जन्मभृतोद्यहास्म वृद्धानु वृत्यापि विलोम जाताः।
दौष्कुल्य माधिं विधुनोतिशीघ्रं महत्तमानामभिधान योगः॥

ये शौनक जी! यद्यपि हम लोकहीन विलोम जाति में उत्पन्न हुए हैं जिसकी व्यथा हमारे हृदय में सदा बनी रहती थी किन्तु तुम जैसे ज्ञान-वृद्ध भक्तों के संग से हमारे सारे दौष्कुल्य आज धुल गये और हृदय का सारा सन्ताप नाश हो गया क्योंकि महासंग का योग ऐसा ही होता है।

कलियुग के भक्त कबीर, रैदास आदि सभी तर गये। भक्ति में जाति आदि का कोई महत्व या विचार नहीं है। जैसा सेवक-वाणी में कहा गया है--

तहाँ जाति कुल नहीं विचार, कौन सु उत्तम कौन गँवार।
सार भजन हरिवंश कौ॥
कुल बिन कहौ कौंन सौ चाक, सहज प्रेम रस साँचे पाक।
रंक ईश समुझत नहीं॥
विप्र न, शूद्र कौन कुल कास- सुनहु रसिक हरिवंश विलास॥

अर्थात् यहाँ कुल की लोक मर्यादा नहीं है यहाँ पर तो जो प्रेम में पके हैं वे ही सच्चे हैं। अन्य सभी कच्चे हैं क्योंकि यहाँ शूद्र, श्वपच अथवा ब्राह्मण कुल की एवं धनवान और गरीब की कोई गणना नहीं है। और भी विष्णु-धर्म संहिता में-

सर्व पाप प्रशक्तोपिध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावन पावनः॥

यद्यपि कोई मनुष्य सब पापों से युक्त हो किन्तु निमिष मात्र ही अच्युत भगवान का ध्यान कर लेवे तो वह शीघ्र ही तपस्वी हो जाता है और पंक्ति-पावनों का भी

पावन हो जाता है। हयशीर्य पंच-रात्र में कहते हैं-

येत्यक्त्वा लोक धर्मार्था न्विष्णुभक्ति वंशगताः।
ध्यायंति परमात्मानं तेभ्योनित्यं नमो नमः॥

जो लोक धर्म और अर्थों का परित्याग करके भगवान विष्णु की भक्ति में लग जाते और सदा उनका ध्यान करते हैं उन भक्तों का हम नित्य बारम्बार नमन करते हैं। नारद पुराण में और भी उदाहरण है--

सर्वदा सर्व कालेषु येपि कुर्वंति पातकम्।
नाम संकीर्त्तनं कृत्वा यांति विष्णोः परं पदम्॥

कि जो सदा सर्वदा पाप ही करते रहते हैं; वे भी भगवान का नाम कीर्तन करके परम-पद के अधिकारी हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में पद्म पुराण में देवदूत विकुण्डल संवाद दृष्टव्य है-

दुराचारो दुःकुलोपि सदापापरतोपिवा।
भवद्भिः सहसात्पाज्य विष्णुर्नत्यजतिक्वचित॥

कोई दुराचारी नीच कुल में उत्पन्न और सदा पाप रत भी है; उसे भले ही सारा संसार त्याग दे किन्तु भगवान कभी नहीं त्यागते। 'पारस परसत कंचन होई' -यह पद्यांश आगम में इस प्रकार समझाया गया है-

यथायोपारसे स्पृष्टः हेमो भवति सुव्रत।
तथाभक्त्या हरेर्पुंसो ह्यच्युतं प्रतिपद्यते॥

कि जिस प्रकार पारस का स्पर्श करके धातुएँ स्वर्ण हो जाती हैं। उसी प्रकार हे सुव्रत! पुरुष भी भगवान अच्युत की भक्ति से पवित्र हो जाता है। 'गंगहि मिलि

पवित्र सब तोय' यथा आदि पुराण में कहा गया है-

साधु संग वरो संगादसाधोरपि साधुता।
अंगगामपि गंगास्यात् गंगायां पतितं पयः॥

कि साधु संग ही सर्वश्रेष्ठ संग है, क्योंकि इस संग से असाधुओं में भी साधुता आ जाती है, जिस प्रकार आकाश से पतित जल गंगा में गिरने पर गंगा-जल ही बन जाता है-उसकी अन्य-जल संज्ञा मिट जाती है।

सबका भक्ति में समान अधिकार है और उसमें जाति पाँति का कोई महत्व नहीं है इसे ग्रन्थकार इस दोहे में कहते हैं-

चारि बरन हरि कौ भजें, एक वरन ह्वै जात।
अष्ट धातु पारस-परसि, एकै मोल बिकात॥

अर्थात् चारों वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि श्रीहरि का भजन करें तो एक ही जाति हो जाते है अर्थात् उनकी पृथक-पृथक जाति न रहकर एक ही जाति अच्युत गोत्रीय बन जाती है। जिस प्रकार लोहा आदि कनिष्ठ (नीच) जाति की धातुएँ भी पारस मणि से स्पर्श हो जाने पर सभी स्वर्ण के भाव से बिकती हैं।

अब सम्पूर्ण यश का उपसंहार करते हुए अन्य कर्म धर्मों की हेयता और भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण करते हुए भक्त शिरोमणि स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं-

दादुर बसै कमल के मूल, मधुकर वास लेहि ता फूल।
तौ भूल सकल संसार यों जू॥
कुसुम केवरौ कांटनि जर्‌यौ, मधुकर ताहि मध्य संचर्‌यौ।
तौ डर्‌यौ पखेरु देखि कैं जू॥

ऐसे कर्म धर्म अविरोध, मध्य भक्ति जानत सब सोध।
तौ बोध जिनहि हरि भक्ति कौ जू॥
मुरलीधरन चरन की आस, पावन गुन कहे चतुर्भुजदास।
तौ पतित पावन जस गाइहों जू॥ १३॥

कि मेंढक कमल की जड़ में रहता है परन्तु उस कमल का रस नहीं पा सकता। मधुकर-भ्रमर उस कमल पुष्प में प्रवेश करके उसका रस चखता है। बस ऐसी ही भूल सारा संसार कर रहा है। वह यह कि दादुर की तरह कमल रूप श्रीहरि की भक्ति का रस न लेकर कर्म-धर्म रूप कीचड़ में सुख मान रहा है।

आगे कहते हैं कि जिस प्रकार केवड़े का पुष्प काँटों से आच्छादित रहता है, जिसके काँटों के भय से कोई भी कीट या पक्षी उसका स्पर्श नहीं कर पाते, किन्तु मधु लोभी भ्रमर वहाँ भी पहुँच जाता है और उसका रसपान कर लेता है। बस इसी प्रकार पक्षी रूप संसार भक्ति रूप केवड़े के पुष्प के बाहरी रूपों की दुरूहता से डरकर बाहर ही बाहर रह जाता है, किन्तु रसज्ञ भक्त-जन कर्म-धर्म आदि का भय त्याग कर उस भक्ति-केवड़े का रसास्वाद करते रहते हैं।

इन दो उदाहरणों से यह बताते हैं कि भक्ति-कर्म और धर्मों के विरोध से सर्वदा रहित है। वह सर्व-तंत्र स्वतंत्र है और वही सबका माध्यम है, सार रूप है। उस भक्ति से परे और कोई सिद्धांत नहीं है। इस भक्ति का बोध केवल श्रीहरि के प्यारे भक्तों को ही है। इसे ज्ञानी, कर्मठ अथवा योगी आदि कोई भी अन्य मार्गीय विमुख लोग नहीं जानते।

श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मैंने श्री मुरलीधर श्यामसुन्दर के चरणों की मधुर और प्रिय आशा को अपने हृदय में धारण करके यह उन्हीं का 'पतित-पावन यश' कहा है। उनके समान कोई परम दयालु पतित पावन नहीं है। इसीलिए मैं सदा-सर्वदा उन्हीं पतित-पावन प्रभु का यश-गान करता हूँ।

• • •

अब विद्वान टीकाकार श्री युगवल्लभजी महाराज अन्त में अपनी एक प्रार्थना पतित पावन प्रभु के चरणों में अर्पित करते हैं। इसमें अनेक भक्तों के नामों का उल्लेख करके बतलाते हैं जिन्हें वर्ण-व्यवस्था में पतित, अन्त्यज श्वपच आदि सम्बोधन देकर उच्च या अभिजातियों की दृष्टि से अस्पृश्य बना दिया गया है वे किस तरह भगवद्-भक्तिद्वारा मोक्ष, कैवल्य, सायुज्य आदि पदवियों से विभूषित हो गये--

नाभा जू, नाई, कसाई सदन्न से, छीपा, सु पीपा सुपच्च सुधारे।
जाट, धना रैदासऽरु रीछ रु, बानर गीधऽरु काग विचारे॥
राक्षस, यक्षक दानौ महा खल, पातक पुंज भरे तुम तारे।
त्यों 'युग वल्लभ' आस खबास, करै परि पास सु व्यास-दुलारे॥

॥ पतित पावन (सप्तम) यश समाप्त ॥

अष्टम
श्री मोहनी यश

राग-सारंग

यह मोहनी तुम्हारी मोहन अखिल लोक मन मोह्यो हो हरि।
जन्तु सकल जल-थल-नल सुर ऋषि सब जग जगमग जोह्यो हो हरि॥१॥

पिछले यश में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत परम्परा से उपेक्षित बनाये गये अन्य जातियों के जनों की सामाजिक अवस्था और आध्यात्मिक जगत में उनकी उपासना विषयक विवशता का विस्तार से वर्णन किया गया। इसी पृष्ठभूमि में साधनतत्व का विषद्वर्णन करते हुए ग्रन्थकार स्वामी चतुर्भुज दास जी ने मोक्षदाता श्री कृष्णचन्द्र के शरणागत होने पर समान रूप से सभी जातियों के अधिकार का उद्घोष किया है। अब इस श्री मोहनी यश में माया के विस्तार और उसकी उन लीलाओं का वर्णन करते हैं जिसने बड़े-बड़े देवों से लेकर साधारण जीवों तक को अपने व्यामोह से पथ-भ्रष्ट बनाया और उनके धर्म-साधनों को हतप्रभ कर दिया।

स्वामी श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं, हे मोहन! जैसे तुम मोहन हो; ऐसी ही तुम्हारी यह माया भी मोहनी है। इसने सारे विश्व के प्राणियों को मोहग्रस्त कर रखा है। इसने जल-थल वासी सभी जन्तु-जीवों की तो बात क्या, सुर-नर और ऋषियों तक को भुला रखा है। ये सभी जब आपकी माया की जगमगाहट को देखने लगे तो सबका मन मुग्ध हो गया। भगवान की माया का साक्षात रूप स्त्री है; जैसाकि भगवान कपिलदेव ने देवहूति से कहा है -

बलं पश्यमायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्।
या करोति पदाक्रांत भ्रूविजृंभेण केवलम्॥

-श्रीमद्भागवत

कि हे माता! मेरी माया का बल तो देखो! यद्यपि यह स्त्री रूपिणी है, फिर भी इसने अपने भ्रू-विक्षेप मात्र से बड़े-बड़े शूर वीरों को अपने चरणों में लोट-पोट कर दिया। इस माया ने समस्त लोकवासियों का मन मोहित कर लिया है; जैसा कि किसी भक्त ने कहा है-

सुरनरनाग गंधर्वस्त्वन्ताया सुविजृंभिता।
वयंतु भय भीताश्च तृणोपि मुरलीधरः॥

हे प्रभो! देवता, मनुष्य और गन्धर्व भी जब आपकी माया के भ्रू-विक्षेप मात्र से व्याकुल हैं तो फिर हे मुरलीधर! हम ही क्या वस्तु हैं? इस माया ने सबको अपने वश में कर रखा है। श्रीमद्भागवत में और भी कहा है-

शरत्पद्मोत्सवं वक्त्रं वचश्च श्रवणामृतम्।
हृदयंक्षुर धाराभंस्त्रीणां को वेद चेष्टितम्॥

इन स्त्रियों का मुख शरत्कालीन कमल के समान है और उसमें से निकलने वाली वाणी भी कानों के लिये अमृत के समान लगती है। परन्तु इनका हृदय छुरे की तीखी धार के समान है। भला; इन माया रूपिणी स्त्रियों की चेष्टा को जानने में कौन समर्थ है? ग्रन्थकार अब और भी माया की कलाओं का वर्णन करते हैं-

नाना कला करति छिन छिन प्रति करि कटाक्ष बवरावै हो हरि।
छकित छैल गसिगैल चलत तब नेंक भुकुटि मटकावै हो हरि॥
शशि सुरपति वासरपति पशुपति विधि अति जान विगोयौ हो हरि।
तिनहि निगम भागवत बतावत जानत हैं जिन जोयौ हो हरि॥

प्रभो! आपकी यह माया क्षण-क्षण में नाना प्रकार की कलायें प्रकट करती है और अपने चंचल कटाक्षों की मार से लोगों को बावला बना देती है। जब कोई छैल अपने रंग से भरकर छका हुआ रास्ते से चलता है तब यह अपनी थोड़ी सी भुकुटी मटका देती है। बस; इतने से ही उस छैल रूप साधक का काम तमाम हो

जाता है।

इसी माया ने चन्द्रमा, देवराज इंद्र, सूर्य और महादेव शंकर की क्या गति-विधि कर दी, इसे सभी जानते हैं। माया ने इन्है बढ़ा हुआ जानकर भी बिगोया-नाश किया। इनकी कथाएँ वेद और भागवत शास्त्र सभी बताते हैं। जिन्होंने इन ग्रन्थों का अध्ययन किया है वे सभी इन बातों को अच्छी तरह से जानते हैं।

शशि-चन्द्रमा ने एक बार माया-वश होकर गौतम पत्नी अहिल्या के साथ छल किया था, जिससे ऋषि के शाप के कारण कलंकित होना पड़ा। और गुरु पत्नी (बृहस्पति की स्त्री) तारा से संभोग किया, जिससे बुध की उत्पत्ति हुई। यथा; श्रीमद् भागवत में कहा है-

पत्नि बृहस्पतेर्दर्पात्तारा नामा हरद्बलात्।
यदा सदेव गुरुणाया चितोवहुशोमदात ।।
नात्यजत्त्कृते जज्ञे सुर दानव विग्रहः ।।

कहते हैं कि चन्द्रमा ने बृहस्पति की पत्नी तारा का हरण बलात् कर लिया; किन्तु जब देव गुरु बृहस्पति ने उन्हें मांगा तब उन्हें नहीं दिये जाने के कारण दोनों गुरु-शिष्यों में बड़ा युद्ध हुआ। अब आगे और उदाहरण इस प्रकार है जो माया के वश में आकर देवों ने प्रस्तुत किये हैं।

इन्द्र-देवराज इन्द्र ने गौतम पत्नी अहिल्या पर मुग्ध होकर छल किया जिससे शापित होने पर उसके हजार नेत्र हो गये थे।

सूर्य-सूर्य को माया ने अपने चक्कर में लाकर बारह भागों में विभक्त कर दिया है।

शिव-तीसरे शंकर जी की कथा प्रसिद्ध ही है कि विष्णु के मोहिनी स्वरूप का दर्शन करके काम-वश पागल होकर वे उसके पीछे दौड़े थे। उनका वेग शान्त होने पर भगवान विष्णु ने उनसे कहा--

दिष्ट्या त्वं विवुध श्रेष्ठस्वां निष्ठामात्म नास्थितः।
यन्मे स्त्री रूपायास्वैरं मोहितोऽ प्यंग मायया॥
कोनुभमेऽति तरेन्मायां विषक्तस्त्वदृते पुमान्।
तास्तान् विसृजती भावान्दुस्तराम कृतात्मभिः॥

-श्रीमद् भागवत

कि हे शंकर! तुम मेरी स्त्री रूपा माया से मोहित होकर पुनः अपने आत्म-स्वरूप में स्थित हो गये; यही बड़ी बात है क्योंकि यही माया बड़ी दुस्तर है। इससे पार पाना साधारण जीवों के लिये बड़ी कठिन बात है। इससे तो तुम ही एक समर्थ थे जो पार पा गये।

विधि- ब्रह्मा भी अपनी पुत्री सरस्वती पर ही मुग्ध हो गये थे। जैसा श्रीमद्भागवत में कहा है-

प्रजापतिः स्वां दुहितरादृष्ट्वा तद्रूप प धार्षितः।
रोहिद्भूतां सोन्वधावद्रष्य रूपिहित्रयः॥

जब सरसस्वती भय से व्याकुल होकर भागी तब ब्रह्मा भी उसके पीछे काम मोहित होकर दौड़े। आगे अब प्रत्येक का वर्णन ग्रन्थकार करते हैं।

शशिहि कलंक सहसलोचन तन, इन्द्रिहि जैसें दीने हो हरि।
धरि खरसान एक रवि तें बारह रवि या लगि कीने हो हरि॥४॥
पुनि धरि रूप तुरंगम कौ गिरि गहवर धर भटकाये हो हरि।
सूत कश्यप शिव साखि भरत हैं निगन संग दौराये हो हरि॥५॥

इस माया ने चन्द्र को कलंक और इन्द्र को हजार नेत्र जैसे दिये; इसी तरह एक सूर्य को भी अपनी सान पर चढ़ा कर एक से बारह कर दिया। फिर माया ने ही स्त्री का रूप धारण करके सूर्य को धोखा दिया जिससे उन्हें घोड़े का रूप बनाकर वन-वन में भटकना पड़ा।

सूर्य के भटकने की कथा इस प्रकार है कि एक बार सूर्य स्त्री-संज्ञा अपने पिता के घर गई थी। उसी समय काम वश होकर सूर्य उसके पास गये; किन्तु संज्ञा उनसे अप्रसन्न थी इसलिये वह घोड़ी का रूप बनाकर वन में भागी। तब सूर्य भी घोड़े का रूप लेकर उसके पीछे-पीछे दौड़े। अन्त में वन में मिले तथा प्रेम से दोनों के फुरकने पर नाक से अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति हुई।

इस बात की साक्ष्य सूतजी (भागवत के वक्ता), कश्यप और भगवान शंकरजी हैं कि माया के पीछे सूर्य को भी नंगे होकर दौड़ना पड़ा था।

विधि के रंग तरंगित करनी मोपे जात न वरनी हो हरि।
नारद कहँ इहि वह गति कीनी (जब) भये कुलाहल घर घरनी हो॥६॥
भोजन पात वात जल पीवत तिनहुँ के मन उरझावै हे हरि।
विश्वामित्र परासर भृगु तिनहूँ के चित्त चुरावै हो हरि॥७॥

स्वामीजी कहते हैं कि विधि-ब्रह्मा की जैसी रंग-रंगीली गति तरंगित हुई- जो करनी हुई; हे प्रभो! वह मुझसे वर्णन नहीं की जा सकती। इसी माया ने नारद की जो गति कर दी वह तो विदित ही है कि उनके घर भी बस गया और वे स्वयं एक कुम्भकार के यहाँ स्त्री हुए।

इनकी बात भी देखो जो केवल पत्ते और वायु का भोजन करते एवं जलपान करके ही रहते थे वे पराशर, विश्वामित्र और भृगु भी माया के द्वारा ठग लिये गये। इन का भी चित्त माया ने चुरा लिया।

'नारद कहं इहि...घरनी हो हरि!' - नारद एक बार मायावश किसी कुम्हार की स्त्री बने और वहाँ उनके सौ पुत्र हुए और उस कारण बड़ी आपत्ति में पड़ गये। यह कथा पुराणों में आती है।

दूसरी बार हिमालय-तटी में तपसस्या करते समय नारद काम पर विजय से अभिमान के वश हो गये। तब विष्णु भगवान ने अपनी माया की प्रेरणा से इनका अभिमान नाश करने के लिए एक नगर रचा। उस राजा के एक कन्या थी। वह स्वयं वर करना चाहिती थी। मुनि उस पर मुग्ध हो गये और जाकर विष्णु भगवान से उनका रूप माँगा, किन्तु भक्त-हितकारी भगवान ने उन्हें वानर का रूप दे दिया और अन्त में कन्या उन्हें नहीं मिली। इस पर उन्होंने विष्णु भगवान को शाप भी दिया। जब भगवान ने अपनी माया दूर की तब नारदजी को खबर पड़ी और बड़ा पश्चात्ताप मनाया।

इसी प्रकार विश्वामित्र किसी वन में तपस्या कर रहे थे। उनके तप का नाश करने के लिये इन्द्र की भेजी हुई मेनका नाम की अप्सरा आई और उसने विश्वामित्र को मोहित कर लिया जिससे उसका गर्भ रह गया और विश्वामित्रजी की तपस्या नष्ट हुई। इसी मेनका से शकुन्तला की उत्पत्ति हुथी जो राजा दुष्यन्त को गंधर्व-विवाह की रीति से मिली थी।

पाराशर ऋषि बूढ़े थे। एक बार गंगा पार करते समय नौका में ही धीवर-कन्या सत्यवती पर मुग्ध हो गये और वहीं बीच गंगा में नौका पर ही संध्या समय उसके साथ विहार किया जिससे व्यासदेव की उत्पत्ति हुई।

भृगु ऋषि भी एक अप्सरा से फँस गये जिससे जिन पुत्रों की उत्पत्ति हुई उन्हें राक्षसों ने मार खाया।

माया का रूप वर्णन करते हुए कबीरदासजी ने भी कहा है -

माया महा ठगिनि हम जानी।
ब्रह्मा के ब्रह्मानी हो बैठी शिव कै भई भवानी॥

इन्द्रानी ईंदर के बैठी वरुण भई बरुणानी ॥
मुनिजन के मुनियानी बैठी ऋषिकारी ऋषियानी॥
राजन के रानी ह्वै बैठी मस्तन कै मस्तानी।
देवन के देवी ह्वै बैठी पित्रन कै पित्रानी॥

ग्रन्थकार आगे सब और भी माया के छल-छन्दों का वर्णन करते हैं-

सुर मुख अमी असुर मुख मदिरा याके छलबल दीनौ हो हरि।
सबही के सब सार हरे तब मन को मान्यौ कीन्हौ हो हरि॥८॥
सकल विकल व्याकुल विलोकि के याही कें संग लागे हो हरि।
याके चित्र विचित्र तरंग रंग पागे ये अनुरागे हो हरि॥९॥

हे हरि! इस माया ने ही अपने छल-बल से देवताओं के मुख में तो अमृत और असुरों के मुख में मदिरा दे दी-पिला दी। इसने सबका सम्पूर्ण सार हरण कर लिया। इस प्रकार इसने अपना मनचाहा किया।

जब देवता और असुरों को माया ने मन मोहन रूप दिखाकर मुग्ध कर लिया तो सभी इसके पीछे लगे डोलने लगे। हे हरि! इसके चित्र-विचित्र रंगों की तरंगों में सभी अनुराग से भर गये-अर्थात् इसके जाल में फंस गये। असुरों को मोहित करने का प्रसंग श्रीमद् भागवत के अष्टम स्कन्ध में स्वयं मोहिनी के मुख से इस प्रकार है-

कथं कश्यप दायादः पुंश्चल्यां मयि संगताः।
विश्वासं पंडितो जातु कामिनी षुनयातिहि॥
शाला वृकाणां स्त्रीणां च श्वैरिणीनां सुरद्विषः।
सख्यान्याहुर नित्यानि नूत्नं नूत्नं विचिन्वताम्॥

तां श्री सखिं कनक कुण्डल चारु कर्ण,
नाश कपोलवदनां परदेवताख्याम्।
संवीक्ष्य संमुमुहुरुत्स्मित वीक्षणेन,
देवासुरा विगलितस्तन पट्टिकांताम्।।

मोहिनी ने असुरों से कहा- हि कश्यपनन्दनो! हम स्त्रियाँ पुश्चली होती हैं अतः कभी विश्वसनीय नहीं हैं। जो पण्डित हैं वे कभी विश्वास नहीं करते। हे असुरो! हम स्वैरिणियों की मित्रता क्रूर भेड़ियों के समान अनित्य है। हम तो सदा ही नवीन नवीन पुरुषों को खोजती फिरती हैं।

मोहनी का रूप उस समय बड़ा ही मनोहर था। वह दूसरी लक्ष्मी के समान सुन्दर थी, उसके दोनों कानों में स्वर्ण के कुण्डल लहरा रहे थे, नासा, कपोल और कर्ण सभी एक से एक बढ़कर मनोहर थे। बेसर की झलक, तिरछी कटाक्ष-मय चितवन और मन्द-मन्द मनोहर हास्य देवता और असुरों के चित्त को बरबस हरण किये लेता था। उसी समय वायु के झोंके से उसके उरोजों पर का अंचल बार बार खिसका सा पड़ता था।

अब ग्रन्थकार फिर उसी माया के खेलों का वर्णन करते हैं-

सखी कुमति अति तृष्णा विषया जिहि तिहि गति गहिं आनें हो हरि।
प्रेम लक्षणा छांड़ि सुमति हति याही सों रति मानें हो हरि।।१०।।

एकनि भरम भवन लै पैठत मोह सेज संग सोवै हो हरि।
काम क्रोध चर चोर सिखै कै ज्ञान रतन धन खोवै हो हरि।।११।।

भटकत फिरत अपथ पथ जितकित गिरत परत श्रम भारी हो हरि।
पश्चिम गति पूरब दौरावत तदपि तिनहि अति प्यारी हो हरि।।१२।।

प्रभो! इस माया की तीन सखियां है-कुमति, तृष्णा और विषय लोलुपता। बस इन्ही के द्वारा यह हर किसी को पकड़ बुलाती है। जो लोग श्रीहरि की प्रेम-लक्षणा भक्ति को त्याग देते हैं और इस तरह की सुमति का परित्याग कर देते हैं और वही मूढ़ इस नटिनी माया से रति करते हैं।

यह माया बड़ी चालाक है किसी को तो अपने भ्रम जाल में भुलाकर एकान्त-भवन में ले जाती है और मोह-शय्या पर सुलाकर उसके साथ सो रहती है। इस तरह उसका नाश करती है। और अपने काम-क्रोध आदि दूतों को भेजकर बहुतों के ज्ञान-रत्न की चोरी करा लेती है। अर्थात् उनके इस धन का हरण कर लेती है।

हे हरि! ज्ञान रत्न-धन को खोकर फिर वह मूढ़ हुआ जहाँ तहाँ पथ अपथों में भटकता फिरता है और बारम्बार गिरता उठता रहता है। इस प्रकार यह पश्चिम जाने वाले को भी पूर्व की ओर दौड़ा देती है। अर्थात् बिलकुल विपरीत मार्ग में चला देती है। फिर भी यह उन सभी कुमतिजनों को अत्यन्त प्रिय लग रही है।

माया-वश होने पर जीव की दुर्गति का वर्णन श्रीमद् भागवत् में इस प्रकार हैं

तदर्थं कुरुते कर्म यद्वद्धो याति संसृतिम्
योऽनुयाति ददत्क्लेश म विद्या कर्म बंधनः॥
यद्य सद्भिः पथि पुनः शिष्नोदर कृतोद्यमैः।
अस्थितो रमते जन्तु स्तमो विशति पूर्ववत्॥
सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्री ह्रींर्यशः क्षमा।
शमो दमोभगश्चेति यत्संगाद्याति संक्षयम्॥

यह जीव माया-बद्ध होकर पुनः पुनः उन्हीं कर्मों को करता है जिससे बन्धन और क्लेश होता है। इस तरह असत्मार्गों में चलता हुआ शिष्नोदर परायण हुआ

यह जीव विषयों में ही रमण करता हुआ उन्हीं में स्थिर रहता और मरने पर तमोमय लोक नरकों में चला जाता है। इस मोह अविद्या के संग से उसके सत्य, शौच (पवित्रता) दया, मौन, उत्तम-बुद्धि, शोभा लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि सभी नष्ट हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास भी इस अवस्था को 'तव मायावश फिरौं भुलाना' कहकर निरूपित करते हैं। माया ने किसे कैसे नया रंग चढ़ाया है; स्वामी जी अब उसका वर्णन करते हैं।

एकनि नगन मगन अति डोलत, बोलत नहीं बुलाये हो हरि।
एकनि के सिर जटा बंधाये एकनि केश लुँचाये हो हरि॥१३॥
एक होत जल मगन हेम ऋतु पावक-मण्डल बैसत हो हरि।'
एक अधोमुख धूम पियत अरु थके एक कृत कै सत हो हरि॥१४॥

कि हे हरि! आपकी अस माया के वश में हुए कोई जीव नग्न हुए एक दशा में मग्न फिरते हैं तथा बुलाने पर भी बोलते नहीं। आगे साधन और वैरागय के गुमान में फूले फिरते है और इसी माया ने कितनों के शिर पर लम्बी-लम्बी जटाएँ धारण करादी हैं- वे प्राणी जटाजूट धारी बने पुजते हैं। इसी प्रकार कितनों को इसी ने लुंचित-केश बना दिया है। अर्थात् उन्होंने केश लुचवाने में ही अपनी कृतार्थता समझ रखी है।

हे हरि! इसी माया के वश होकर कितने तो हिम ऋतु में भी जल में प्रवेश करके तपस्या करते हैं और दूसरे अग्नि में प्रवेश करते हैं। एक प्रकार के तपस्वी लोग अधोमुख होकर धुएँ का पान करते हैं और कितने ही सैंकड़ों कृत्य करके थकित हो रहे हैं।

इस स्थिति का चित्र स्वामी शंकराचार्य जी ने बहुत ही बढ़िया खींचा है-

जटिलो मुंडित लुंचित केशा
काषायांवर बहु कृत वेशा।
पश्यं तोपिन पश्यति लोका
उदर निमित्तं बहु कृत शोका॥

कोई जटाजूट धारी बनते हैं तो कोई अपने केशों को ही नोंच कर फेंक देते हैं। इसी तरह कोई काषाय वस्त्र धारी बन जाते हैं-तो कोई और भी अन्यान्य प्रकार से अपना वेष बना लेते हैं। ये लोग देखते हुए भी नहीं देखते। केबल पेट के लिये ही दुखी हुए यह सारा आडम्बर रचते हैं।

इसी प्रकार जगद्गुरु तपस्या और त्याग के आडम्बरों को भी चित्रित करते हैं।

अग्रे वन्हि पृष्टे भानुः रात्रौ चिबुक समर्पित जानुः
करत भिक्षा तरुतल वासः, तदपिन मुंचत्याशा पाशः॥
रत्थ्या कर्पट विरचित कंथा, पुण्या पुण्य विवर्जित पंथः।
नाहं नत्वं नायं लोका स्तदपि किमर्थं क्रियते शोका॥

रात्रि के समय जानुओं से चिबुक मिलाकर सिकुड़कर बैठे हुए रात व्यतीत कर देते हैं, दिन में हृदय से अग्नि का और पीठ से सूर्य की धूप का सेवन करते हैं और इसके साथ-साथ केवल हाथ में शिक्षा करके खा लेते है कर पात्री हैं। रात्रि में वृक्षों के ही नीचे शयन कर लेते हैं। यद्यपि इतने बड़े त्यागी हैं फिर भी हृदय से आशा का त्याग नहीं कर सकते। हाय! यही दुर्दशा है!

हे जीव! जब तूने मार्ग में पड़े हुए चिथड़ों की गुदड़ी बना कर धारण करली तथा पवित्रता और अपवित्रता के झमेले से दूर हो गया। और जब तू किसी का नहीं और तेरा कोई नहीं फिर भी तू शोक मग्न क्यों है ?

बस यही माया की प्रबलता है जिसे शास्त्र पुराण हमें बतलाते हैं इसलिये राजा भर्तृ हरि ने वैराग्य और त्याग की सफलता एक ही बात में बतायी है -

यदि भवति त्रिदंड नग्न मुंडं जटंवा।
यदि पठति पुराणं वेदेशास्त्रैः निधानम्।
यदि वसति गुहायांवृक्षमूले शिलायां
यदि हृदि नहि कृष्णः सर्वमेत्तद्विडंवाः।।

यदि तू त्रिदण्डी है, अथवा सर्व-त्यागी मुण्डित सन्यासी है। जटाजूट धारी है, अथवा बड़ा पण्डित, वेद, शास्त्र-पुराणों का पठन-पाठन करने वाला विद्वान है। त्यागी भी है क्योंकि गिरि गुहा में निरन्तर वास करता है अथवा जहाँ तहाँ वृक्षों के नीचे ही पड़ा रहता है। परन्तु प्यारे इन सब बातों में रखा ही क्या है? ये तो सभी व्यर्थ हैं; यदि तेरे हृदय में भगवान श्रीकृष्ण ने निवास नहीं पाया है तो भला इन विडम्बनाओं से लेना ही क्या है? श्रीधर स्वामी ने भी ऐसा ही कहा है-

तपंतु तापैः प्रपतंतु पर्वतात्।
अटंतु तीर्थानि पठंतु चागमान्।
य जंतु यागै विवदां तु सांख्यं
हरि बिंना नैव तरं तिमृत्युं।।

कि चाहे तपों को तप-तप कर स्वयं तप जाओ, पर्वतों से भी कूद पड़ो, तीर्थों में घूमकर थक जाओ, वेद-पाठ की चाहे झड़ी लगादो, यज्ञों का भी जी भर कर यजन करलो, और सांख्य-शास्त्र का भी विचार करते-करते दिमाग को पका डालो, परन्तु मैं सत्य कहता हूँ कि श्रीहरि के बिना मृत्यु से नहीं तर सकोगे। इन अनेक साधनों को अब ग्रन्थकार इस प्रकार कहते हैं -

एकति धाइ चढ़ै गिरि तें गिरै एक सुहथ सिर सारत हो हरि
एक पाँच पावक में बैठत महाकष्ट तन जारत हो हरि ।।१५।।

एकै तरति मकर मुख होमत एकनि हेम जु गारे हो हरि
इते कष्ट भेंटत जो ता कहै अलपति (अल्पतें) सुख दुख भारे हो हरि॥१६॥

कि हे हरि! इस माया के वश हुए कोई दौड़ते हुए जाकर पर्वत पर चढ़ते हैं; और उस पर से गिर पड़ते हैं और कोई एक अपने हाथों अपना सिर काट कर इष्टदेव को अर्पित कर देते हैं, और कोई पंचाग्नि में तप करने के लिए बैठते हैं। बड़े कष्ट की बात है कि वे इस तरह अपने शरीर को व्यर्थ ही जलाते हैं।

हे हरि! कुछ लोग मकर-मुख हुए (सूर्य के सामने मुख करके खड़े होकर) अपना शरीर जलाते हैं और दूसरे हिम ऋतु में बर्फ पर बैठकर अपना शरीर गलाते हैं। हे प्रभो! ये सब लोग इतना कष्ट सहते है; फिर भी उन्हें सुख तो अत्यन्त ही स्वल्प मिलता है किन्तु दुःखों का ढेर का ढेर मिल जाता है।

महाराज भर्तृ हरि ने कहा है -

स्त्री मुद्रां झष केतनस्य विकसत्सर्वार्थ संयत्करीम्।
ये मूढाप्रविहाय यांति कुधियो मित्थ्या फलान्वेषिणः॥
तान्ते नैव निहत्य निर्दय तरा भग्नीकृता मुंडिता।
केचित्पंचशिखीकृताश्च जटिला कापालिकाश्चापरे॥

झष-केतन कामदेव महाराज की फाँसी रूप मुद्रा साक्षात् स्त्री इस विश्व में फैल रही है। यह मनुष्यों के सारे स्वार्थों का संयमन संकोचन कर देती है। किन्तु जो मूढ़ और दुर्मति मनुष्य हैं वे परमात्मा रूप परम-सुख का परित्याग करके किसी मिथ्याफल की खोज में व्यस्त हो रहे हैं। बस, उन्हीं-उन्हीं कामनाओं के गुलामों को पकड़-पकड़कर यह निर्दयी भग्न कर रही है। किसी को इसने एकदम मुण्डित बना दिया तो किसी को पंच-शिखा केशधारी और किसी को जटा-जूट धारी जटिली बना डाला; तो किसी बेचारे के हाथ में एक खप्पर ही रखा दिया। इस

प्रकार इस माया ने सभी भगवद्विमुखों की दुर्गति कर डाली। अब ग्रन्थकार कहते हैं

रविसुत पासि बंधाइ नचाये, जलथल गिरि सब वागै हो हरि।
यह गुनशील समुझि मोसो शठ पुनि पुनि ता संग लागै हो हरि॥१७॥
सुने करम अति शरम होति है जब कृष्ण किंकर कहावै हो हरि।
श्याम नाम के ओट जात जे भूलि तिनहि भटकावै हो हरि॥१८॥

कि सबको माया ने भुला दिया इसीसे अन्त में यमराज के पाश में बांधकर वे नचाये गये और जल, थल, पर्वत सभी जगह फिराये गये - भटकते फिरे। स्वामी जी कहते हैं - प्रभो! माया के ये गुण और आचरणों को समझकर भी मुझसा शठ उसी माया के संग बार-बार लगता है। प्रभो! इस माया के कर्त्तव्यों को सुनकर तो अत्यन्त लज्जा आती है कि कैसे पार हो सकूंगा? किन्तु एक ही भरोसा है कि हे कृष्ण भगवान! हम आपके दास बन गये और आपके नाम का आश्रय लिया है। इसी प्रकार जो कोई भी आपके नामों का आश्रय लेते हैं उन्हें यह माया भूलकर भी कभी नहीं भटकाती।

श्रीमद् भागवत ने सबसे बड़े बन्धन का हेतु केवल इसी माया रूपिणी स्त्री को ही माना है और स्थान-स्थान पर उसका निषेध किया है-

न तथास्य भवेंद्बधो मोहश्चान्य प्रसंगतः।
योषित्संगाद्यथापुंसो यथा तत्संगिसंगतः॥
संगं न कुर्यात्प्रमदाशुजातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्म भावो वदंतियां निरयद्वारमस्य॥

मोह का ऐसा न तो कोई और प्रसंग है और न कहीं ऐसा बन्धन ही होता है, जैसा पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री-संगियों का संग है। अतएव परमार्थ की प्राप्ति

करने वाले यत्न-शील साधक का कर्त्तव्य है कि स्त्री-प्रमदा का कभी साथ ही न करे, क्योंकि श्री भगवान के भाव से भावित लब्धात्म भक्त-गण स्त्री रूपी मोह माया को नरक का द्वार ही कहते हैं।

श्री भगवान के नाम या उनकी किसी भी प्रकार से शरण लेने पर माया अपने आप पीछा छोड़ देती है। श्रीमद् भगवत गीता में भगवान ने स्वयं ही कहा है -

दैवी ह्येषा गुणमयी मम मायादुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायां मेतां तरंतिते॥

अर्जुन! मेरी यह त्रिगुण (सत्व, रज और तम) मयी माया बड़ी दुस्तर है। जो जीव केवल मेरी ही शरण लेते हैं वे माया से अवश्य तर जाते हैं।

अब ग्रन्थकार यश का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि जो-जो भक्त आपकी शरण में आये, वे अवश्य ही माया से पार हो गये -

शुक सनकादिक आदि भक्त जे ते तुम तबहि बचाये हो हरि।
अरु वृन्दावन के वासी राधापति (चरन) शरन जु आये हो हरि॥१९॥
जगतपिता जगदीश जगतपति अन्तरगति रति जानत हो हरि।
मुरली धरन सरन राखौ अब चतुर्भुजदास बखानत हो हरि॥२०॥

हे हरि! शुकदेव, सनकसनन्दन सनातन और सनत्कुमार आदि जितने भी भक्त आपके चरण की छाया में आये; आपने उन सभी को माया से बचाया। और हे श्री वृन्दावन के वासी श्री राधापति श्री कृष्ण! जो कोई भक्त आपकी शरण में आये; आपने उन सबकी इस माया नटी से रक्षा की - उन्हें बचाया।

हे हरे! आप ही इस विश्व के एक मात्र पिता हैं, पति हैं और जगत् के स्वामी भी आप ही हैं। आप अन्तर-यामी भी हैं। अतएव हमारी हृदय की गति का वास्तविक ज्ञान आपको ही है। हमारे प्रेम को भी आप ही भली प्रकार जानते हैं। हे

मुरलीधर प्रभो! इस चतुर्भुजदास को आप अपनी चरण शरण में सदा ही रख छोड़िये - त्यागिये नहीं। मैं आपसे यह सत्य-सत्य कह रहा हूँ।

'जगत पिता जगदीस .... हो हरि' - यथा - श्री पद्म-पुराण में कहा है -

स एव वासुदेवोयं साक्षात्पुरुषउच्यते।
स्त्रीप्रायमितरत्सर्वं जगद्ब्रह्म पुरःसरम्॥

कि वासुदेव भगवान ही साक्षात् परात्पर पुरुष हैं। इनसे अतिरिक्त इस विश्व में जितने भी जीव है; चाहे वे देव, गन्धर्व, मनुष्य, असुर आदि कोई भी क्यों न हों सब के सब स्त्री ही हैं। यह जगत् भी स्त्री रूप, जीव भी स्त्री रूप और तो और साधारण जीव से लेकर ब्रह्मा तक स्त्री रूप हैं। पुरुष तो केवल श्रीहरि ही हैं।

●●●

अन्त में टीकाकार अब अपनी प्रार्थना के साथ इस यश की समाप्ति करते हैं -

ब्रह्म पराशर व्यास मुनि से
सु सूरज चंद सुरेन्द्र प्रतारे।
मोहनी देखत मोह गये
शिय से कहौ मानुष कौन विचारै
यक्षुरक्ष पिशाच परीत
रहे वश माया के फंद फंदारे।
त्यों 'युग वल्लभ' शर्ण गहे बिनु
छूटत नाहि कलेश कलारे॥

॥ श्री मोहनी यश (अष्टम) समाप्त ॥

नवम्
श्री अनन्य भजन - यश

चौपाई

मनुष्य योनि समस्त चौरासी लक्ष योनियों में सर्वोपरि बताई गई है। उसमें माया की व्यापकता नहीं होती तो मनुष्य के जीवन की सफलता और उपलब्धियों की कोई सीमा नहीं आँकी जा सकती थी। परन्तु माया ने अपने व्यामोह में मानवात्मा को भ्रमित कर दिया। बड़े-बड़े पदवीधारी इन्द्रादि देव और तपस्वी भी उसके पाश में फंसे और अपने पुण्यों को उन्होंने क्षीण कर लिया। इस आशय के आठवें यश के बाद द्वादश यशकार श्री चतुर्भुज दास जी प्रस्तुत यश में हरि चरणों में मधुर-रीति से उनसे अपने रागात्मक सम्बन्ध जोड़ने की शिक्षा देते हैं।

श्री हरिवंश प्रथम सिर नाऊँ। 'भक्ति अनन्य भजन' जस गाउँ॥
संतनि सों बिनवौं कर जोरी। कहहुँ सो सुनहु बुद्धि मम थोरी॥१॥
पुनि सुनि के मन में उनमानहुँ। वेद पुरान स्मृति मत जानहु॥
तौ कबहूँ आदर जौ कोई। न तु यह कर्यौ वृथा श्रम होई॥२॥

सर्वप्रथम आचार्य प्रवर श्री वंशी स्वरूप महाप्रभु श्री श्रीहित हरिवंश चन्द्रजी के चरणों में ग्रन्थकार सिर झुकाते हुए कहते हैं कि उन्हीं की कृपा से उनके अनन्य भक्तों का मैं सुयश गान करता हूँ। अब कहते हैं कि मैं सन्तों से हाथ जोड़कर प्रार्थना करता हूँ कि मेरी बुद्धि बहुत ही थोड़ी है। मैं जो कुछ कहता हूँ उसे सुनने की कृपा कीजिये। इसके पश्चात् उसे सुनकर विचार कीजिए - मनन कीजिये। मैंने यह वेद, पुराण और सब स्मृतियों का मत ही प्रकट किया है। यदि कभी भी आप सन्त-जनोंने इसका आदर कर दिया तो मेरा परिश्रम सफल हो जायगा, अन्यथा यह सब केवल श्रम ही रहेगा। अर्थात् मैंने यह सारा व्यर्थ ही श्रम किया।

प्रेम-लक्षणा अनन्य रस रूपा भक्ति को प्रकाशित करने वाले आचार्य श्रीहित हरिवंश चन्द्र हैं। जीवों के उपकारार्थ ही भक्ति का यह पथ उन्होंने प्रकाशित किया। जैसा कि श्रीमद् भागवत में वेद स्तुति में कहा गया है -

त्वदनुपथं कुलाय मिदमात्मसुहृत्प्रियव
तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।
नवतरमंत्यहो सदु पासनयात्महनो यदनुशया
भ्रमंत्युरु भये कु शरीर भृतः ॥

श्रुतियाँ कहती हैं - प्रभो! एक दिन यह शरीर मिट्टी में मिल जायगा; परन्तु इसका जो यह थोड़े दिनों का जीवन है इसीसे यदि जीव चाहे तो, आपकी प्राप्ति कर सकता है; क्योंकि इसके द्वारा आपका सेवन-भजन किया जा सकता है। साथ ही यह बात भी है कि यह शरीर जीव की इच्छा के विपरीत कोई काम नहीं करता; बल्कि उसकी आज्ञानुसार आत्महितैषी और सुहृदय के समान आचरण करता है। फिर जब शरीर इतना अनुकूल है तब आपकी अनुकूलता का तो कहना ही क्या है? क्योंकि आप तो जीवों के सच्चे हितैषी, प्रियतम और आत्मा ही हैं। और सदा-सर्वदा जीव को अपनाने के लिए तैयार भी रहते हैं। इतनी सुगमता होने पर भी लोग सख्य-भावादि के द्वारा आपकी उपासना नहीं करते - आपमें नहीं रमते। इस विनाशी और असत् शरीर तथा उसके सम्बन्धियों में ही रम जाते हैं। इस प्रकार अपने आत्मा का हनन करते हैं। इसका फल क्या होता है कि उनकी सारी वृत्तियां शरीर आदि में ही लग जाती हैं। फिर उसके अनुसार उनको पशु-पक्षी आदि के कितने-कितने बुरे शरीर ग्रहण करने पड़ते हैं और इस प्रकार अत्यन्त भयावह जन्म-मृत्यु रूप संसार में भटकना पड़ता है। श्री हित महाप्रभु के लिए और भी किसी भक्त ने कहा है -

नामद्वयं च सर्वेषां भूतानां च कृताश्रयः।
हितस्तु हरिवंशश्चनाम्नः कलिमला पहः ॥

'श्रीहित' और 'श्रीहरिवंश' बस ये दो ही नाम कलियुग के सारे पापों को धोने में समर्थ हैं। इन्हीं का आश्रय लेकर सारे प्राणी भव से पार हो सकते हैं। कर्म का फल तभी तक है जब तक अनन्य-भक्ति का आश्रय नहीं लिया गया। जैसा कि कहा है -

कृतं कर्मक्षयो नास्ति कल्प कोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

अर्थात् किये हुए कर्मों का नाश कोटि कल्पों तक नहीं होता। अवश्य ही कृत कर्मों का शुभ और अशुभ फल भोगना ही पड़ता है। अब ग्रन्थकार प्रत्येक वर्ण और आश्रम की व्यवस्थाओं का परिचय देते हैं -

चार बरन अरु ते आसरमा, तिनके न्यारे कर्म जु धरमा।
तिन कर्मनि धर्मनि जो धावै, आश्रमी अरु बरन कहावै॥३॥
दिन प्रति षट्कर्मनि अनुसरई, श्राद्ध-बहत्तर वर्ष प्रति करई।
बलि अरु वैश्वदेव प्रति पालै, नित्य श्राद्ध वायस वलि घालै॥४॥

सनातन धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण और चार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) ही आश्रम हैं तथा प्रत्येक के भिन्न-भिन्न कर्म-धर्म हैं। अब जो कोई इन कर्म-धर्मों को धारण करता है वह वर्णाश्रमी कहलाता है।

अब इनमें से ब्राह्मण के कर्मों का संक्षेपतः वर्णन करते हैं। वह यह कि ब्राह्मण नित्य प्रति षट्-कर्म (वेद पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, कराना, दान देना और लेना) का आचरण करे तथा वर्ष भर में बहत्तर श्राद्ध करे। इसी प्रकार नित्य ही बलि और वैश्व देव का पालन करे तथा बायस के लिये बलि तथा नित्य श्राद्ध करे।

श्रीमद् भागवत में कहा है -

स्वे-स्वे धिकारेया निष्ठा सगुणः परिकीर्तितः।
विपर्ययस्तु दोषस्यादुभयो रेष निश्चयः।।

अपने-अपने अधिकार पर निष्ठा करना ही गुण दायक है। दूसरे के गुण को ग्रहण करने में अवश्य ही भय है; यही विपर्यय है। इन ब्राह्मणादि के कर्मों में यदि विस्मरण हो जाय तो क्या होता है वह कहते हैं -

इनमें एक विसरि जो जाई, तौ ह्वै है अकरन प्रतिवाई।
दै ऋण पांच अधिक धर्म करई, तौ द्विज कर्मनि तें निस्तरई।।५।।

इन कर्मों में से यदि ब्राह्मण एक भी कर्म भूल जाय तो उसे प्रत्यवाय दोष लगता है अर्थात् पुण्य की जगह पाप ही लगता है। और यदि ब्राह्मण अपने समस्त कर्मों को यथाविधि करता हुआ पाँचों ऋण (देव ऋण, पितृ ऋण, मातृ-ऋण, ऋषि-ऋण और पुत्र ऋण) से मुक्त हो और विशेष धर्म का आचरण करे तो ब्राह्मण-धर्म से निस्तार पावें और उत्तम लोकों में जावे अन्यथा प्रत्यवाय दोष का भागी होना पड़ेगा।

आगे ग्रन्थकार कहते हैं -

संध्या तीनि सधहि नहिं भाई, आजीविका रहे अरुझाई।
बाद होत कर्मन के मानी, बूडत कत हरि भक्ति न जानी।।६।।
उन कर्मनि धर्मनि तें न्यारें, भक्त भक्ति कर्मनि अनुसारे।
मेरे कर्म करत हैं कोई, क्रिया लोप सकल जो होई।।७।।

अरे भाई! इतने सारे कर्म-धर्मों की बात तो दूर रही, ब्राह्मणों से त्रिकाल संध्या ही ठीक-ठीक नहीं सध पाती। सभी अपनी-अपनी आजीविका के उपार्जन में उलझ रहे हैं; किन्तु वृथा ही कर्म करने का अभिमान अपने सिर पर लादते हैं। ये

सब बेचारे भूल में पड़े कर्म-धर्म रूप भव-सागर में डूब रहे हैं क्योंकि शुद्धा भक्ति जो श्री हरि को अत्यन्त प्रिय है, उसे नहीं पहचानते। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के कर्मों और धर्मों से भक्त और भक्ति के कर्म सर्वथा ही भिन्न हैं। श्रीभगवान ने स्वयं ही कहा है कि मेरे चातुर्वर्ण्य कर्मों और धर्मों का जो भक्त-गण लोप कर देते हैं उनकी ओर से मैंने अन्य लोगों को उस कार्य में नियोजित कर दिया है। वे लोग भक्तों की ओर से उन्हें कर रहे हैं।

श्रीहरि-भक्ति सभी लौकिक-वैदिक कर्म-धर्मो से न्यारी है। यथा, आदि पुराणों में कहा गया है -

स्मरंति मम नामानि ये त्यक्ता कर्मचाखिलम्।
तेषां कर्माणि कुर्वंति ऋषयो भगवान् प्रियः।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य नाम मात्रैक बांधवः।
तमहं पोषयेन्नित्यं तृत्या भूत्वा भवार्णवात्।।
विसृज्य मम नामानि कुर्वंति कर्मचाखिलम्।
तेषां तत्कर्म बंधाय न सुखाय कदाचन।।
मम नाम सदा ग्राही यस्त्यत्वा कर्म चाखिलम्।
सपूतः सर्व पापेभ्यो पद्म पत्रं जलादिव।।

श्री भगवान कहते हैं - जो भक्त समस्त लौकिक-वैदिक कर्म-धर्मों का परित्याग करके केवल मेरे नामों का स्मरण करता है उनके कर्मों की पूर्ति भगवान के प्रिय अमल ऋषि-गण करते हैं। जो सब धर्मों का परित्याग करके एक नाम के ही आश्रित हो रहे है। मैं उनका पोषण करता और फिर उन्हें संसार से भी पार कर देता हूँ। जो एक मेरे नाम का विस्मरण करके और सभी कर्मों का पालन करता है उसके लिये वे कर्म बन्धनकारक ही हैं; कभी सुखद नहीं हो सकते।। जो सदा मेरा नाम लेता और समस्त कर्मों का परित्याग कर चुका है वह कमल-दल की तरह सदा पवित्र है - अलिप्त है।

और भी पद्म पुराण में -

न कर्म बंधनं जन्म वैष्णवानांच विद्यते।
विष्णोरनुचरत्वेहि मोक्षमाहुर्मनीषिणः ।।

कहा गया है कि वैष्णव को जन्म और कर्म का बन्धन नहीं होता; क्योंकि ये भगवान विष्णु के अनुचर हैं; इस कारण मोक्ष-स्वरूप हैं। इसी प्रकार काशी खंड में -

अननुष्ठान दोषोन भक्त्यां गानां प्रजायते।
न कर्मणामकरणाद्दोषो भक्त्याधिकारिणाम् ।।

दृष्टव्य है कि भक्तों को अनुष्ठान से दोष नहीं होता; क्योंकि वे भक्ति के अधिकारी हैं। उन्हें कर्म का भी दोष नहीं लगता। और भी; वामन-पुराण में कहा है

त्यक्राहि कर्माणि हरिं भजन्यो ह्यायक्कबुद्धिस्तु पतेत्कदाचन।
न कुत्रचित्क्वापि भवेदभद्रं मद्भक्ति बीजेन हरिं भजिष्यति।।

श्री भगवान कहते हैं - जो भक्त समस्त कर्मों का परित्याग करके मेरा भजन करते हुए कदाचित् अपने मार्ग से भ्रष्ट हो जायँ तो भी उनका अमंगल नहीं हो सकता; क्योंकि फिर भी वह श्रीहरि भक्ति के प्रभाव से पुनः-पुनः मेरा ही भजन करेगा। इसी प्रकार वामन पुराण में कहा है -

भानु सर्वगतो यद्वद्न्हि सर्व भुजो यथा।
भक्तिस्थितोपि विषयैर्कर्म भिर्नसबध्यते।।

कि जैस सूर्य और अग्नि में सब कुछ, समा जाता या भस्म हो जाता है उसी प्रकार भक्ति-स्थित पुरुष के कर्म आदि सभी प्रायः नष्ट हो जाते है; वे बन्धन-कारक नहीं होते। श्री हरि के समाश्रित होने की गरिमा प्रकट करते हुए श्रीमद् भागवत में नारद वाक्य में जो कहा है उसका भावार्थ यह है कि जो सारे धर्मों का

परित्याग करके केवल श्रीहरि का भजन ही करता है यदि उसकी कचाई से थोड़ा बहुत पतन भी हो जाय तो भी अमंगल नहीं होता क्योंकि जिन्होंने केवल श्रीहरि का आश्रय लिया है उनका पतन कैसा? कर्म वही है जिससे श्रीहरि की प्रसन्नता हो। विद्या भी वही है, जिससे उनमें अपनी मति लग जावे। सम्पूर्ण प्रकृति के स्वामी श्रीहरि ही सब देहधारियों के आत्मा हैं। इन सर्वेश्वर सर्वात्मा में जिसकी रति हो गई उस अमृत समुद्र में विहार करने वाले के लिये कर्म-धर्म रूप क्षुद्र खारे जल का क्या महत्त्व है?

जिन श्रीहरि के चरण-कमलों का आश्रय लेकर संत-जन अपने समस्त कर्म बन्धन काट डालते हैं; वैसा अन्य यति भी, जिन्होंने उन चरणों का आश्रय नहीं लिया; नहीं काट सकते। अतएव श्री वासुदेव भगवान का ही भजन करना चाहिये। जब मनुष्य समस्त कर्मों का परित्याग करके मेरी इच्छा के अनुसार चलता और अपने आपको मुझे सौंप देता है तब मेरे शरण आया हुआ वह भक्त मुझे ही प्राप्त होता है।

इसलिये उद्धव! तुम सारे कर्म और उनकी प्रेरणाओं का वासनाओं का भी परित्याग करो; प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा श्रुत और अश्रुत सभी का त्याग कर दो। मैं जो सब देहधारियों की आत्मा हूँ; मुझमें ही अपना मन लगा दो और अनन्य भाव से एक मेरी ही शरण में आ जाओ। इससे तुम सर्वथा ही सब तरह से अभय हो जाओगे।

प्रश्न हो सकता है कि कर्म और धर्मों का आदेश भी तो श्रीभगवान ने ही दिया है और अब वही उसका खण्डन भी करते हैं तो वह कर्म-धर्मों के लिये आदेश ही क्यों था? इस पर श्रीमद् भागवत में श्री भगवान कहते हैं -

फलश्रुतिरियं नृणां नश्रेयो रोचनं परं।
श्रेयो विविक्षया प्रोक्ता यथा भेषिज्य रोचनम्॥

यह फल श्रुति (कर्मनिष्ठा) मनुष्यों के श्रेय के लिये नहीं वरन् रुचि उत्पन्न करने के लिये थी। जैसे दवा खिलाने के लिये उसके गुण कहे जाते हैं; परन्तु यहाँ प्रयोजन दवा खिलाने से नहीं रोग दूर करने से है।

श्रीमद् भागवत में उद्धव से श्री भगवान के कहे अनुसार यह तत्व प्रकट होता है कि उन्होंने जो आज्ञा की है, भक्त उन कर्म-धर्मों के गुण और दोषों का ज्ञान कर ले। पश्चात् सर्व-धर्मों का परित्याग करके सर्वभाव से वह भगवान का ही भजन करे। जिसके लिये वर्णाश्रम, जाति, पाँति, जन्म और कर्म आदि किसी में भी अभिमान नहीं है। वही भक्त भगवान को प्रिय हैं। भगवान कहते हैं कि हे प्यारे उद्धव! कर्म तभी तक करे जब तक उनसे वैराग्य न हो और जब वैराग्य होकर मेरी लीला-कथा में श्रद्धा उत्पन्न हो जाय तो कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कर्म में विक्षिप्त-चित्त मनुष्य हैं उनके लिये हृदयस्थ भगवान भी अत्यन्त दूर हैं। उचित तो यही है कि सब सत्य है; फिर भी ज्ञानी को चाहिये कि कर्म में लगे हुए व्यक्ति को उससे विचलित न करे। जैसे उत्तम वैद्य रोगी की इच्छानुसार वस्तु नहीं देता। कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, तप, योग, दान और धर्म से भक्ति नहीं मिलती। वह स्वयं सिद्धा है। मेरा भक्त मेरी भक्ति से यह सभी कुछ पा लेता है। स्वर्ग, अपवर्ग, मेरा धाम और जो कुछ इच्छा करता है वह भी प्राप्त करता है। अब कर्मों की व्यवस्था के लिये ग्रन्थकार कहते हैं -

तेतीस कोटि ताको करहीं, श्रीमुख वचन आप उच्चरहीं।
ह्वै अनन्य हरि नामहि लैइ, तासरि धर्म न कोउ हैइ॥८॥
स्मृति वचन तहाँ परवान, गऊ कोटि दीजहि जो दान।
काशी ग्रहन मकर प्रयाग कर ही, कल्प एक लगि यह व्रत धरही॥९॥
सोनौ जो सुमेरु सम दीजै, कृष्ण नाम सम सो क्यों कीजै।
तातें कर्म धर्म व्रत तप करि, कत श्रम करत न तोषत श्री हरि॥१०॥

भक्तों के उन कर्मों को तैंतीस करोड़ देवता करते रहते हैं। स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से ऐसा कहा है। जो अनन्य होकर केवल श्रीहरि का नाम ही लेता है, उसके समान कोई धर्म ही नहीं है। इसमें स्मृति का वचन प्रमाण है कि करोड़ों गौओं का यदि दान देवे, काशी में ग्रहण-स्नान करे तथा प्रयाग में मकर स्नान करे और यह व्रत एक कल्प-पर्यन्त करता रहे; साथ ही सुमेरु के समान स्वर्ण-दान करे। वह सब मिलकर भी श्रीकृष्ण के नाम के बराबर नहीं हो सकता। इसलिये निश्चय हुआ कि भगवान कर्म, धर्म, व्रत और तपस्या से प्रसन्न नहीं होते। इसलिये यह सब कष्ट क्यों किया जाय? श्री हरि इनसे प्रसन्न नहीं होते - वे तो, केवल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं।

सभी धर्म केवल नाम के अधीन है। कोई-कोई कहते हैं कि कर्म करके ईश्वर के अर्पण कर देना चाहिये इस पर कहते हैं कि -

काचिद्विभो महादेव सुखार्थे कुरुते पतिम्।
गर्भेनैवचश्रद्धास्तिकस्माद्भवति गर्भिणीतिरीत्या॥

- स्कन्द पुराण

हे प्रभो! स्त्री अपने विषय-सुख की इच्छा से पति वरण करे और गर्भ-धारण में श्रद्धा न करे तो गर्भिणी कैसे हो सकती है। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। जो स्त्री पति से रमण करेगी उसके सन्तान होगी ही। इसी तरह जो कर्म करेगा वह अवश्य कर्मफल पावेगा। अब जो केवल सर्वेश्वर का भजन करता है; उसे अन्य धर्मों का पालन करने की क्या आवश्यकता है। यथा वेद श्रुति में कहा है -

विष्णोः कृमन्न पश्यसि। यतोवृतान पश्यसि। ईद्रं छं यजु शाखा ।।इति॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यंति सूरयः। देवी वच्चक्षुरारयम्॥

अर्थात् विष्णु का स्वरूप और उनका पराक्रम तो देखो इनसे ही सब आवृत्त हैं।

इन्होंने सब कुछ अपने रूप में ही दिखाया। इन्द्र भी इनकी शाखा है। विष्णु का परम पद ही परम श्रेष्ठ है। इसे कोई पराक्रमी गण ही देखते हैं - अपने दिव्य-चक्षुओं से।

इस तरह अनेक श्रुति-स्मृतियों में कर्मयोग, ध्यान-धर्म आदि सभी सिद्धांतों की पुष्टि की गई है। पर सबका निचोड़ केवल भक्ति है। विल्व मंगलाचार्य्य ने कहा है -

संध्यावंदन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो।
भो देवापितरश्च तर्पण विधौ नाहंक्षमः क्ष्यभ्यताम्॥
यत्र क्वापि निविष्ट यादव कुलो तंसस्य कंसद्विषः।
स्मारं स्मार मघं हरामितदल मन्ये किमन्ये नमे॥

कि हे सन्ध्यावन्दन! आपका कल्याण हो; और हे स्नान! आपको भी हमारा प्रणाम है; तथा हे देव, पितृ-तर्पण विधियो! हम असमर्थ हैं। आप हमें क्षमा करें। अर्थात् हम से आप सब बिदा लें। अब हम किसी एकांत में बैठकर यदुकुल-कमल एवं कंसारि श्रीकृष्ण का स्मरण करके अपने समस्त अघों का नाश करेंगे। अतः हमें अब अन्य से क्या प्रयोजन है? कुल में भक्त पुत्र हो जाने पर पितृ-तर्पण और बलि आदि की आवश्यकता नहीं है; जैसा कि कहा गया है -

तावद्भ्रमंति संसारे पितरः पिंडतत्परः।
यावत्कुलौ भक्तियुतः सुतोनैवप्रजायते॥
नैवेद्यानि मनोज्ञानिकृष्णस्य यो निवेदयेत्।
कल्पांतेतत्पितृणां तृप्तिर्भवंति शाश्वती॥

- स्कंद पुराण

पितृ-गणों का तर्पण और बलि का तब तक पालन करना चाहिये जब तक कुल में भक्त-पुत्र उत्पन्न न हो जाय। जो भगवान कृष्ण को उत्तम नैवेद्य लगाता है

उसके कल्प कल्पान्तों के पितृ-गण भी शाश्वत शान्ति पा जाते हैं। और भी वृहन्नारदीय पुराण में कहा है

माघ स्नानं प्रयागं तु गयायीपिंड पातनाम्।
एतत्सर्वं कृतं तेन हरिरित्यक्षरद्वयम्।।

माघ में प्रयाग-स्नान, गया में पिण्ड-दान आदि उसने कर ही लिया जिसने 'हरि' नाम दो अक्षरों के एक नाम ले लिए। इसी प्रकार यथुर्वेद में भी कहा है -

एक एव नारायणः आसीन्तो ब्रह्माणे मेद्यावा
पृथिव्यौ सर्वे देवाः। सर्वे पितराः। सर्वे मनुष्याः।।
विष्णुनाशितमश्नंति। विष्णुनाघ्रातं जिघ्रंति।
विष्णुना पति पिवति। तस्माद्विद्वांसो विष्णुपहृतं भक्षयेयुः।।

एक नारायण ही विश्व के स्वामी हैं। इनके तृप्त होने पर ब्रह्मा, पृथ्वी, सब देवता, सब पितृ, सब मनुष्य तृप्त होते हैं। विष्णु के ही भोगने से ये भोगते, सूँघने से सूँघते और पान करने से पान करते हैं। अतएव विद्वान विष्णु का भक्षण किया हुआ प्रसाद ही पावे। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि भगवान कर्म-धर्मादि से प्रसन्न नहीं होते और उनके नाम के बराबर ये कर्मधर्मादि कोई भी नहीं हैं। यथा स्मृति में कहते हैं -

गो कोटि दानं ग्रहणेषु काशी, मकर प्रयागोयदि कल्प वासी।
यज्ञा युतं मेरुसुवर्ण दानं गोविन्द नामोन सयाति तुल्यम्।।

कोटि गो-दान, ग्रहण में काशी स्नान, मकर में प्रयाग का कल्पवास और दस हजार अश्व-मेध यज्ञ एवं स्वर्ण का सुमेरू दान भी करे तो भी गोविंद नाम के बराबर ये सब मिलकर भी नहीं हो पाते। अब ग्रन्थकार और भी उदाहरणों के द्वारा कर्मों की हेयता सिद्ध करते हैं -

तपमांडव्य धर्म नृग कीनो नाम जु द्विज गनिका घर लीनो।
नृप दिलीप अरु भूप परीक्षित, किये कौन कर्म व्रत तप के मत॥११॥
यह सुनि हमहि भरोसो आयौ, राधेश्याम नाम मन लायो।
एकादशी जु भोग लगावत, तातें सन्त कछुक दुख पावत॥१२॥

माण्डव्य ऋषि ने तप और राजा नृग ने दान रूप धर्म किया, परन्तु इन्होंने क्रमशः शूली और कृकलास (गिरगिट) का रूप पाया। परन्तु अजामिल ब्राह्मण और गणिका ने केवल नाम लिया सो इन्होंने उन (श्रीहरि) का धाम पाया। राजा दिलीप (खट्वाङ्ग) और राजा परीक्षित ने कौन से कर्म-व्रत और तपस्याएं की थीं; परन्तु वे भी भव से पार होकर नाम के प्रभाव से परम पद में गये। अतएव हमें भी बड़ा विश्वास आता है कि 'राधे श्याम' नाम ही श्रेष्ठ है इसीलिये हमने भी इसे ही अपने मन में दृढ़ता से पकड़ा है।

अब एकादशी पर विचार करते हुए कहते हैं कि जो नाम का आश्रय छोड़कर एकादशी के भक्त हैं - उससे मन लगाया है और एकादशी को फलाहारी भोग लगाते हैं; जबकि कुछ अन्य भक्त और संत इसके विपरीत एकादशी को भी अन्न का ही भोग लगाते और प्रसाद पाते हैं। इस तरह एकादशी न मानने से कुछ भक्त दुःखी होते हैं।

एक भक्त ने भगवान का स्मरण रहे आने के लिये बड़ी सुन्दर प्रार्थना की है कि हे प्रभो! मुझे आप अन्त समय भी कैसे याद आवेंगे उसके ही शब्दों में -

कृष्णत्वदीय पदपंकज पंजरांते ह्यद्यै वमेवसतु मानस राजहंसः।
प्राण प्रयाण समये कफवात पित्तैः कंठावरोधन विधौ स्मरणं कुतस्ते॥

हे श्रीकृष्ण! यदि आपके चरण-कमलों में कभी भूलता-भटकता मेरा मन-राजहंस आ जाय तो उसे वहीं बसाये रखना। क्योंकि जाने अन्त समय में कफ-

वात पित्त से कण्ठावरोध के कारण आपका नाम स्मरण न भी हो सके। सब समय भजन करने की महिमा स्वयं श्री भगवान अपने श्री मुख से कहते हैं -

आदि पुराणों में -

गीत्वा च मम नामानि ये कुर्वन्करतालिकाम्।
इदं ब्रवीमिते सत्यं क्रीतऽहं तस्य चार्जुन॥

अर्जुन! जो ताली बजा-बजाकर मेरे नामों का गान करता है, मैं उसका क्रीत दास हूँ। यह बात सत्य ही कहता हूँ। इसी प्रकार आनन्द लहरी में कहते हैं -

गीत्वा च मम नामानि रुदति मम संन्निधौ।
तस्याहंतु परिक्रीतोनान्य क्रीतोस्तुचार्जुन॥

अर्जुन! जो मेरे नामों को गाता हुआ मेरे सम्मुख या समीप रोता है; मैं उसी का क्रीत दास हूँ अन्य का नहीं। फिर गौतमी तंत्र में भी नारद ने कहा है -

तुलसी दल मात्रेण जलस्य चुलके न च।
विक्रीणी ते स्वमात्मा भक्तेभ्यो भक्त वत्सलः॥

भक्त वत्सल भगवान एक अंजलि जल और तुलसी के दान मात्र से अपने आपको भक्तों के हाथ में बेच देते हैं। अब आगे एकादशी-निर्णय का निरूपण ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं -

एक कहैं पहिली करौ भाई, पिछली मध्य पाप रह्यौ आई।
एक कहैं पाछिली जु रहहू, पहिली रहत अधिक अघ रहहू॥१३॥

कई भक्त कहते हैं एकादशी पहली ही श्रेष्ठ है अतः पहली एकादशी करनी चाहिये क्योंकि पिछली (द्वादशी संयुक्त) करने में पाप होता है। दूसरे कहते हैं नहीं, तो पिछली ही करनी चाहिये क्योंकि दशमी विद्धा पहली करने से बड़ा पाप होता

है। इसलिये पहली तो करनी ही नहीं चाहिये। अब देखिये कि पहली एकादशी का प्रमाण यों है -

प्रथमैकादशीं कुर्याद्यदि मोक्षमभीच्छुना।
त्रिदंड परतो वास्यात्सर्वदासुखदास्मृता।।

मोक्ष-कामी को चाहिये कि तीन घड़ियां दशमी के सहित भी एकादशी व्रत करे क्योंकि यह सर्वदा शुभदायक और सुखदायक है। इसी प्रकार शुक्ला एकादशी ही करे न कृष्ण पक्ष की करे न दशमी विद्धा ही। इसका भी प्रमाण मिलता है; यथा -

शुल्कां द्वादशिं कुर्यादेक दंड समन्विताम्।।

- शुक्ला हारीत।

एक दण्ड सहित शुक्ला एकादशी ही करनी चाहिये अन्य नहीं।

किन्तु भक्ति मार्ग की प्रशस्तता भागवत बताता है कि यह सब झंझटों से रहित है। यथा-

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्ये तकर्हिचित्।
धावन्निमील्य नेत्रे वा नस्खलेन्न पतेदिह।।

राजन! इस मार्ग में न तो प्रमाद करे, न अनास्था ही; किन्तु केवल आँख मूँद कर दौड़े। निर्भयता है क्योंकि इसमें; न तो फिसलने का डर है; न गिरने का।

रामानुजनि के मत न्यारे, तिनके भेद न जात विचारे।
हरिवासर गुन वेद बतावहिं, जो न सधहि तो पापहि लावहिं।।१४।।
तिरहुतिया कृष्णा न रहाँहीं, ते तौ पाप कहो कहाँ जाहीं।
दक्षिण चावर अन्न कहा वै, गेहूँ, चना, मूंग सब पावै।।१५।।

एकादशी के सम्बन्ध में रामानुज सम्प्रदाय वालों के तो मत न्यारे हैं। उनके भेद-प्रभेद तो विचारे ही नहीं जा सकते। वे हरि वासर (एकादशी) में भी गुण और

वेध बताते हैं। यदि ये गुण और वेध ठीक-ठीक न सध पावें तो उसका फिर पाप बताते हैं। तिरहुत के लोग कृष्णा एकादशी नहीं रहते। भला, बताओ तो उनके पाप कहाँ जावेंगे। दक्षिणी लोग केवल चाँवल को ही अन्न मानते हैं और एकादशी के दिन भी गेहूँ, चना, मूंग सभी कुछ खाते हैं। यह सब क्या है?

अब आगे ग्रन्थकार एकादशी का खण्डन करते हुए निष्केवला भक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं और उसके प्रमाण में श्रीमदभागवत का प्रमाण रखते हैं। वे कहते हैं -

सब कौ धर्म करै सब कोई, भक्ति करत कछु बाध न होई।
श्रुति मथि व्यास भागवत कीयौ, विष्णु पुरी ताकौ सत लीयौ॥१६॥
नवधा भक्ति तहाँ जु बताई, तामहि एकादशी न आई।
व्रत तप आदि निषेध सुनाये, श्रीधर ताके अर्थ बताये॥१७॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि के जो न्यारे-न्यारे धर्म हैं; यदि सभी लोग एक दूसरे के धर्मो का पालन करने लगें तो यह सर्वथा अनुचित होगा - यह तो हुई वर्णाश्रम व्यवस्था की बात! अब भारी पक्ष की दृष्टि से विचार करें तो सब जांति-पांति का भेद-प्रभेद भूलकर सब जन एक मात्र भक्ति का आसरा लेवें और भक्ति करें तो कोई भी बाधा न आवेगी। श्री भगवान वेद व्यास ने वेदों का मंथन करके श्री मद्भागवतशास्त्र की रचना की है। उसका भी सार स्वामी विष्णुपुरी जी ने अपनी कृष्णामृत लीला में लिया है। उन्होंने भागवत का सार केवल नवधा भक्ति को ही बताया है। वहाँ उन्होंने भी एकादशी का नाम तक न लिया। भक्ति में व्रत-तप आदि का निषेध किया है। श्रीधर स्वामी ने इन कर्मों का अर्थ स्पष्ट कर दिखाया है कि भक्ति अन्याश्रय से सर्वथा रहित पूर्ण स्वतंत्र है। इस स्वतंत्र भक्ति का भी सार क्या है; उसे कहते हैं -

श्री हरिवंश प्रगट कर दीनों, रसिक जननि निशंक ह्वै लीनों।
जगन्नाथ आदि दै अस्थाना, दिन प्रति लागत भोग समाना॥१८॥
सो प्रसाद कोउ देत न डारि, सीथ-सीथ करि पावत झारि।
भक्त पुरातन जौ कहौ भाई, नामदेव यह गाइ सुनाई॥१९॥
रह्यो कलंक राम कहें काके, सुर नर तरे प्रेम गहें ताके।
कीट भृंग ज्यों राम ह्वै जाई, कत तीरथ एकादशी कराई॥२०॥

श्रीमद्भागवत में वर्णित भक्ति के सार रूप में रस को श्री हित हरिवंश चन्द्र महा प्रभु ने प्रकट किया जिसका रसिक जनों ने निःशंक होकर पान किया।

जगन्नाथ आदि स्थानों में भी जो नित्य प्रति भोग लगता रहता है उस प्रसाद को कोई नहीं फेंकता; झाड़ कर सीथ-सीथ करके पा जाते हैं। एकादशी अथवा व्रत आदि का भी कोई विचार नहीं है। अब यदि पुरातन भक्तों की परिपाटी देखी जाय; तो उस पर विचार करते हैं कि प्राचीन भक्तों में से नामदेव ने यह गा सुनाया है कि राम कहने पर किसके साथ कलंक रहा। देवता, मनुष्य और मुनि सभी एक प्रेम से पार हो गये। अर्थात् उस पर प्रभु से प्रेम करके ही तरे। भजन करने और प्रेम करने से कीट-भृंग को गति प्राप्त हो जाती है तब तीर्थ और एकादशी मनुष्य क्यों करता फिरता है।

नामदेव यह गाइ सुनाई - नामदेव जी का यह पद एकादशी की निरर्थकता और प्रेम की प्रधानता सिद्ध करता है -

कोन कलंक रह्यो राम कहेला।
सुरनर मुनि सब तरे प्रेम गहेला॥
वानी बोलै नामा कौनें न मुक्ति पाईला।
कीट भ्रंग हेत ऐसे रमै ह्वै जाईला
भली करी नाम छीपा सुक्रत सुमति पाईला।
एकादशीव्रत करें काहे तौ तीर्थ जाईला॥

अब ग्रन्थकार और भी प्रमाण देते हुए कहते हैं -

पाछे कही कबीर जु गाई, 'राजाराम जपो रे भाई'।
तौ लगि मैं व्रत संजम कीन्हे, संत संग हरि चरन न चीन्हे।।२१।।
ध्यान नाम-हरि भोग लगावै, कोटि किये व्रत सीथ जु पावै।
पीपा के पश्चिम जन जेते, महाप्रसादहि पावत तेते।।२२।।

इसी प्रकार कबीरदासजी ने भी यही गाया है "राजा राम जपो रे भाई! राजा राम का जप करो उसके सामने अन्य सब तुच्छ हैं। मैंने तभी तक व्रत संयमादि किये; जब तक राजा राम को पहचाना नहीं। फिर जब संतों के सत्संग में जाकर श्री हरि के चरणों का परिचय पा लिया तब सब वखेड़ा मिट गया।"

और ध्यान में अथवा हरि नाम लेकर जो भोग लगाते हैं वे भी कोटि-कोटि व्रतों का फल प्रसाद का सीथ मात्र पाने पर प्राप्त करते हैं। भक्त पीपाजी के अनुयायी, जितने भी भक्त हैं, वे सभी वैष्णव होते हुए भी, एकादशी न करके केवल प्रसाद ही पाते हैं।

भक्त कबीरदासजी का इस प्रसंग में यह पद प्रसिद्ध है -

राजा राम जपो रे भाई।
जाकी चौदह लोक दुहाई।।
मांगी मुक्ति भुक्ति पुनि मांगी चीन्हें नहिं रघुराया।
जब चीन्हे तब दये न लीन्हे साधन करै बलाया।।
हरि नामहि मन मान जान जो ध्यानहि भोग लगाया।
कोटि-कोटि तीरथ एकादशि एक सीथ जब खाया।।
कहत कबीर सकल साधन सों जनम-जनम करि आया।
अब हौं संत संग रति मागौं जिन हरि सुयश सुनाया।।

सब दिनों में प्रसाद की ही महिमा है। इस पर प्रमाण देते हैं कि एकादशी को भी प्रसाद पाना चाहिये कोई दोष नहीं है। पद्म-पुराण में कहा गया है -

पादोदकं पिवेन्नित्यं नैवेद्य भक्षये द्दिने।
शिक्थे-शिक्थे भवेत्पुण्यं चान्द्रायण शताधिकं॥

नित्य ही भगवान का पादोदक ले और नित्य प्रति प्रसाद भक्षण करे। इसके शीथ-शीथ पर पुण्य होता है और सैंकड़ों चान्द्रायण व्रतों का फल प्राप्त होता है। विष्णु धर्म में कहते हैं -

प्रसादान्नं सदा ग्राह्यमेकादश्यांच नारद।
रमादि सर्व देवानां मनुष्यानांतु काकथा॥

हे नारद! एकादशी में भी प्रसादान्न ग्रहण करना चाहिये क्योंकि इसे लक्ष्मी आदि श्रेष्ठ भक्त ग्रहण करते हैं फिर मनुष्यों की तो क्या बात है? फिर आगे वृहन्नारदीय पुराण में एकादशी व्रत पर कहते हैं -

एकादशी कृता तेन हरिरित्यक्षरं स्मृतम्।
प्रायश्चित्तं कृतं तेन महापातक नाशनम्॥

एकादशी न करने से जो पाप होता है वह 'हरि' इन दो अक्षरों के उच्चारण से नष्ट हो जाता है। एकादशी व्रत न करने वाले भक्त ने महापातकों के नाश करनेवाले मानों सभी प्रायश्चित कर लिये। कर्णानन्द काव्य में भी इस प्रकार कहा है -

यद्भक्तशेषादुपवास वृद्धिः यत्पादतोयाद्बहु तीर्थ लाभः।
यत्कीर्तनात्सर्व शुभार्थ सिद्धिस्तंकृष्ण चंद्रं प्रणमामि नित्यम्।

मैं उन श्रीकृष्ण चन्द्र के चरणों में नित्य निरन्तर प्रणाम करता हूँ जिनके उच्छिष्ठ प्रसाद को पाने से सारे उपवासें का, चरणोदक से समस्त तीर्थों का और जिनके नामों का कीर्तन करने से समस्त पुण्यों का फल एक साथ ही प्राप्त हो जाता है।

गरुड़ पुराण में भी यह प्रसंग दृष्टव्य है -

मुकुं दाशनशेषं तु योहि भुंक्ते दिने-दिने।
सिद्धं क्षेमं लभेत्पुण्यं नित्यमेकादशी भवम्॥

जो श्री मुकुन्द भगवान का प्रसादान्न पाता है, वह सिद्धि, क्षेम और नित्य एकादशी व्रत का पुण्य प्राप्त करता है।

अनेक शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत कर अपने उपासना-मत का प्रकाशन करते हुए अब स्वामी जी कहते हैं -

हमको सन्त दोष कत लावहिं, इहि मत महाप्रसादहि पावहिं।
सब दिन आदर सों हम लीनों, ता दिन जाय न औरहिं दीनों॥२३॥
एक कहैं यह सरगुन गावहिं, सम्प्रदाय मिलि मरम न पावहिं।
रामानुज 'लक्ष्मीनारायण', तिनकी सेवा सदा परायण॥२४॥

स्वामी जी कहते हैं कि जब अन्यान्य वैष्णव संतजन भी एकादशी के सम्बन्ध में ऐसा कहते हैं; तो फिर संत लोग हमें ही एकादशी न करने का अपराधी क्यों मानते है? हम भी तो इसी अनन्य प्रसाद-निष्ठा से प्रसाद पाते हैं। जबकि हमने एकादशी के सिवाय सभी दिनों में प्रसाद को आदर-पूर्वक लिया है; तो फिर उसी दिन क्यों किसी को दें? इसीलिये किसी को नहीं देकर उस दिन भी प्रसाद को आदर के साथ ग्रहण करते हैं।

इस प्रकार एकादशी न करने का समर्थन करके अब भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की उपासना और इष्ट तत्व पर विचार करते हुए कहते हैं कि कोई तो कहते हैं कि हम अर्थात् ये भक्त लोग तो सगुण ब्रह्म का गान करते हैं। हमारे सम्प्रदाय के बिना मर्म को कैसे पावेंगे? अर्थात् भक्ति मार्ग के चार सम्प्रदाएँ हैं। उनकी उपासना से हमारी उपासना सर्वथा भिन्न है। उनमें से रामानुज सम्प्रदाय वाले श्रीलक्ष्मी नारायण की

उपासना करते और सदा उनकी सेवा के ही परायण रहते हैं।

विद्वान और अनन्य भक्त ग्रन्थकार अब प्रत्येक सम्प्रदाय की उपासना पर विचार करते हैं -

पहिलें श्री की सेवा करहीं, हरद प्रसाद तिलक में धरहीं।
सीताराम उपासक यों हीं, रूक्मिणी कृष्ण भक्त यजे त्योंहीं ॥२५॥
'राधाकृष्णहि' सेवत तैसे, आचार जनि भजन कह्यो जैसें।
द्राविड़ भक्ति प्रगट भई भाई, एकादश भागवत बताई॥२६॥

श्री रामानुज सम्प्रदाय वाले वैष्णव-गण भी पहले श्री (लक्ष्मी) जी की सेवा करते हैं और अपने तिलक, हलदी (रोली) का प्रसाद मध्य में धारण करते हैं। और सीताराम ज़ी के उपासक लोग भी इसी प्रकार सीताजी की प्रधानता रखते हैं। रुक्मिणी-कृष्ण के उपासक भी इसी तौर पहले रुक्मिणी जी की सेवा करते और उनकी प्रधानता मानते हैं। तब हम भी यदि अपने आचार्य्यों के वचनानुसार श्रीराधाकृष्ण का सेवन करते हैं तो क्या आपत्ति है। इसलिये हम भी श्री जी की प्रधानता से अपने इष्ट का सेवन करते हैं।

यह भक्ति पहले द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई उसीका निरूपण श्रीमद्भागवत (एकादश स्कन्ध) में किया गया है। भक्ति की उत्पत्ति का वर्णन भागवत माहात्म्य में इस प्रकार कहा गया है -

उत्पन्ना द्राविड़ेसाहं वृद्धि कर्णाटकेगता।
क्वचित्क्वचिमहाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतांगता॥
वृंदावनं पुनः प्रायः नवीनेव स्वरूपिणी॥

- स्कन्द पुराण।

भक्ति ने कहा - नारद! मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में वृद्धि को प्राप्त हुई तथा कुछ-कुछ महाराष्ट्र प्रांत में भी मेंरा प्रचार हुआ किन्तु गुर्जर (गुजरात)

प्रांत में मैं बूढ़ी हो गई। पर फिर भी इस वृन्दावन को पाकर नवीन तरुणी हो गई। अब ग्रन्थकार कहते हैं -

जो पहिले भागौत न मानें, सो ऐसो जु भजन नहिं जानें।
पहिले शुक मुनि जैसी गाई, पञ्चध्याई देखेहु जाई ॥२७॥
श्री जयदेव सु सबनि सुनाई, कबीर नामदेव मिश्रित गाई।
कछुक सरस रैदास सुनाई, श्री हरिवंश सु प्रगट बताई ॥२८॥

सर्वप्रथम जो श्रीमद्भागवत को नहीं मानता वह ऐसा प्रेममय भजन नहीं जान सकता। श्रीमद्भागवत में जैसे पहले श्री शुकदेवजी ने रास-पंचाध्यायी में प्रेमा भक्ति का वर्णन किया है उसे देखना चाहिये। उसी को जयदेव ने अपने ढंग से रचना करके सबके लिये सुलभ कर दिखाया। किन्तु कबीरदास और नामदेव ने भक्ति को कुछ-कुछ ज्ञान-ऐश्वर्य मिश्रित गाया है। इन दोनों की अपेक्षा कुछ सरस रैदास भक्त ने गाया है। किन्तु श्री हित हरिवंश महाप्रभु ने उसे विशुद्ध रूप में प्रकट किया। रास पंचाध्यायी में विशुद्ध श्रृंगार रस गाया गया है वह प्रेम लक्षणा का एक अंग है-

बाहुप्रसारपरिरंभकरालकोरु -
नीबीस्तनालभननर्मनखाग्र पातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैः ब्रजसुन्दरीणा-
मुत्तंभयन् रतिपतिं रमयांचकारः ॥

यमुना-पुलिन पर ब्रज-सुन्दरियों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण अनेक प्रकार विहार करने लगे। कभी उनके ऊपर अपनी भुजाएं फैला देते, कभी उनका आलिंगन करते, कभी उनके हाथ अलकावली नीवी, स्तन; बाहु और कपोल आदि का स्पर्श करते - नखाग्र-पात करते, कभी तिरछे कटाक्षों से उनकी ओर देखकर मन्द-मन्द मुस्करा जाते। इस तरह वे उनके मन में काम-प्रेम का जागरण करने लगे।

इसी प्रसंग में दृष्टव्य है कि इन्हीं ब्रज-सुन्दरियों ने उनकी भली प्रकार से आराधना की। जैसा कि कहा है-

अनयाराधितो नूनं भगवान्हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविंदः प्रीतोयामनयद्रहः॥

- श्री मद्भागवत

"इस" गोपी ने ही भगवान् हरि की भली तरह से उपासना की है। तभी तो वे गोविन्द हमें छोड़कर केवल 'उस एक गोपी' को ही लेकर एकान्त में चले गये। यहां तक कि इन गोपियों के प्रेम-वश भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने आपको इनका ऋणी होना स्वीकार किया। यथा -

न पारयेहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विवुधायु षा पिवा।
यामा भजन्दुर्जरगेह श्रृंखलां
संवृच्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

- श्रीमद्भागवत

इस कथा प्रसंग में जहां श्री राधा को संकेत करके 'एक गोपी' कहा गया है, उन गोपियों से भगवान श्रीकृष्ण ने कहा - गोपियो! तुमने (यहां एकान्त में आकर) जो मुझ पर उपकार किया उस प्रेम का बदला मैं देवताओं के समान दीर्घायु पाकर भी कई कल्पों तक नहीं चुका सकता। तुम्हारे इस साधु कृत्य का मैं चिर-ऋणी हूँ। तुमने मेरे लिये अपने लोक और वेद की सुदृढ़ श्रृंखला का बन्धन तोड़ दिया है इसलिये मैं तुम्हारा ही हूँ, मुझ पर दया करो।

ज्ञान के ध्यान और भक्ति के भाव के दो रूप ज्ञान-प्रधान वाणीकार संत कबीरदास जी ने गाये हैं। उन्होंने ज्ञान और ऐश्वर्य मिश्रित 'भक्ति' - प्रेमा-भक्ति

भी गाई है। कबीरदास ने कहा है -

कहा कहों मुख की जुलुनाई, देखत नैन रहे अरुझाई॥

कबीर धारा निगम की सतगुरू दई बताय।

उलट ताह सुमरन करो स्वामी संग मिलाय॥

जिहि घट प्रेम न संचरै सो घट जान मसान।

जिमि लुहार की धोंकनी स्वांस लेत बिन प्रान॥

भक्त नामदेव ने भी कहा है -

देहु देवा चतुर कन्हैया देहु हमारी सारी लौ।

जाई विरह दुख होहि परम सुख रति परमानन्द संग लौ॥

इससे भी सरस मधुर-रस मिश्रित भक्त रैदास ने गाया है। यथा-

कंवन भवन पर धन रस लंपट कहां तैने रैन गमाई हो।

अब श्री हिताचार्य महाप्रभु ने जो गाया; उसका वर्णन करते हैं -

ब्रह्मेश्वरादिसुदुरूहपादारविंद,

श्रीमत्परागपरमाद्भू तवैभवायाः।

सर्वार्थसाररसवर्षिकृपार्द्रदृष्टे

स्तस्या नमोस्तु वृषभानुभुवो महिम्ने॥१॥

यो ब्रह्मरुद्रशुकनारदभीष्म मुख्यै

रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य।

सद्यो वशीकरणचूर्णमनंतशक्तिं

तं राधिका चरण रेणु मनुस्मरामि॥२॥

यत्किंकरीषु बहुशः खलु काकुवाणी

नित्यं परस्य पुरुषस्य शिखण्ड मौलेः।

तस्याः कदारस निधेर्वृषभानुजाया
स्तत्केलिकुंज भवनांगण मार्जनीस्याम्॥३॥
दूरेष्ट्यादिवार्ता न कलपति
मनाङ्नारदा दीन्स्वभक्तांम्।
छ्रीदामाद्यैः सुहृद्भिर्न मिलति,
हरित स्नेहवृद्धिं स्वपित्रोः।
किंतु प्रैमैकसीमां मधुर रस
सुधासिंधु सारैर गाधां।
श्रीराधामेव जानन्म मधुपतिर,
निशं कुंज वीथीमुपास्ते॥४॥

- श्रीराधा सुधानिधि

जिनके चरण कमलों से निरन्तर परमाभ्दुत वैभव रस बहता रहता तथा जो ब्रह्मा आदि के लिए भी दुर्लभ है। ऐसी कृपा-रस आर्द्र वृष्टि करनेवाली श्री वृषभानु-नन्दिनी की हम वन्दना करते हैं॥१॥

जो परम-पुरुष श्रीकृष्ण, ब्रह्मा, शंकर, शुक, नारद और भीष्म आदि को भी सहसा लक्षित नहीं होते उन श्रीकृष्ण को भी शीघ्र वशीकरण करनेवाले चूर्ण श्री राधिका चरण-रेणु की हम वन्दना करते हैं॥२॥

शिखण्ड-मौलि श्रीकृष्ण जिनकी दासियों से सदा चाटुकारी की वाणी बोलते रहते हैं। उन निकुन्जेश्वरी श्री वृषभानुनन्दिनी जो रस की निधि है; क्या मैं उनके भवनाङ्गण में झाड़ू देनेवाली दासी होऊँगी? ॥३॥

भगवान् श्रीकृष्ण के लिये एकान्त रस इस प्रकार है कि सृष्टि की कथा दूर कर दी जावे, नारद आदि भक्तों की बात थोड़ी भी उन्हें नहीं रुचती। श्रीदामा आदि सखाओं से भी मिलने - खेलने की अभिरुचि नहीं रही और तौ और, अब मैया

यशोदा और बाबा की भी सुधि नहीं आती। किन्तु एक ही बात रुचती है कि प्रेम सीमा, मधुर रस सुधा की अगाध सिंधु रूपा श्रीराधा को ही वे जानते हैं और उनकी कुंज-वीथी की ही उपासना-सेवा उनके लिये प्रिय है'' ॥४॥

निर्गुण और सगुण की व्याख्या करते हुए विद्वान ग्रन्थकार प्रमाण देते हैं कि निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण की एक नखच्छटा है -

अहं किलांशांशभवः सदैव नारायणसृष्टि विनोदलीलः।
नचित्रमन्यत्करणे विधातर्दीपाद्यथैकाद्बहवो भवंति।
नखेंदु किरण श्रेणी पूर्ण ब्रह्मैक कारणम्,
केचिंद्वदंति तद्रश्मि ब्रह्म चिद्रूप मव्ययम् ॥

- विष्णु पुराण

भगवान् नारायण कहते हैं कि मैं गोलोकवासी भगवान श्रीकृष्ण का अंशांश ही हूँ। केवल सृष्टी विनोद लीला के लिये मेरा प्राकट्य है। इसमें आश्चर्य नहीं। उनसे अनेक नारायण उत्पन्न हो सकते हैं, जैसे एक दीप से अनेक दीप उत्पन्न हो सकते हैं।

उन श्रीकृष्ण की नखेन्दु छटा पूर्ण-ब्रह्म का कारण है। कोई-कोई कहते हैं कि उस नख की एक रश्मि ही चिद्रूप अव्यय ब्रह्म है।

निरालम्ब मन महि नहि आवै, वचन अगोचर कहि क्यों पावै।
लीला रस जु भक्त हित कीन्हों, उन कन तजि छोंकल मन दीन्हो ॥
गुन बिनु धनुष काम नहिं आवै, ऐसे निरगुन गुन बिन गावै।
देहि मंत्र गुरु ध्यान बतावै, सोई इष्ट ताहि मन लावै ॥३०॥

अब ग्रन्थकार निर्गुण-सगुण और प्रेम-लक्षणा उपासना का निरूपण करते हुए कहते हैं-

निर्गुण का ग्रहण होना कठिन है। उसका ध्यान करने में मन बिना अवलम्ब के इधर-उधर घूमता है। यह निर्गुण मन वाणी से अगोचर है; इससे मन में आता ही नहीं। उसी परिपूर्णतम ब्रह्म ने भक्ति के लिए लीला रस का विस्तार किया है और निर्गुण-वादियों के लिये कण (सार चावल) का छोकल (छिलका) दे दिया है। वे लोग गुणों का खण्डन करते हैं पर बिना गुण (डोरी) के धनुष काम नहीं आता। इसी तरह निर्गुण बिना गुणों के गाया - कहा जाता है जो किसी काम का नहीं है। इसलिये भक्त के लिये सीधा रास्ता यही है कि श्री गुरुदेव जो मंत्र दें और जो कुछ ध्यान बतावें; वही उसका इष्ट-देव है। वह उसी में अपना मन लगावे।

ब्रह्माजी ने केवल ज्ञान के लिये इच्छा करनेवालों को तुच्छ बताते हुए कहा है-

श्रेयः स्त्रुतिं भक्तिमुदस्यते प्रभो
ल्किश्यंतिये केवल बोधलब्धये।
तेषा मसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथास्थूल तुषाव घातिनाम्।।

- श्री मद्भागवत

प्रभो! जो आपकी श्रेय दान करने वाली भक्ति को छोड़कर केवल ज्ञान के लिये श्रम करते हैं उनके हाथ में कुछ नहीं आता। उनका श्रम तो तुष के कूटने के समान व्यर्थ है। अब जो लोग कहते हैं कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, उनके लिये कहते हैं -

नायं सुखायो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानीनां चात्मभूतानां यथा भक्ति मतामिह।।

- श्रीमद्भागवत

गोपिका नन्दन श्रीकृष्ण ने जो सुख गोप-गोपी आदि देहधारियों को दिया वह आत्म-भूत ज्ञानियों को कभी भी प्राप्त न हुआ, क्योंकि भगवान् तो भक्ति से प्रसन्न होते हैं।

'लीला रस भक्त हित-कीन्हों' श्रीमद् भागवत के प्रमाण से सिद्ध करते हुए कहते हैं-

गोकुले मथुरायांच द्वारवत्यां ततः क्रमात्।
कृष्ण लीला त्रिधा प्रोक्ता स्तत्तेद्भेदैस्त्वनेकधाः॥
मुख बाहू उरु पादेभ्य पुरुषस्याश्रभै सह।
चत्वारो जज्ञिरेवर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्॥
एषां पुरुष साक्षादात्म प्रभवमीश्वरम्।
न भजंत्यव जानंति स्थाना द्भ्रष्टाः पतंत्यधः॥

प्रत्येक भक्त के लिये भक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की है और उनके लिये भगवान की लीलाएं भी अनेक प्रकार की हैं। भगवान श्रीकृष्ण की लीलाएं ही तीन प्रकार की है - यथा द्वारका, मथुरा और ब्रज (गोकुल)। इनके अनुसार उपासना भी तीन प्रकार की है नित्य, इच्छा और विजय स्वरूप। इनमें भी एक-एक के अनेक भेद हैं। जैसे श्री हरि के मुख, बाहु, उरु और चरण से चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं और इसी प्रकार सिर, वक्षस्थल, हृदय और जंघा से चार आश्रम उत्पन्न हुए हैं। अतएव जो अपने-अपने अधिकारानुसार उन प्रभु का भजन नहीं करता वह अपने स्थान से भ्रष्ट होता है। अतएव भजन ही करे। अब ग्रन्थकार अपनी इष्ट अनन्यता का उपदेश करते हैं -

विल्व मंगल तुलसी जु बताई, उन जु धनुष उन मुरली धराई।
भक्त भेद अवतारहि लावै, आन देव की कौन चलावै॥३१॥
श्रीमुख कह्यौ पंथ सो परसै, मम जन आन देव नहि दरसै।
एकादश भागौत बतावै, जन सामान्य मुक्ति कौ धावै॥३२॥

भक्त विल्व मंगलाचार्य और गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि श्री कृष्णोपासक बिल्व मंगल ने राम के हाथ में मुरली और गोस्वामी तुलसीदास

जी ने श्रीकृष्ण के ही हाथ में धनुष रखा दिया था; तब प्रेम से सिर झुकाया था। इस तरह अवतार दृष्टि से भक्त लोग भी एक ही भगवान के अनेक भेद करके उपासना में अनन्य रहते हैं। तब फिर वहाँ अन्य देवताओं की समाई कैसे हो सकती है?

श्री भगवान ने अपने श्रीमुख से जो भक्ति का मार्ग बताया है उसीका स्पर्श करे - उसी में चले और स्वप्न में भी अन्य देवताओं का स्पर्श न करे। यह रहस्य श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्ध में बताया गया है कि एक अनन्य भक्ति ही करे; किन्तु सामान्य जन इस लक्ष्य को न समझ कर उसका अर्थ मुक्ति ही लगाते और उसी ओर दौड़ते हैं।

मम जन आन देव नहिं दरसै - यथा, महाभारत में बतलाया है -

नान्य देवं नमस्कुर्यान्नान्यदेवं निरीक्षयेत्।
चक्रेण रक्षितो नित्यं भद्भक्तः पांडुनन्दन॥

पाण्डु नन्दन! मेरा भक्त मेरे चक्र द्वारा रक्षित रहता है इससे निर्भय रहता है। अतएव वह मेरे सिवाय अन्य किसी देवता को न तो नमस्कार करता है और न उनका दर्शन ही।

पाण्डव गीता में अम्बरीष के प्रति नारद वाक्य दृष्टव्य है -

अवैष्णवानां संलापं वंदनादि विवर्जयेत्।
ना चान्यं देवतानां च पूजनंवंदनं तथा॥

अवैष्णव एवं अन्य देवी-देवताओं का पूजन वन्दन और संलाप भी वैष्णव के लिये वर्ज्य है। क़ात्यायनि संहिता में भी कहा है -

वरं हुतवहज्वाला पंजरांतर्व्यवस्थितिः।
न शल्य युक्त भक्तानां जनसंवासवैशषम्॥

जलती हुई अग्नि-ज्वाला में बैठकर जल मरना श्रेष्ठ है किन्तु बहु-देव सेवी

लोगों का संग भक्तों के लिये उचित नहीं है। इसी प्रकार पद्म पुराण में देखें -

येत्वयैव समुत्पन्नस्त्वां भजति न माधवः।
पितरं स्वं न जानति नाथ वेश्या सुतारिव॥

आपसे ही उत्पन्न शरीर धारी जो मनुष्य आपको नहीं जानते वे तो ऐसे ही हैं जैसे वेश्या का पुत्र अपने बाप को नहीं जानता। ग्रन्थकार अब घोर रूप भूत-प्रेतों का त्याग करके शांत रूप श्रीकृष्ण का भजन करने का उपदेश करते हैं।

घोर स्वरूप भूत-पति तजई, सान्त-कला कृष्ण की भजई।
घोर रूप भूत पितर कहावत, अल्प देहिं श्रम बहुत करावत॥३३॥
सार रूप वेदनि त्यौं गायौ, कौडिन्य 'ईशावास्य' बतायौ।
अन्धहि तम-प्रवेश सो परई, जो सम्भूत उपासन करई॥३४॥

भक्त या प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि घोर रूप भूत और प्रेतों को छोड़कर शांत रूप श्रीकृष्ण का भजन करे। घोर रूप प्रेत और पितृों का कहलाता है। ये लोग श्रम (उपासना) तो बहुत करा लेते हैं पर फल बहुत ही थोड़ा देते हैं। श्री भगवान का सार रूप वेदों ने गाया है। उपनिषद के ईशावास्य काण्ड में कौण्डिन्य ने उसका वर्णन किया है। जो व्यक्ति भूतों की उपासना करेगा वह अवश्य घोर अन्धतम में पड़ेगा।

'कौण्डिन्य 'ईशावास्य' बतायो' का आशय समझाते हुए ग्रन्थकार यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं -

अंधंतमः प्रविशंति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय एवते तमोयेऽविद्या ऊँरताः।
ततो सूर्य इक्ते तमोयछँसंभूताछँरता।
अंधंतमः प्रविशंतियेऽविद्यामुपासतइतिश्रुतेः॥

- ईशावास्योपनिषद्

जो असंभूति की उपासना करते हैं वे अंधतम में प्रवेश करते हैं। फिर वे अविद्या रस पुनः वहीं जाते रहते हैं। फिर वही तमोमयी रति से सूर्य लोक में जाते हैं। और जो इस तरह अविद्या की उपासना करते हैं वे अंध तमोमय में जाते हैं। अब और भी उक्त विषय को पुष्ट करते हुए कहते हैं -

ताते हरि तजि आनन मानै, प्रन प्रहलाद कबीर ज्यों ठानै।
वह गिरि तें वह गजतर डारयौ, तजि हरिनाम न आन उचार्‌यौ।।३५।।
एकनि ये अपराध लगाये, इन तो सालिगराम विहाये।
ताकौ भेद वेद यौं गावै, सेवत अति जु मुक्ति फल पावै।।३६।।

इसलिये सबको उचित है कि श्री हरि को छोड़कर अन्य किसी को न माने - न पूजे तथा प्रह्लादऔर भक्त कबीरदास की तरह प्रतिज्ञा करले कि मैं श्री हरि को छोड़कर अन्य किसी को नहीं भजूँगा। प्रह्लाद को पहाड़ से गिराया और कबीर को हाथी के पैर तले डलवा दिया गया; फिर भी उन्होंने श्री हरि का नाम छोड़कर अन्य कुछ कहा ही नहीं।

जिन्होंने अनन्यता-व्रत के लिये शालग्रामशिला का भी पूजन त्याग दिया है; उन्हें भी लोग यह दोष लगाते हैं कि इन्होंने तो शालग्राम की (वैष्णवी सेवा) को भी त्याग दिया है। किन्तु उन्हें पता ही नहीं कि वेद उसका क्या भेद बताते हैं? यही कि शालग्राम का सेवन करने वाला केवल मुक्ति पाता है।

'प्रन प्रहलाद कबीर ज्यों ठानै' - यथा, प्रह्लाद-संहिता में -

दंता गजानां कुलिशाग्र निष्ठुराशीर्णायदेतेनवलं ममेतत्।
महद्विपत्काल विनाश नोयं गोविन्दनामस्मरणानुभाव।।

प्रह्लाद जी ने कहा - दैत्य पते! जिनके बल से ये वज्र के समान कठोर हाथी के दाँत भी टूट गये; मेरा कुछ न बिगाड़ सके। मेरे विपत्ति-काल का रक्षक वही

गोविंद नाम है। मुझे उन्हीं का बल है।

अपने बारे में भक्त कबीर दास ने स्वयं कहा है -

बाँधि कबीर हाथी तर डार्‌यो मनहि न कीनी शंका।
बादशाह हौं तिसका बंदा जिन गढ़ तोरो लंका॥

पद्म पुराण में शालग्राम की पूजा के सम्बन्ध में कहा है कि ''मनुष्य को शालग्राम शिला के पूजन करने मात्र से बिना तीर्थ-सेवन, बिना दान, बिना यज्ञ और बिना शास्त्र श्रवण के भी मुक्ति मिल जाती है। इसी प्रकार कूर्म पुराण में कहते हैं -

शालिग्राम शिला पूजां करोतिश्रद्धयान्वितः।
सर्व धर्म मवाप्नोति कैवल्यं पद मृच्छति॥

जो मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक शालग्राम शिला का पूजन करता है वह कैवल्य-पद और सर्व-धर्मों को प्राप्त कर लेता है। पारस-मणि के स्पर्श से आठों धातुएं स्वर्ण हो जाती है इसी प्रकार शालग्राम शिला के सेवन से निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है। अब ग्रन्थकार उक्त विषय का खण्डन करते हुए अपने विषय का समर्थन करते हैं -

वृन्दावन जु उपासन जिनके, राधाकृष्ण इष्ट अति तिनके।
श्री मूरति सेवा मन मान्यो, मुक्ति महासुख लघु करि जान्यो॥३७॥
यातें सालिगराम न यजहीं, श्री मूरति जु भक्ति हित भजहीं।
कृष्ण स्वरूप दोऊ सम भाई, जाकी रुचि जहाँ तहाँ बिकाई॥३८॥

जिन भक्तों की वृन्दावन की उपासना है उनके इष्टदेव श्री राधाकृष्ण अतिशयता पूर्वक हैं। उन्होंने श्री जी (राधिका जी) की मूर्ति-सेवा ही स्वीकार की है। उनका मन उन्हीं से मान गया है। उनके लिये मुक्ति का सुख अत्यन्त अल्प हो गया है; इसीसे उन्होंने शालग्राम का यजन त्याग दिया है और प्रेमाभक्ति के साथ श्री जी

की मूर्ति-सेवा का यजन करते हैं- उन्हीं का भजन करते हैं। श्री शालग्राम और श्रीकृष्ण दोनों एक ही स्वरूप हैं जिसकी रुचि और प्रीति जिसमें हुई वह वहीं बिक गया - उन्हीं का दास हो गया है।

'वृन्दावन जु उपासन जिनके' इस सन्दर्भ में वृन्दावन महिमा को पद्म पुराण के दृष्टांत से सिद्ध करते हैं-

वनं वृदावनं धन्यः भक्तिर्नृत्यति यत्र च।

यह वृन्दावन ही धन्य हैं जहाँ नित्य भक्ति क्रीड़ा करती रहती है। यादवेन्द्र कवि ने कहा है -

रसं प्रसंशं तुरसे प्रविष्टा ब्रह्मामृतं वेद शिरं निविष्टाः।
वयंतु गुंजा कलितावतं सं ग्रहीत वंशं समुपाश्रयाम॥

जिनका रस में प्रवेश है वे काव्यादि के रसों की प्रशंसा करते हैं और जिनका वेद के शिरोभाग वेदान्त में प्रवेश है वे ब्रह्म की प्रशंसा करते हैं; किन्तु हम तो गुंजा और कमल-पुष्पों की कलित माला धारण करनेवाले किसी वंशीधारी की उपासना करते हैं। रत्न कवि ने कहा है -

ध्यानातीतं किमपि परमं येतु जानं ति तत्वं,
तेषांमास्तां हृदय कुहरेशुद्धचिन्मात्र आत्मा।
अस्माकं तु प्रकृति मधुरः स्मेरवक्त्रारविदो,
मेघश्यामो कनक परिधिः पंकजाक्षोयमा।
तथा-जातुं प्रार्थयतेन पार्थिव पदं नेन्द्रे पदंमोदते,
संधते न च योग सिद्धिषुधियं मोक्षं चनोकांक्षिति।
कालिंदी वन सीमनिस्थिर तडिन्मेघद्युतौ,
केवलं शुद्धेब्रह्मणि वल्लवी भुजलतावद्धो सदा धावति॥

जो लोग किसी ध्यानातीत तत्त्व को जानते हैं उन्होंने किसी शुद्ध चिन्मात्र आत्मा को ही अपने हृदय-कुहर में धारण किया है; किन्तु हमने प्रकृति मधुर मन्द मुस्कान युक्त मुख-कमल वाले किसी मेघ के समान वर्णवाले का आश्रय लिया है जिसके कटि पर कनक के समान पीतवस्त्र लिपटा है और जिसकी आँखे कमल-दल के समान मनोहर हैं।

क्या करें; हमारा मन न तो पृथ्वी का राज्य पाने से सुखी होता है और न इन्द्र पद से ही मोद पाता है। योग सिद्धियों का भी संधान नहीं करता और न मोक्ष की ही आकांक्षा करता है; किन्तु कालिन्दी के तट पर वृन्दावन की सीमा में स्थिर कोई गौर श्याम छवि जो बिजली और मेघ के समान द्युतिधारी है एवं जो गोप रमणियों के स्कन्धों में अपनी भुज लताऐं डाले निहार मत्त हैं उसी शुद्ध ब्रह्म के लिये हमारा यह पागल मन दौड़ रहा है।

रघुनाथ उपाध्याय ने कहा है-

श्रुतयपलाल कल्पाः किमिह वयं सांप्रतंचिनुमः।
आह्रियत पुरैवनयनै राभीरीभिर्परं ब्रह्म।।

ब्रह्म तो श्रुतियों से पलायित हो गया है भला उसको वहाँ क्यों ढूंढ़ा जाय? क्योंकि ब्रज की बालाओं ने उस ब्रह्म को पहले ही अपने नेत्र में छिपा रखा है।

परम अनन्य भक्त श्री हनुमान जी का यह संवाद भक्ति और मुक्ति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है -

का त्वं? मुक्तिरूपा गतास्मि भवति कस्माद कस्मादिह।
श्रीराम स्मरणेन देवि भवतो दासी पदं प्रापितम्।।
दूरेतिष्ट मनागनागसि कथं कर्याद नार्य्यं मयि।
त्वद्वानान्निजनाम चंदन रसा लेपस्य लोपोऽभवत्।।

हनुमति - 'तू कौन है'?
मुक्ति - 'मैं मुक्ति हूँ'।
हनुमति - 'यहाँ क्यों आई है?'
मुक्ति - 'अक्समात् आ पहुँची'।

हे देवि! तुमने श्रीराम का स्मरण नहीं किया है अतः तुम्हें उनका दासी पद प्राप्त नहीं हो सकता। दूर बैठ जा; क्योंकि तेरे संपर्क से हम अनार्यता को प्राप्त हो रहे हैं। क्योंकि तेरे वायु-स्पर्श से हमारे शरीर पर लगा हुआ चन्दन भी लोप हो रहा है।

सरस्वतीपाद् श्री प्रबोधानन्द ने भी कहा है -

दूरान्मुंचवरांगनादिविषयानकर्मैव मार्गो वृथा-
खेदंनो प्रथयेन्द्र जालसदृशी विद्धिश्चसिद्धिरपि।
मुक्तित्यक्त तराचथूत्कृत परं वृन्दावने दुर्भया-
च्छ्री राधानुचरी भवेत् कलये त्तत्रापि किंचिद्रसः॥

वेश्याओं के समान इन विषयों का दूर से ही परित्याग कर दो। कर्म-मार्ग भी वृथा है। विधि वेद की अष्ट सिद्धियां भी इन्द्र-जाल के समान हैं। मुक्ति को तो थूक दे-तू दूर फेंक दे और वृन्दावनचन्द्र श्री राधा की चरण किंकरी हो जा। तभी तुझे रस की प्राप्ति होगी।

कर्णानन्द काव्य में श्री कृष्णचन्द्र महाप्रभु पाद ने कहा है-

कर्णानन्दे-भौमं ना द्रियते विनासि विषयं दिव्याय भोगायच--
द्रुर्ह्लोत्येव दुरंत दुखततये ब्राह्मं पदं नेच्छति।
मोक्षादुद्विजति प्रसीदति न च श्री विष्णुधाम्ने मनः,
श्री राधारति रांगिणेतु विपने कृष्णाय लोलुभ्यते॥

मेरा मन पृथ्वी का आदर नहीं करता, इसके विषय नाशवान हैं; स्वर्ग में सदा

ही द्रोह लगा रहता है। ब्रह्मपद की भी इच्छा नहीं। मोक्ष को भी दूर फेंक रहा है। और तो और विष्णु पद को भी नहीं प्यार करता। यह तो एक मात्र श्री राधा के रसि रणाङ्गम श्रीवृन्दावन बिहारी श्रीकृष्ण में लुभा रहा है। श्रीरूप गोस्वामी ने कहा है-

भुक्ति मुक्ति स्पृहायावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्ति सुखस्पात्र कथमभ्युदयोभवेत्॥

जब तक हृदय में भुक्ति और मुक्ति की स्पृहा रूप पिशाची विराजमान है तब तक भला सुख रूपा श्रीकृष्ण भक्ति का उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहते हैं-

श्रीकृष्ण चरणांभोज सेवा निर्वृत चेतसाम्।
मोक्षाय तेषां भक्तानां न कदाचित्स्पृहाभवेत्॥

जिनका मन भगवान श्रीकृष्ण की सेवा में लग रहा है उन भक्तों के हृदय में कभी भी मोक्ष की स्पृहा नहीं होती। अब ग्रन्थकार श्रीकृष्ण भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं-

जनम मरन सूतक नहिं मानहिं, कृष्ण नाम सौं जे मन सानहिं।
नाम अनन्त परम पद लहिये' कृष्ण नाम सर्वोपरि कहिये॥३९॥
आरज पथ तजि भजै कन्हाई, होहि भक्ति नित मोह रहाई।
सब तजि ज्यों गोपी भजी साँची, तिनकीं रज उद्धव विधि जाँची॥४०॥

जिन्होंने अपना मन श्रीकृष्ण-चरणों में लगा दिया है वे जन्म और मरण का सूतक नहीं मानते; फिर भी नाम की कृपा से परम-पद की प्राप्ति करते हैं, यद्यपि भगवान् के नाम अनन्त हैं तो भी श्रीकृष्ण नाम ही सर्वोपरि कहा जाता है।

जो आर्य मार्ग (लोक-वेद) का भी परित्याग करके कन्हैया श्रीकृष्ण का भजन करते हैं वे नित्य भक्ति प्राप्त करते हैं और मोह छूट जाता है। अर्थात् मोह-रहित

नित्य भक्ति प्राप्त होती है। जिस प्रकार गोपियों ने सब कुछ त्याग कर सत्य भाव से भगवान श्रीकृष्ण से प्रेम किया, उनकी चरण-रज उद्धव और ब्रह्मा ने भी चाही। जो श्रीकृष्ण नाम परायण हैं वे जन्म और मरण का सूतक नहीं मानते। यथा स्कन्ध-पुराण में -

चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्।
ना शौचं कीर्तने तस्य सपवित्र करोयतः ॥

जो चक्रायुध भगवान के नामों का सदा कीर्तन करता रहता है उसके लिये कहीं अशौच नहीं है वह तो दूसरों को भी पवित्र कर सकता है। काशी खण्ड में -

निषिद्‌धा चोरतो दैवात्प्रायश्चित्तं नरोचितम्।
इतिं वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम्।

निषिद्ध आचरण पड़ने पर भी प्रायश्चित शोभा नहीं देता क्योंकि वैष्णव-जनों के लिये शास्त्रों ने यही बताया है।

नारद-पुराण में भी भगवान कहते हैं -

मद्भक्ति बलमाश्रित्य मद्भक्ताल्लब्ध दीक्षया।
नत्यजेत्मामकं कर्म सूतके मृतके पिवा ॥

मेराभक्त वैष्णवी दीक्षा प्राप्त करके मेरे बल से - आश्रय से मेरा सेवन भजन मृतक और जातक सूतक में भी न त्यागे। इसी प्रकार ब्रह्माड पुराण में वाक्य है -

अशौचं नैव विंदेत सूतकेमृतके पिवा।
येषां पादोदकंमूर्द्धिं प्राशनंयदिकुर्वतः ॥

जिसके सिर पर श्री हरि का पादोदक विराजता है वह मृतक और जातक सूतकों को जानता तक नहीं, भगवान् के अनन्त नामों में श्री कृष्ण नाम ही सर्वोपरि

- श्रेष्ठ क्यों है सप्रमाण बताते हैं। यथा; ब्रह्माण्ड-पुराण में कहा है-

सहस्त्रनाम्नं पुण्यानां त्रिरावृत्यातुयत्फलम्।
एकाबृत्या च कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति॥

भगवान् के 'सहस्त्र-नाम' पाठ की तीन आवृतियाँ करने से जो पुण्य होता है वही श्रीकृष्ण नाम की एक आवृत्ति से प्राप्त हो जाता है''।

इसी प्रकार और भी पद्म-पुराण में श्री कृष्ण भक्ति का उद्घोष करते कहा गया है -

ऋषिभिर्वंहवोलोके पंथानः प्रकटीकृतः।
श्रम साध्याश्चते सर्वे प्रायः स्वर्गफलप्रदा।
बैकुण्ठ साधकः पंथ सतु गोप्योहि वर्तंते।
तस्योपदेष्टा पुरुषाः प्रायो भाग्येन लभ्यते॥

ऋषियों ने परमार्थ-प्राप्ति के अनेक मार्ग संसार में प्रकट किये हैं वे सब प्रायः स्वर्ग-फल प्रदायक और श्रम-साध्य हैं। भगवान् श्रीकृष्ण को प्राप्त करानेवाला मार्ग तो गोप्य ही है उसका उपदेष्टा पुरुष (महात्मा)प्रायः बहुत कम ही भाग्योदय होने पर मिलता है।

अब ग्रन्थकार यश का उपसंहार करते हुए भक्ति ही करने का आदेश करते हैं

श्री हरिवंश सु दयौ बताई, भक्त अनन्य भेद सुनो भाई।
कै पंडित कै मूरख मानै; ज्ञान दग्ध नहिं मन मँह आनै॥४१॥
यह जस सुनि गुनि के मन धरि है संतत भक्ति कृष्ण की करि है।
मुरली धरन चरन रति पावै, चतुर्भुजदास जथामति गावै॥४२॥

अनन्य भक्ति का जो प्रेम-पथ है उसी को श्री हित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु ने

लोक में प्रकट कर दिखाया। हे भाई! यही अनन्य भक्त का भेद है - रहस्य है कि अन्य देवी देवताओं का परित्याग करके केवल अपने इष्ट में अनन्य भाव से लगा रहे। इस अनन्य-भक्ति को या तो प्रकाण्ड पण्डित मानेगा जो भली तरह से समझ लेगा अथवा बिलकुल मूर्ख ही मानेगा जो विश्वास और केवल श्रद्धा की करना जानता होगा। ज्ञानदग्ध के तो यह मन में भी नहीं आ सकती।

इस यश हो श्रवण करके जो मनन करेंगे और धारण करेंगे वही सदा-सर्वदा श्रीकृष्ण भक्ति कर सकेंगे। चतुर्भुज दास इसे अपनी बुद्धि के अनुसार गाता है और यही प्रार्थना करता है कि श्री मुरलीधर श्रीकृष्ण - राधावल्लभ लाल के सुन्दर चरणों की प्रीति ही उसे सदा मिले।

किसी ने ज्ञान-दग्ध का विवेचन करते हुए कहा है-

तौ उभौ सुखमेधते क्लिश्यन्तेन्तरतो जनाः।
यश्चमूढ़तमोलोके यश्च बुद्धेः परंगता॥
अज्ञ सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञान लव विदग्धं ब्रह्मा पितम् नरं नेरंजयति॥

"बुद्धिमान् और मूर्ख दोनों ही सुख पाते हैं किन्तु इनसे इतर लोग दुःख ही पाते है। यह संसार जैसा मूढ़ तम के लिये है वैसा ही बुद्धिमान के लिए है। मूर्ख सुख चाहता है और विद्वान् उससे भी श्रेष्ठ सुख किन्तु किंचित ज्ञान दग्ध को ब्रह्मा भी नहीं रंजित कर सकता अथात् नहीं समझा सकता।

अतः मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि अपनी मूर्खता और बुद्धिमत्ता का परित्याग करके अनन्य भाव से श्रीकृष्ण-चरणों में शुद्ध प्रेम ही करे।

॥ अनन्य भजन (नवम) यश समाप्त ॥

दशम
श्री राधा प्रताप यश

त्रिपदी छन्द

अनन्य भजन शीर्षक नवम यश में द्वादश यशकार स्वामी चतुर्भुजदासजी ने अनन्यता पर अनेक पुराणों-शास्त्रों के प्रमाण देकर जोर दिया है कि किस प्रकार मनुष्य अनेक भक्ति-साधनों या ज्ञान मार्ग में भ्रमित होता है परन्तु निष्ठा की एकान्तता के अभाव में यह सारा एक वृथा प्रयास ही सिद्ध होता है। इससे सर्वोत्तम मार्ग तो अनन्य और एक निष्ठ होकर भगवान श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीराधा की युगल सेवा परायणता प्राप्त करना है। यही सरल मार्ग मोक्ष आदि ऊँची से ऊँची पदवियों का सुख प्रदान कर सकता है। अब श्रीराधा प्रताप यश में श्री श्रीराधा के प्रताप यश का गायन करते हैं -

श्री हरिवंश सुमिरि वर नाम, कृपा करें तौ श्यामा श्याम ।
धाम विपिन-वृन्दा बसै ।
माया काल न व्यापै तहाँ, नित्य किशोर किशोरी जहाँ ।
महा सकल सुखरासि रस ॥
है ब्रह्माण्ड खंड को नाश, अंतक-वश विधि सब सुरवास।
तासु शंक भाजी सबै ॥
जौ सुमिरै राधा-वर नाम, सब सुख सिंधु अभै निज धाम।
श्री राधा सु प्रताप जस ॥१॥

स्वामी श्री चतुर्भुजदासजी कहते हैं - भाई ! सब नामों में श्रेष्ठ श्री हरिवंश-नाम का स्मरण करो, जिसके स्मरण करने से श्रीश्यामा श्याम कृपा करेंगे और श्री वृन्दावन धाम का वास प्राप्त हो जायगा। जिस वृन्दावन में नित्य किशोर किशोरी

श्रीराधा और श्रीकृष्ण बिराजते हैं तथा जिसमें माया और काल का प्रवेश तक नहीं है। जो महारस और महासुख की राशि है।

इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का नाश कल्पान्त में अवश्य होगा। ब्रह्मा और सभी देवताओं के लोक काल के वश में है। किन्तु इस वृन्दावन धाम के विषय में वह शंका नहीं है। यहाँ से वह शंका भाग ही गई है। जो कोई श्रीराधा वर का नाम स्मरण करेगा अथवा 'राधा' इस सर्वश्रेष्ठ नाम का स्मरण करेगा वह सदा के लिये अभय होकर सुख-सिन्धु में-अपने धाम अर्थात् युगल सरकार की राजधानी श्रीवृन्दावन में वास करेगा या स्वयं ही सुख स्वरूप हो जायगा। यही श्रीराधा का प्रताप यश हैं।

'श्री हरिवंश सुमिरि वर नाम' - श्रीहरिवंश नाम सर्वश्रेष्ठ है। इस नाम में ही प्रिया प्रियतम वृन्दावन और सहचरी समाज चतुर्व्यूह का समावेश है।

'माया काल न व्यापै तहाँ' - आशय के उद्गार वाराह संहिता में प्रकट हैं -

अनंत कोटि ब्रह्मांडास्तद्वाह्याभ्यंतरे स्थानम्।
कृष्ण स्थानं परं तेषां प्रधानं प्रिय मुत्तमम्।।
यत्परोनास्ति कृष्णस्य परं स्थान महोत्तमम्।
वैकुंठाद्यास्तदं शांशाः स्वयं वृंदावनं भुवि।।

भगवान श्रीकृष्ण का धाम श्रेष्ठ, प्रधान, प्रिय और उत्तम है। इससे परे और उत्तम कोई स्थान नहीं है। यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड से बाहर और परम गोप्य है जिसके दशांश-सतांश में बैकुण्ठादि धाम हैं। वह धाम वृन्दावन ही है। इस वृन्दावन धाम में काल की गति नहीं है। सनत्कुमार संहिता में भी इस प्रकार कहा गया है -

वृन्दावनं महत्पुण्य सर्व पावन पावनम्।
वैकुठाद्याश्चये लोका गतागत परिप्लुताः।।

न यत्पदं चा गति कं तस्मात्सेव्यंपरात्परम्।
नातत्परतरं किंचिल्लोकोवै विद्यते परम्॥

यह श्री वृन्दावन महत्पुण्य और पावनों का भी पावन है। वैकुण्ठादि लोक तो गत-आगत हैं किन्तु इसमें काल की गति नहीं हैं क्योंकि इनके सेव्य परात्पर प्रभु हैं। इस वृन्दावन से परे और कोई धाम नहीं है।

जो बाल समय नहिं सुनहिं पुरान, आगम निगम मरम नहिं जान।
गान आन तें रुचि करें॥
यह जस जिन नीके कै सुन्यौ, अर्थ विचारि-कर्यौ मन गुन्यौ।
ताहि और रुचि है नहीं॥
कीर भृंग मुनि जो जस कह्यौ जो रस शुक नारद पहँ लह्यौ।
मुक्ति मृग्य सागर कथा॥
भक्ति मुक्ति संवाद जु जिसौ, नारद शुकहि सुनायौ तिसौ।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥२॥

अब श्री राधा प्रताप यश कहते हैं कि जो अपनी बाल्यावस्था में ही पुराणों का श्रवण नहीं करते वे वेद-शास्त्रों का मर्म नहीं जान पाते। वे ही फिर अन्यान्य गानों में रुचि करते हैं। जो यह श्रीराधा प्रताप यश अच्छी तरह सुनता है, अर्थ का विचार करता है, गुनता है, मन में धारण करता है फिर उसे अन्यत्र कहीं भी रुचि नहीं रह जाती।

यह श्रीराधा का प्रताप-यश मुक्ति मृग्यसागर-तंत्र में कीर ने भृङ्ग मुनि को सुनाया है। उसी रस को श्री शुकदेव मुनि ने देवर्षि नारद से सुना है। इसी प्रकार यह यश भक्ति और मुक्ति के सम्वाद में भी आया है। उसी को फिर भी नारद ने शुकदेवजी को सुनाया है। मैं भी उसी श्रीराधा प्रताप यश का गान करूँगा।

श्रीवृन्दावन राधा निजु वास, निशि दिन श्याम न छाँड़त पास।
ज्यौं फनि मनि त्यागै नहीं।।
जैसें जल जल के जु तरंग, रवि अरु घाम, छाँह द्रुम संग।
यौं राधा हरि जानिवै।।
वृन्दावन राधा अरु श्याम, यहै ध्यान सुमिरन निज नाम।
यह शुक कौ उपदेश भौ।।
अति जु कृपा करि नारद कह्यौ, आनन्द सों मुनि तन मन लह्यौ।
श्रीराधा सु प्रताप जस ।।३।।

राधा का निज-निवास स्थान श्रीवृन्दावन हैं और उनका सामीप्य श्रीकृष्ण श्याम सुन्दर क्षण भर के लिये भी नहीं छोड़ते जिस प्रकार फणि अपने मणि को नहीं त्यागता। जैसे जल और उसकी तरंग, सूर्य और उसकी धूप एवं वृक्ष और उसकी छाया भिन्न-भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं हैं। इसी तरह श्रीराधा और श्रीकृष्ण को अभिन्न स्वरूप जानना चाहिये।

शुकदेव के लिये नारद ने यही उपदेश दिया कि निजधाम वृन्दावन में श्रीराधा और श्याम सुन्दर सदा विराजते हैं। उनका ही ध्यान करो और उन्हीं का नाम लो। श्रीराधा प्रताप का यह यश नारदजी ने बड़ी कृपा करके कह दिया और शुकदेवजी ने भी उसे तन-मन लगाकर ग्रहण किया। अतः मैं भी इसी का गान करता हूँ। जल-तरंग वत् ये सदा अभिन्न हैं। उसका दिग्दर्शन आदि पुराण में किया गया है -

नित्य स्वरूपहं राधा ममैव हृदयोद्भवा।
तयासह सदैवाहं क्रीडेवृंदावने ध्रुवम्।।
आत्माचित्स्वरूपोपि परानंद मयोप्यहम्।
विधाय स्त्री पुंरूपं राधामाधव तां गतः।।
क्रीडन्न होरमयति राधिकां वृषभानुजाम्।
क्षणंनो परमेत्तत्र क्रीडते च दिवा निशम्।।

श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं - मैं सदा नित्य स्वरूप हूँ और श्रीराधा मेरा हृदय हैं और मैं सदा इनके साथ अविचल रूप से श्री वृन्दावन धाम में क्रीड़ा करता रहता हूँ। मैं चित् स्वरूप, आत्म स्वरूप एवं परानन्दमय हूँ; किन्तु फिर भी स्त्री पुरुष का सा रूप बनाकर राधा-माधव रूप में श्री वृषभानु नन्दिनी श्रीराधा के साथ रात दिन अहर्निश क्रीड़ा ही करता हूँ। और भी श्रुति वाक्य दृष्टव्य है -

राधायामाधवोदेवोमाधवे नैव राधिकाविभ्राजते।

राधा ही माधव हैं और माधव ही राधिका हैं इस तरह एक ही दो रूप में शोभित हैं।

स्वयं महाप्रभु श्रीहित हरिवंशचन्द्र जू ने कहा है -

जै श्री हित हरिवंश हंस हंसनी साँवल गौर, कहौ कौन करे जल तरंगनि न्यारे।

अब ग्रन्थकार इस अनन्त रस-सागर के सम्बन्ध में आगे कहते हैं -

जो सब कहौं तो अन्त न लहौं, थोरी कथा सूचि करि कहौं।
सींक सिन्धु जल ज्यौं कढ़ै॥
जाकौ जस श्रुति कहत जु नेति, ब्रह्मादिकनि अगाध जु वेति।
श्रीश्यामा जु कृपा बिना॥
वरष सहस्र-साठ तप कियौ, चाहत रज गोपिन की लियौ।
तदपि नहीं ब्रह्मा लही॥
यह जु बात विधि भृगु सों कही, तिन मन में आशंका गही।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥४॥

यदि श्रीराधा-प्रताप की सम्पूर्ण कथा कहता हूँ तो अन्त नहीं पा सकता। अतएव सब पुराणों में से थोड़ी-थोड़ी सूची के रूप में वर्णन करता हूँ। जिस प्रकार समुद्र में से सींक डुबाने पर थोड़ा सा जल ग्रहण हो जाता है। जिनके यश के लिये वेद भी 'नेति नेति' कह देते हैं तथा जो ब्रह्मा आदि के लिए भी जानने में अगम्य

और अगाध हैं क्योंकि श्रीराधा की करुणा के बिना श्रीराधा को कोई नहीं जान सकता। इसलिए वेद और ब्रह्मा उस प्रताप यश को नहीं जान सकते। ब्रह्माजी ने गोपियों की चरण रज प्राप्त करने के लिये साठ हजार वर्ष तक तपस्या की; फिर भी प्राप्त नहीं कर सके। यह बात स्वयं ब्रह्मा जी ने भृगु महर्षि से कही है, आगे ग्रन्थकार कहते हैं -

कहहु तात मोसों समुझाइ, भक्त अनेक तिनहि जु विहाइ।
गोपिनु रज जाँची कहा।।
जबहि महाप्रलय ह्वै गयौ, शेष शयन आपुन प्रभु ठयौ।
तब निगमनि अस्तुति करी।।
जानत हम लीला अवतार, जब जब तन धरि करत विहार।
नित्य विहार न सूझहीं।।
जुगल किशोर जु विहरत जहाँ, हरि करुणा करि राखहु तहाँ।
श्रीराधा सु प्रताप जस।।५।।

भृगु ने ब्रह्मा से पूछा तात! आप मुझे समझाइये कि आपने अनेक भक्तों को छोड़कर गोपियों की चरण-रज क्यों माँगी?

भृगु की बात सुनकर ब्रह्मा ने कहा पुत्र! जब महाप्रलय हुआ तो सारा विश्व उसमें लय हो गया। भगवान अपनी शेष-शय्या पर शयन कर गये। वेदों ने प्रभु की स्तुति की कि हे प्रभो! हम आपके लीलावतारों को जानते हैं। जब जब आप शरीर धारण करके विहार करते हैं किन्तु हमें आपका नित्य विहार नहीं सूझता। प्रभो! आप युगल-किशोर जहाँ पर (जिस धाम में) नित्य विहार करते हैं; हे हरे! हमें कृपा करके वहीं रख लो। वेदों ने श्रीराधा प्रताप को प्रकट करने वाली स्तुति की।

करि हरि कृपा तिनहि वर दयौ, गोपी रूप सवनि कौ भयौ।
निगम रिचा जेती हुँती।।

श्रीराधा चरननि अनुसरैं आनन्द सिंधु मध्य ते परैं।
ऐसी विधि भृगु सों कही।।
कथा बृहद बावन जु पुरान, तहाँ सोधि करवी प्रमान।
जाके मन विस्मय बसै।।
और जु शिव गिरिजा सौ कही, नारद पहँ पूर्व ज्यौं लही।
श्रीराधा सु प्रताप जस।।६।।

भगवान ने वेदों पर कृपा करके उन्हें गोपी रूप दिया, जितनी भी वेद की ऋचाएँ थीं सभी गोपी रूप हो गयी। वे सभी श्रीराधा के चरणों का अनुसरण करने लगीं और रस के आनन्द सिन्धु में मग्न हो गयीं।

यह कथा ब्रह्मा ने भृगु से 'बृहद बावन पुराण' में कही है। मैंने वहाँ से शोध (ढूँढ) करके प्रमाण रूप में ली है।

जिसके मन में इस विषय का सन्देह हो वह वहाँ देख सकता है। यही कथा शिवजी ने पार्वती से कही है, जिसको उन्होंने पहले देवर्षि नारद से प्राप्त की थी। जिसमें भी श्रीराधा प्रताप यश का वर्णन है। ग्रन्थकार अब उस कथा का वर्णन करते हैं -

'रुद्रयामल' आगम जु पुरान, 'संमोहन जु तंत्र' विख्यान।
ज्यौं जु कृपा ऋषिकों भई।।
नंद गोप गृह नारद गये, देखत कृष्ण अनंदित भये।
पौढ़े पलना बाल तन।।
अखिल लोक वैभव विश्राम, लघुता माँझ दुरावत श्याम।
अति सूक्ष्म धरि कर चरण।।
कमल वदन पर कुंचित केश, मानहुँ राजत मधुप सुदेश।
श्रीराधा सु प्रताप जस।।७।।

यह व्याख्यान 'रुद्र यामल तंत्र नामक विख्यात आगम' एवं 'सम्मोहन तत्र' में लिखा है, जिस प्रकार नारद ऋषि पर कृपा हुई है। बाबा नन्द गोप के यहाँ एक बार नारद ऋषि गये और श्रीकृष्ण को बाल रूप में पालने पर पौढ़े हुए देखकर बड़े आनन्दित हुए। क्या देखा-अखिल लोकों को अपने रोम कूपों में विश्राम-दायक पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्ण अत्यन्त सूक्ष्म छोटे-छोटे हाथ पाँव धारण करके अपनी प्रभुता को लघुता में छिपाये हुए हैं। इनके सुन्दर कमल के समान मुख मण्डल पर घुँघराले केश ऐसे शोभा देते हैं मानों सुन्दर मधुप कमल के चारों ओर रसपान के लिए घूम रहे हों। यह श्रीराधा-प्रताप सम्बन्धी यश है।

कृष्णावतारमाज्ञाय प्रययौनंद गोकुलम्।
गत्वा तत्र महायोगी मायेशं विभुमच्युतम्।
बाल नाट्यधरं देवं ददृशेनंद वेश्मनि॥
सुकोमल पटास्तीर्ण 'हेम पर्यंक' कोपरि।
शयानं गोप कन्याभिः पक्ष्यमाणां महामुदा॥
अतीव सुकुमारांगं मुग्ध मुग्धावलोकनम्।
विस्त्रस्त नील कुटिलं कुंतलावलि मंडितम्॥

रुद्रयामल आगम की कथा श्री भगवान शंकर जी के मुख से इस प्रकार कही गयी है कि एक बार भगवत्प्रिय नारद अपनी वीणा बजाते हुए भगवान श्रीकृष्ण का अवतार हुआ जानकर नन्द बाबा के गोकुल में गये। वहाँ जाकर नन्द बाबा के घर में महायोगी नारद ने अच्युत विभु को बाल-नाट्य- रूप धारण किए हुए देखा। वे सुकोमल स्वच्छ स्वर्ण शय्या पर पौढ़े हुए थे। उनके चारों ओर गोप कन्याएँ खड़ी शोभा दे रही थीं। वे अत्यन्त सुकुमरागङ्ग मुग्ध और देखने से ही चित्त को मुग्ध कर देते थे। उनके नील-मुख मण्डल के चारों ओर सघन काली कुटिल अलकावलि घिर रही थी। ग्रन्थकार कथा प्रसंग पूर्ण करते हैं -

जान्यौ मुनि जु भयौ अवतार, जहाँ हरि तहाँ 'श्री' सत्य विचार।
घर घर ऋषि खोजत फिरै॥
भवन भवन प्रति कमला आहि, सब बृज ऋषि देख्यौ फिरि चाहि।
गये भवन वृषभान के॥
श्रीदामा देखत सुख भयौ, तब वृषभानु सुता लौं गयौ।
मूक बधिर आकृति रहै॥
परदा दै ऋषि अस्तुति करी, होहु प्रसन्न मोहि सुन्दरी।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥८॥

देवर्षि नारद ने जान लिया कि अवतार हो गया और यह बात भी सत्य है कि जहाँ हरि है वहाँ श्रीजी अवश्य होंगी; क्योंकि दोनों का अलगाव सम्भव नहीं है ऐसा सोच कर देवर्षि नारद घर-घर में खोजते फिरने लगे। उन्होंने ब्रज के सारे घरों में देखा कि घर-घर में कमला (लक्ष्मी) विराज रही हैं। इसके बाद वे बाबा वृषभानु के भवन में गये। वहाँ श्रीदामा को देखते ही बड़ा सुख हुआ और वे फिर वृषभानु नन्दिनी के समीप गये किन्तु उनकी आकृति को देख गूंगे और बहिरे की तरह हो रहे। फिर कुछ समय के पश्चात् ऋषि ने प्रार्थना की कि हे सुन्दरि! अब आप मुझ पर प्रसन्न होइये।

ग्रन्थकार नारदजी के कथन का प्रसंग अपने छन्दों में वर्णन करते हैं -

मैं देखी कमला सरस्वती, गिरिजा आदि सकल त्रिय जिती।
पद नख सम पूजत नहीं॥
जे सेवै श्रीराधा नाम, ता कहँ कृपा करें अति श्याम।
श्याम नाम राधा कृपा॥
यह मुनि जानि कृष्ण जस कह्यौ, करी कृपा तब दर्शन लह्यौ।
अष्ट सखी सह वर-तरुनि॥

तबहि अशोक मालिनी कही, राति दरस पुनि दैहैं सही।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥९॥

रुद्रयामल तंत्र की कथा के अनुसार यह प्रसंग इस प्रकार है कि नारदजी ने प्रार्थना की कि हे देवि! मैंने कमला, सरस्वती और गिरिजा आदि सभी श्रेष्ठ देवियों के दर्शन किये हैं, किन्तु वे सब आपकी पद-नख-छटा के समान भी नहीं हैं। जो कोई श्रीराधा नाम का सेवन करता है; श्रीकृष्ण उस पर कृपा करते हैं। इसी प्रकार श्रीराधिका की कृपा श्रीकृष्ण नाम के स्मरण से प्राप्त होती है। इसलिये ऐसा जानकर मुनिश्रेष्ठ नारद ने श्रीकृष्ण यश का गान किया। तब श्री राधिका ने कृपा की और उनका दर्शन प्राप्त किया। उस समय श्री प्रियाजी ने उन्हें अपनी अष्ट सखियों के सहित दर्शन दिया जो सभी तरुणी थीं। उनमें से अशोक मालिनी नाम की सखी ने कहा कि नारद! अब तुम्हें रात्रि के समय पुनः दर्शन प्राप्त होगा।

गोवर्द्धन तें उत्तर कोद, लता अशोक तहाँ अति मोद।
यह कहि अंतरहित भई॥
भई रात रिषि पहुँच्यौ तहाँ, परम पुनीत अवनि अति जहाँ।
रचित पहुमि सोंधौ छिरकि॥
तिहि ठां सकल प्रगट भई आइ, बनितन-गण वरनत न सिराइ।
क्रीडत आनन्द-सिन्धु महँ॥
तब तिहि सखी कही पुनि आइ, मुनि पूछहु सो कहों समुझाइ।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥१०॥

फिर से नारदजी को आदेश हुआ कि गोवर्द्धन से उत्तर दिशा में अत्यन्त मोद मयी एक लता है वहाँ हमारा तुम्हारा पुनः दर्शन-मिलन होगा। यह कह कर वह किशोरी अन्तर्धान हो गयी। रात्रि होने पर नारद ऋषि वहीं पहुँच गये, जिस जगह वह परम-पुनीत भूमि थी। वहाँ वे सुगन्धि छिड़क-छिड़ककर सुन्दर शैया रचने

लगे। आधी रात होने पर वे सखियाँ वहाँ प्रगट हो गई। उन सहचरियों का स्वरूप वर्णन करते नहीं बनता। उनका दर्शन करके मुनि आनन्द सिन्धु में क्रीड़ा करने लगे। तब उसी सखी ने नारद के पास आकर कहा, हे मुनि! अब तुम्हें पूछना हो सो पूछो वह सब मैं समझाकर कहूँगी। यह श्रीराधा का प्रताप यश है।

बहुत सखिनु के नाम जु कहे, जिहिं तप व्रत जैसे तन लहै।
श्रीराधा चरणनि भजी॥
कल्प-चार तप किये करार, ऋषि गोपी भई साठ-हजार।
और एक तुमसों कहौं॥
कामिनि एक महा तप ठयौ, एक ब्रह्मवादी तहाँ गयौ।
कह्यौ मात! तुम कौन हौ?
हौं जु महा-ब्रह्म विद्या आहि, सुनत ही अति विस्मय भयौ ताहि।
श्रीराधा सु प्रताप जस॥११॥

उस एक सखी ने नारद से अनेक सखियों के नाम वर्णन किये, जिन्होंने तपस्या और व्रत आदि से जैसे-जैसे उस दिव्य गोपी देह को प्राप्त किया था और श्रीराधा के चरणों का भजन किया अर्थात् उन्हें प्राप्त किया। चार कल्पों तक लगातार घोर तप किया तब साठ हजार ऋषि गोपी-भाव को प्राप्त हुए। इसके सिवाय और एक बात तुमसे कहती हूँ। वह क्या; कि एक स्त्री ने बड़ा तप किया। जब वह तपस्या कर रही थी उसी समय एक ब्रह्मवादी मुनि वहाँ पर गया। उसने उस स्त्री से कहा - हे माता! आप कौन हैं? उस कामिनी ने उत्तर दिया - मैं महाब्रह्म विद्या हूँ। यह बात सुनकर उस ब्रह्मवादी को बड़ा आश्चर्य हुआ। यही तो श्रीराधा का प्रताप यश है।

तोहि महामुनि जोगी जपति, तो हित महा कष्ट तन-तपति।
तू काहे हित तप करै॥

श्री राधा दासन्तन लहों, ता लगि महा कष्ट तन दहों।
सुनत ताहि उपदेश भौ॥
ब्रह्म वाद तजि मंत्र जु लयो, मानसरोवर तिहि तप ठयौ।
भयौ सखी दूजे कलप॥
गौतम सों नारद ज्यों कही, 'गौतमी तंत्र' आगम सो लही।
श्री राधा सु प्रताप जस॥१२॥

ब्रह्मवादी मुनि ने ब्रह्म-विद्या से पूछा कि बड़े-बड़े महा मुनीश्वर और योगी तक तेरा जप करते हैं किन्तु तू अब किसके लिये तपस्या कर रही है? ब्रह्म विद्या ने उत्तर दिया कि मैं इसलिये तपस्या कर रही हूँ कि इस तपस्या के द्वारा श्री राधिका जी का दासत्व प्राप्त करूँगी। इसी के लिये महा कष्ट सहती हुई अपने शरीर को जला रही हूँ। ब्रह्म-विद्या की यह बात सुनकर ब्रह्मवादी की मति ही पलट गई और उसे उपदेश हो गया। इसके उपरान्त उसने ब्रह्मवाद त्याग करके श्री राधिका जी का मंत्र ग्रहण किया और (ब्रज में) मान सरोवर के तट पर आकर तप ठान दिया फिर वही ब्रह्म वादी दूसरे कल्प में गोपी (सखी) हुआ।

यह कथा नारद जी ने गौतम ऋषि से वर्णन की है जिसका वर्णन ग्रन्थकार कहते हैं कि गौतमी-तन्त्र आगम में है। यह श्री राधा का प्रताप यश है।

अब ग्रन्थकार श्री राधा-प्रताप सम्बन्धी दूसरे कथानक का प्रारम्भ करते हैं -

नारद ज्यों वैकुण्ठहि गये, नारायण सु सुमुख संग दये।
दिखरावन लीला सकल॥
देखी लीला दस-अवतार, द्वारावति ब्रज के जु विहार।
नित्य-विहार न सूझही॥
फिर वैकुण्ठ नाथ पहँ गयौ, जा लगि मैं यह उद्दिम ठयौ।

नित्य किशोर बताईये ॥
तब कह्यौ मान सरोवर जान मग्न ह्वै जु करिवै अस्नान।
श्री राधासु प्रताप जस ॥१३॥

एक बार नारद जी वैकुण्ठ में गये एवं वहां की सभी लीलाओं का दर्शन करने की इच्छा प्रगट की तब वैकुण्ठ नाथ-नारायण ने उन्हें अपने सुसुख आदि पार्षद साथ में देते हुए कहा कि इन्हें सब लीलाओं का दर्शन करा दो। उस आज्ञा के अनुसार नारद ने भगवान के दश अवतारों की लीलाएं देखीं इसी तरह द्वारिका की श्रीकृष्ण लीला तथा ब्रज का श्रीकृष्ण के साथ गोपियों का विहार भी देखा किन्तु उन्हें नित्य-विहार नहीं सूझ पड़ा तब फिर नारद वैकुण्ठ नाथ के पास गये और बोले कि-मैंने जिसके लिए यह उपाय रचा था वह तो दिखा ही नहीं अतएव आप नित्य किशोर श्रीकृष्ण रूप का दर्शन कराइये। तब नारायण ने कहा - 'तुम ब्रजस्थ मान सरोवर में जाओ और वहाँ प्रेम मग्न होकर स्नान करना तभी तुम्हें श्री राधाप्रताप का यश सूझ पड़ेगा।

गौतमी-तन्त्र में नित्य-विहार की एक झाँकी इस प्रकार है -

ततश्चस उपाविष्टो गोलोकादुपरिस्थितम्।
गतो राधा पति स्थानं यत्सिद्धेरप्य गोचरम्॥
स्थिरं वायु धृतं नित्यं नित्यं सर्व सुखास्पदम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यं रास महोत्सवम्॥
अपश्यत्परमं गुह्यं पूर्ण प्रेम रसात्मिकम्।
गोप्यैक या व्रत स्तत्र परिक्रीडति नित्यदा॥
उपदिश्य परं मंत्र तदरंतर्दधे विभुः॥

वह नित्य विहार-दिव्य वृन्दावन धाम, गोलोक से भी ऊपर स्थित है। वह श्री राधापति का धाम सिद्धों के लिये भी अगोचर है। वह सदा सब से दूर स्थित

निराधार एवं नित्य-नित्य सर्व सुखप्रद है। इस नित्य धाम का नाम वृन्दावन है जिसमें नित्य रास रस-महोत्सव होता ही रहता है। यह रास परम गुह्य, और पूर्ण प्रेम रसात्मक तथा सर्व साधारण के लिये अदर्शनीय है। वहाँ नित्य किशोर श्री कृष्ण गोपियों से घिरे हुए सदा ही क्रीड़ा करते रहते हैं। उनमें एक ही प्रधान है।

ग्रन्थकार पूर्व कथा प्रसंग से आगे कहते हैं -

मग्न होत वनिता तन भयौ, गयौ सब ज्ञान रुदन तब ठयौ।
सुनत सखी आई तहाँ।।
पूछहि मोहि सकल सुधि हरी, फिरि जु सबनि सो विनती करी।
करौ कृपा तुम कौन हो?
जुगल किशोर संग हम रहें, परम मुदित संतत सुख लहें।
रास रसिक लीला सकल।।
प्रथम चंद्र नामा उच्चार, ऐसी सखी जु एक हजार।
श्री राधा सु प्रताप जस।।१४।।

ज्योंही नारद जी ने मान सरोवर में आकर जल में गोता लगाया त्योंही वे सुन्दरी वनिता रूप हो गये और उनका सारा ज्ञान चला गया। वे प्रेम के आवेश में विरहाकुल भाव से रुदन करने लगे। उनके विरह-मय रुदन को देखकर एक सखी उनके पास आयी। उसके साथ अनेक सखियाँ थीं। उन्होंने उससे रोने का कारण पूछा; तब नारद ने कहा - हे सखियो! मेरी पहली स्मृति सभी भूल गई है। आपसे मैं प्रार्थना करती हूँ; आप कृपा पूर्वक यह बतावें कि आप कौन हैं? तथा मुझ पर और भी कृपा करिये। नारद की बात सुनकर उन सखियों ने कहा - हे नव भामिनी! हम युगलकिशोर नित्यविहारी के साथ रहती हैं तथा सदा प्रसन्न भाव से सतत रस और सुख का ही आस्वादन करती रहती हैं एवं युगल-किशोर की समस्त रास रस लीलाओं में आनन्द लेती रहती हैं। हममें से ये जो प्रधान हैं इनका नाम चन्द्र नामा

है। इसी प्रकार की और भी एक सहस्र सखियाँ उन युगल-किशोर के साथ रहती हैं। ग्रन्थकार कहते हैं मैं ऐसे श्री राधा प्रताप का यश गान कर रहा हूँ।

'ऐसी सखी सु एक हजार' - को समझाते हुए सखियों के नाम बतलाते हैं -

सुचंद्रांगी चन्द्रकला चन्द्रलेखा च चंद्रिका।
चंद्र चंद्रा चंद्र विंवा चंद्रा चंद्र मरीचिका॥
चारू चंद्रा चन्द्र नेत्रा चंद्र शोभा सुचंद्रमा।
चंद्र कांतिश्चन्द्र रेखा चन्द्र हारा सु चन्दिनी।
इत्येता चंद्र नामानाः सहस्रा सेवनोत्सुकाः॥

सखियों कैं नाम इस प्रकार के है -

सुचन्द्राङ्गी, चन्द्रकला, चन्द्रलेखा, चन्द्रिका, चन्द्र, चन्द्रा, चन्द्र विम्वा, चन्द्र मरीचिका, चारु चन्द्रा, चन्द्र नेत्रा, चन्द्र शोभा, सुचन्द्रमा, चन्द्रकान्ति, चन्द्रनखा, चन्द्र हारा, सुचन्द्रिनी, चन्द्रनामा इत्यादि नामों की ऐसी सहस्त्रों सखियाँ उनकी सेवा में रहती हैं। ग्रन्थकार पुनः उसी प्रसंग को आगे कहते हैं -

दियौ मंत्र तिन ध्यान बताइ, जुगल किशोर प्रगट भये आइ।
लै जु संग विहरन लगे॥
रास रसिक सब सुख-अनुभये, मंजन करत बहुरि ऋषि भये।
वह जु प्रेम हिरदै वस्यौ॥
प्रेम लक्षणा मूरति-मान, कहत जु आगम निगम पुरान।
संतत हरि सेवन करत॥
ज्यौं सुर सोमपान व्रत गह्यौ, यों जु कृष्ण अधरामृत लह्यौ।
श्री राधा सु प्रताप जस॥१५॥

उस सखी ने नारद को मंत्र दिया और ध्यान बताया इसके पश्चात् नारद के भजन करने के उपरान्त युगल किशोर प्रगट हुए और उस नारदी सखी को साथ लेकर विहार करने लगे। नारद को रास में रसिक-शेखर के समस्त सुखों का अनुभव हुआ। जब इसके उपरान्त नारदी ने मान सरोवर में स्नान किया तब वे पुनः नारद हो गयी। किन्तु वह प्रेम जो उन्हें प्राप्त हुआ था वह हृदय में बना ही रहा।

वेद शास्त्रादि एवं पुराणादि स्पष्ट कहते हैं कि प्रेम लक्षणा भक्ति मूर्तिमान होकर निरन्तर श्री हरि की सेवा करती है। वेदों में भी यह बात आती है कि जैसे ब्राह्मण ने सोमपान का व्रत ग्रहण किया है; उसी तरह श्री कृष्ण भी श्रीराधा के अधरामृत का पान किया करते हैं। यह वर्णन आगे किया जायगा। यही श्री राधा-प्रताप यश है।

ब्राह्मण के सामने सोम पान करने की बात यजुर्वेद में माध्यन्दिनी शाखा में प्रकट है-

कृत्स्वात्रस्थ वृत्र तुरो राधोगुर्त्ता अमृतस्य -
पत्नी ना देवी दैवत्रे मं यज्ञं नय थोपहूता -
सोमस्य पिवत माध्येति॥ रसोयः परमानन्द - सच्चिदानन्द
लक्षणः॥ श्रीराधाकृष्ण रूपाभ्यां तस्मै तस्यै नमो नमः॥

श्रीकृष्ण का व्रत यही है अपनी अमृत रूपा प्रिय पत्नी श्रीराधा का अधरामृत पान करना; जिस प्रकार देवता सोमपान करते हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण ये दोनों स्वरूप एक होकर ही दो हैं। स्वयं ये रस रूप हैं - परमानन्द स्वरूप है। इन्हें बारम्बार नमन है तथा ऋग्वेद आश्वलायिनी शाखा में -

श्रीराधायाः पतेगीर्वा हो वीरयस्यते विभूति रस्तु सू नृता॥

यह समस्त विभूति श्री राधापति की ही है। हम उन्हीं की स्तुति करते हैं।

अब ग्रन्थकार कहते हैं -

ऐसे यजुर्वेद में कही, श्री जयदेव समुझि सो लही।
तुम जीवन भूषण सु मम॥
गीत गोविन्द मध्य तिनधरी, रसिक जननि भूतल विस्तरी।
मूरख जन जानत नहीं॥
राधा मम गुरु बन्धु समान, अर्जुन सों कही आदि पुरान।
सखा सहायक प्राण-प्रिय॥
चार-मुक्ति मोहन वर देत, भक्त! भक्ति तजि ताहि न लेत।
कहत कृष्ण यह बात क्यों॥
मीठी भक्ति मुक्ति तें आहि, जन सो रस अति जाचत ताहि।
श्री राधा सु प्रताप जस॥१६॥

श्रीकृष्ण सदा श्रीराधा के अधरामृत का पान करते रहते हैं - ऐसा यजुर्वेद में कहा गया है। उसी को भक्त श्री जयदेव जी ने समझा और ग्रहण किया। उन्होंने अपने गीत-गोविन्द में यह पद रखा है कि हे प्रिये! तुम मेरी सुन्दर भूषण हो। इसे ही रसिक जनों ने पृथ्वी तल पर विस्तार किया किन्तु मूर्ख लोग नहीं जानते। आदि पुराण में स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि हे अर्जुन! श्री राधा मेरी गुरु हैं, बन्धु के समान हैं, वही सहायक सखा और प्राण प्रिय हैं।

भगवान उपासकों को सार्ष्टि सामीप्य आदि चारों मुक्तियाँ दे देते हैं परन्तु भक्ति के सिवाय भक्त उन्हें ग्रहण ही नहीं करते। श्रीकृष्ण पूछते हैं यह बात क्या है? आप लोग मुक्ति क्यों नहीं लेते? भक्त कहते हैं कि भक्ति मुक्ति से मीठी है; इसलिये भक्त लोग मुक्ति को त्यागकर भक्ति की याचना करते हैं कि इस भक्ति के द्वारा हम यह देखेंगे कि जिन श्रीकृष्ण की अखिल लोक आराधना करता हैं - अनुसरण करता है वे प्रभु फिर किसकी भक्ति करते हैं। यह श्री राधा-प्रताप यश ही हैं।

'अर्जुन सो कही आदि पुरान' - यथा आदि पुराण में भगवान श्रीकृष्ण-अर्जुन

संवाद इस प्रकार -

बन्धुर्मे राधिकाज्ञेया गुरु राधाभिधा मम।
सुहृत्प्राणेश्वरी राधा सखा श्री राधिकास्तिमे॥
अहंता गोपिका पार्थताश्च स्वयमहं भुवि।
नो भयोस्तु नुभिर्भेदो प्राणश्चै कोन संसयः॥
त्रैलोक्ये पृथ्वी धन्या यत्र वृदावनं वनम्।
तत्रापि गोपिकाः पार्थ तेषुराधाभिधा मम॥

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा-अर्जुन! श्रीराधिका को मेरा बन्धु और गुरु जानो। श्री राधा मेरी सुहृद, सखा हैं। पार्थ! श्री राधा मेरा रूप और मैं श्रीराधा का स्वरूप हूँ। हमारे दो शरीरों में भेद नहीं है तथा हमारे दोनों के प्राण भी एक हैं इसमें संशय नहीं है। त्रिलोक में पृथ्वी और उनमें भी वृन्दावन ही धन्य है उनमें गोपी गण, तथा गोपियों में भी श्रीराधा परम धन्य हैं।

श्रीकृष्ण स्वयं किस की भक्ति करते हैं इस पर स्वामी जी कहते हैं -

तब अपनौ आनन्द निज प्रेम, लै तन रच्यौ धस्यो दृढ़ नेम।
सकल लोक शोभा सची॥
कोटि चन्द्र सुन्दरता सारु, लै जिनि रचे चरण नख चारु।
मुख शोभा वरणैं कवन॥
लोचन करत कछुक रज रही, खंजन मीन कमल मृग लही।
रोमहि प्रति लजें मेंन गन॥
ताकी उपमा दीजै काहि, हरि निजु आनन्द प्रेम जु आहि।
श्री राधा सु प्रताप जस॥१७॥

तब श्रीकृष्ण ने अपने आनन्द और प्रेम को एकत्र करके श्री राधा के सुन्दर वपु की रचना की और उनकी सेवा का, दृढ़ नेम लिया। इसके उपरांत समस्त लोकों

की शोभा का भी संचय करके एवं कोटि-कोटि चन्द्रमाओं की सुन्दरता का भी सार लेकर उस सुन्दरी के चरणों की नखच्छटा निर्मित की। उनके मुख की शोभा का वर्णन तो कर ही कौन सकता है? नेत्र बनाते-बनाते जो कुछ रज शेष रह गई उसे खंजन, मीन और मृगों ने प्राप्त की; इससे उनके नेत्र अत्यन्त सुन्दर हो गये। उस परम सुन्दरी के एक रोम की सुन्दरता पर कोटि कोटि कामदेवों के समूह लज्जित होने लगे। जो स्वयं श्री भगवान कृष्णचन्द्र का संचित आनन्द और प्रेम है उसकी उपमा भला अब किसे दी जा सकती है? यही श्रीराधा का प्रताप यश है। ग्रन्थकार श्री स्वामी जी आगे कहते हैं -

रस गुन मय मूर्ति जु संवारि, करत भक्ति नवधा जु विचारि।
भवन कुंज वृन्दाविपिन॥
परम पवित्र जु जमुना वारि, पहुप रचित मृदु अवनि सँवारि।
आसन दै किसलय सुदल॥
श्रवणनि सुजस सखिन पह सुनत, राधा नाम रैंन दिन भनत।
सुसिरन मन विसरै नहीं॥
जावक रचि चरणन जु बनाई, नूपुर माल रुचिर पहिराई।
श्री राधा सुप्रताप जस॥१८॥

श्रीकृष्ण ऐसी रसमयी मूर्ति को संवार-श्रृंगार करके उसकी नवधा भक्ति श्रीधाम वृन्दावन के निभृत निकुंज में करने लगे। परम पवित्र यमुना जल से सिक्त कोमल भूमि पर पुष्पों की कोमल शय्या रचते हैं। उसमें कोमल-कोमल किशलय दलों की अनेक आसन्दियां बनाते और उन पर अपनी इन आराध्या को पधराते हैं।

अनेक सहचरियों से उसी प्राण-प्रिया का सुयश श्रवण करते तथा 'श्रीराधा' नाम स्वयं भी दिन रात रटते रहते हैं। उनका प्रिय स्मरण तो कभी मन से भूलता ही नहीं। जावक (महावर) से उनके चरणों को सजा कर उनमें सुन्दर-सुन्दर नूपुरों की माल (लड़ियाँ) पहनाते हैं। यही श्री राधा प्रताप यश है।

ग्रन्थकार और भी किये जाने वाले सेवा-सत्कार प्रेम का वर्णन करते हैं -

मृगमद तिलक देत रुचि भाल, पहिरावत पहुपनि की माल।
अपनें कर कबरी गुथत॥
भूषण पट पहिरावत आइ, मुख बीरी हरि देत बनाइ।
दर्पन लै जु दिखावहीं॥
देखि रूप डारत त्रण तोरि, वन्दत चरन शीश करि जोरि।
दासन्तन सब विधि करत॥
तन मन प्राण समर्पन कियौ, मीन नीर ज्यों-त्यों पन लियौ।
श्री राधा सुप्रताप जस॥१९॥

वे अपनी प्राण-प्यारी के सुन्दर विशाल भाल पर कस्तूरी का सुन्दर तिलक रचते हैं एवं सुगन्धित पुष्पों की माला पहनाते हैं। अपने हाथों से उनकी कबरी गूँथते हैं। उनके श्री अंगों में भूषण और वस्त्र धारण कराते एवं अपने हाथों रसमयी बीरी बनाकर खिलाते हैं। तत्पश्चात् मणिमय दर्पण लेकर उन्हें दिखाते हैं।

श्रीकृष्ण अपनी प्राण प्रिया का स्वरूप निहार-निहार कर बलिहार जाते है - तृण तोड़ते हैं; दोनों हाथ जोड़कर उनके चरणों की बन्दना करते हैं एवं सब प्रकार से दासत्व - सेवा ही करते हैं। इस प्रकार प्रियतम श्रीकृष्ण ने अपना तन, मन और प्राण सभी श्री प्रिया - राधिकाजी के लिये समर्पित करके मीन-नीर का सा नियम ले लिया है कि उनके बिना क्षण भर भी नहीं रह सकते। यही श्री राधा का सु प्रताप यश है। और भी कहते हैं कि प्यारे क्या करते हैं -

माँगत दान मान जिन करौ, देहु वचन मेरे कर धरौ।
निर्त्तत अति आनन्द ह्वै॥
माँगि प्रसाद उगारहि लेत, गृहत कृष्ण आपुन अति हेत।
यह प्रसिद्ध भागौत में॥

रचित रास-रस सचि सब अंग, विहरत अंश-बाहु-धरि संग।
अन्तर तिनहि न जानिवै।।
राधा नाम जु यातें कहत, छिन-छिन हरि आराधत रहत।
श्री राधा सु प्रताप जस।।२०।।

इतनी आराधना और सेवा करके श्रीकृष्ण अपनी प्रियाजी से यही माँगते हैं कि हे प्रिये! मुझे यही दान दो कि आपका कर कमल सदा मेरे सिर पर रखा रहे - अर्थात् आपकी दया मुझ पर बनी रहे। इस प्रकार विनय करते और उनके प्रेम से उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं तथा प्रसाद और उनका चर्वित उगाल पान ग्रहण करते हैं। और उस उगाल को श्रीकृष्ण बड़े प्रेम से ग्रहण करते - अर्थात् पा जाते हैं। यह बात श्री मद्भागवत में प्रसिद्ध है।

इसके सिवाय अपने सम्पूर्ण अंगों को सुसज्जित करके सुन्दर रास रस रचते हैं एवं उनके स्कन्धों पर अपनी बाहुओं को धारण कर साथ-साथ विहार करते हैं।

इन दोनों में थोड़ा-सा भी अन्तर भेद बुद्धि नहीं करनी चाहिये। इसीसे सब कोई इनका नाम 'राधा' कहते हैं क्योंकि श्रीकृष्ण स्वयं ही क्षण-क्षण प्रति इनकी आराधना करते रहते हैं।

क्षण-क्षण प्रति आराधत रहहीं - श्री सेवक जी का वाक्य भी है। यही श्री राधा का प्रताप यश है।

माँग प्रसाद उगारहिं लेत - कथन श्रीमद् भागवत में भी चरितार्थ किया गया है-

कस्याश्चिन्नाट्य विक्षिप्त कुंडल त्विषमंडितम्।
गंडं गंडे संदधत्या अदात्तांबूल चर्बितम्।। - पञ्चाध्यायी

रास मण्डल में श्रीकृष्ण किसी गोपी किसी प्रेममयी गोपी - के कुण्डल-मण्डित कपोलों से अपने दर्पणाभ कपोलों को मिलाकर उसके मुख से चर्वित

ताम्बूल ग्रहण करने और उसे भी प्रदान करते हैं। प्रबोधानन्द सरस्वती जी ने भी कहा है -

राधा मुखांबुजात्कृष्णः चर्विता स्वाद्यसंवदेत्।
राधा क्रीड़ा मृग तथा राधिका दारु यंत्रिकः ॥

श्रीकृष्ण श्री राधिका के मुख कमल से चर्वित ताम्बूल ग्रहण करके उसका स्वाद लेते हैं। वे श्रीराधा के क्रीड़ा मृग हैं एवं उनके लिये दारु-यंत्र (कठ-पुतली) के समान है - नाचते हैं।

और भी यजुर्वेद आपस्तम्भ शाखा में कहा है -

स्वयमेव समाराधितो तस्माल्लोके वेदे च श्रीराधा।

गीयते स्वाधीनतया एकं रूपं द्विधाविधाय च रमयां च कार॥

श्रीकृष्ण स्वयं ही उनकी आराधना करते हैं इसलिये लोक एवं वेद में वे श्री राधा कही जाती है। सर्वतंत्र स्वतंत्र श्रीकृष्ण और श्री राधा एक रूप होकर भी दो हैं। अर्थात् विहार करने के लिये ही उन्होंने अपने ये दो रूप धारण किये हैं। श्री राधामाधव युगल के एकात्म स्वरूप और लाल श्याम सुन्दर द्वारा श्री राधा की एकात्म भावना से आराधना पर ब्रह्माण्ड पुराण में भावनामय वर्णन दिया है। इसे ग्रन्थकार यहाँ प्रस्तुत करते हैं -

पूजा राधा जपे राधा राधिका चा भिवंदय।
श्रुतौ राधा शिरो राधा राधैवाराध्यते मया॥
जिह्वाग्रे राधिका नाम नेत्राग्रे राधिका तनुः।
कर्णाग्रे राधिका कीर्ति मनाग्रे राधिका मनः॥
जिह्वा राधा श्रुतौ राधा नेत्रे राधा हृदिस्थिता।
सर्वांग व्यापिनी राधा राधैवाराध्यते मया॥
राधाकृष्णात्मिका नित्यं कृष्णो राधात्मिको ध्रुवम्।

वृन्दावनेश्वरी राधा राधैवाराध्यते मया॥

इस प्रसंग में श्री भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं - श्री राधा मेरी पूजा है, श्री राधा मेरा जप है तथा मैं श्री राधा का ही अभिवन्दन करता हूँ। सुनता हूँ तो राधा क्योंकि वही मेरे कानों में हैं, सिर में भी राधा है। मैं राधा की ही आराधना करता हूँ। मेरी जिह्वा के अग्र भाग में सदा राधा नाम ही नाचता रहता है तथा नेत्रों के सामने भी वही राधा विराजती रहती है। सुनता हूँ तो उसी राधा का कीर्तन कानों के आगे हो रहा है तथा मन के आगे भी श्री राधा ही है। मेरी जिह्वा राधा है, कान राधा हैं दोनों नेत्र राधा हैं और हृदय भी राधा ही है। क्या कहूँ श्रीराधा मेरे समस्त अंगों में व्याप्त हो रही है। मैं तो श्री राधा की ही आराधना करता हूँ। यह सत्य ही है कि श्री राधा ही श्रीकृष्ण हैं और श्रीकृष्ण ही श्री राधा हैं अथवा श्रीराधा श्रीकृष्ण की आत्मा हैं और श्रीकृष्ण श्रीराधा की। मैं तो केवल वृन्दावनेश्वरी श्री राधा की ही आराधना करता हूँ।

इहि रस प्रेम मगन हरि भये, नित्य-विहार कल्प-शत गये।
नेम नहीं जहाँ प्रेम है॥
भक्ति करि जु देखन हीं कही, तव रस सिन्धु माधुरी लही।
विसरि गई प्रभुता सकल॥
यह सब मैं पुरान मत कही, एक प्राण द्वै देह जु सही।
सदा सनातन जानिवै॥
शेष स्वयंभू सिंभु नहि लहै, आदि अन्त अरु मध्य न कहै।
अद्भुत जुगल किशोर गति॥
ज्यौं वृषभान नंद के जात, जानैं कौ लीला की बात।
ऐसी अति अगनित करी॥
आगम निगम सिन्धु मथि लह्यौ, श्री हरिवंश कृपा करि कह्यौ।
प्रगट भयौ सबहि सुन्यौ॥
कर्म धर्म व्रत जानि तजे, राधावल्लभ लीला भजे।

नाम प्रसाद प्रतीति बल।।
पुनि प्रबोधानंद जु लही, रस सागर लीला कथि कही।
श्री राधा सु प्रताप जस।।२१।।

भगवान श्रीकृष्ण इस रास रस विहार में नित्य मग्न रहते हैं। इस तरह विहार करते हुए उन्हें शत-शत कल्प व्यतीत हो गये - अनादि काल से यह विहार चल रहा है क्योंकि यहाँ पर नित्य प्रेम ही है, इसलिये कोई नियम नहीं है। यह रस भक्ति के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है दूसरी तरह से नहीं; ऐसा कहा गया है। जो भक्ति करता है वही इस रस-सिन्धु की माधुरी के आनन्दानुभूति का पात्र होता है। जिसने इसको प्राप्त किया उसके लिये सारी प्रभुता- ऐश्वर्य भूल गये।

स्वामी जी कहते हैं कि यह श्रीराधा प्रताप यश मैंने पुराणों के मत का सार कहा है। ये श्रीराधा और श्रीकृष्ण सदा एक प्राण और दो देह हैं। इन्हें सदा सनातन स्वरूप जानना चाहिये। शेष संकर्षण स्वयंभू ब्रह्मा और भगवान शंकर भी इनको - इनके प्रभाव को नहीं जान सकते और न प्राप्त ही कर सकते हैं। इनके आदि अन्त एवं मध्य का वर्णन नहीं कर सकते अथवा इनका आदि अन्त और मध्य है ही नहीं, क्योंकि ये नित्य स्वरूप हैं। इन युगल-किशोर श्रीराधा कृष्ण की गति अति अद्भुत है। जिस प्रकार ये अनादि और अनन्त होकर भी नन्द बाबा और बृषभानुराय के यहाँ प्रगट भी हो सकते हैं। भला इनकी लीला की बात कौन जान सकता है। इस तरह की और भी इनकी अनगिनत लीलाएँ हैं जिनका जानना अत्यन्त कठिन है।

मैंने इनका कुछ थोड़ा-सा प्रताप शास्त्र वेदों के रूप सिन्धु का मंथन करके ही कहा है जिसे केवल श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु की कृपा से प्राप्त किया है, क्योंकि इन श्रीराधा चरणों की प्राप्ति का प्रेरणास्रोत या उपाय इनके सिवाय और कोई अन्य है ही नहीं। श्री आचार्य प्रवर महाप्रभु का प्राकट्य जिस लिये हुआ उसे सभी जानते हैं। सभी ने सुना है।

महाप्रभु श्रीहित हरिवंश चन्द्रजी ने बताया है कि सारे कर्म, धर्म और व्रतों को तुच्छ जानकर संपूर्णतः त्याग दे और एक मात्र श्रीराधा और श्री वल्लभ लाल-प्रिया प्रियतम की प्रेम रसमयी लीलाओं का ही भजन करे तथा उनके नाम, प्रसाद और विश्वास (प्रतीति) का ही बल रखे।

इस रस की माधुरी श्री मदाचार्य्य से स्वामी श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने प्राप्त की और उन्होंने रस-समुद्र लीला का अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया (जो 'वृन्दावन महिमामृत' के रूप में अब भी विराजमान है)। अब तक जो कुछ वर्णन किया गया वह सब श्री राधा का प्रताप-यश ही है।

अब ग्रन्थकार यश का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

श्री वनमालीदास सुरीत, निर्वाही दिन-दिन अति प्रीत।
भजन भक्ति अगनित करत।।
तजि रस रास जे निर्गुण भजत, छोकल लेत कननि निजु तजत।
धनुष पनिच बिनुहैं जिसौं।।
जे या रस को मरम न लहत, काम विवश जु कृष्ण सों कहत।
वे प्रभु पूरन सर्व में।।
जाके रोम कूप में रहत, भ्रमत ब्रह्माण्ड अगनित यों कहत।
विधि जु वचन परमान है।।
तिहि मुरलीधर रस वृत गह्यौ, सो रस दास चतुर्भुज कह्यौ।
श्री राधा सु प्रताप जस।।२२।।

वही श्री आचार्य हित हरिवंश महाप्रभु की बताई हुई रस-रीति का उनके पुत्र श्री वनचन्द्रजी महाप्रभु (श्री वनमालीदास के नाम से जो अपने वाणी-साहित्य में प्रसिद्ध हैं) ने भली तरह से निर्वाह किया। निबाहा ही नहीं वरन् दिन दिन नित्य प्रति बड़ी प्रीति से उसे हृदय में बसाया। उसी पद्धति से उन्होंने अगणित भावों द्वारा भजन-भक्ति से अर्थात् प्रेम के नवीन-नवीन भावों से उस रस राज का नवीन-नवीन

आस्वादन किया। उसे वाणी के द्वारा प्रकट ही नहीं किया जा सकता।

अब जो लोग इस रस रूप रास का त्याग करके निर्गुण ब्रह्म का भजन करते हैं वे तो मानों कणों (चावलों) का परित्याग करके तुष (छिलका) ग्रहण करते हैं। उनका भजन वैसा ही है जैसा बिना प्रत्यंचा का धनुष (व्यर्थ है)। जो कोई इस रस का मर्म नहीं जानते वे ही अभागे बहिर्मुख लोग श्रीकृष्ण को कामी कहते हैं - उन्हें काम विवश समझते हैं किन्तु वे नहीं जानते कि श्रीकृष्ण पूर्ण प्रभु हैं और कण-कण में व्याप्त - सर्वमय सर्वरूप हैं। जिनके एक रोम-कूप में अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्ड जाने किस ओर भ्रमण करते रहते हैं। इस विषय में विधि-ब्रह्मा के वाक्य समस्त वेद ही प्रमाण हैं।

उन्हीं नित्य बिहारी पूर्ण प्रभु मुरलीधर श्रीकृष्ण के रस का व्रत ग्रहण करके चतुर्भुज दास ने भी उसी रस का वर्णन किया है। इस सम्पूर्ण यश में जिस रस का वर्णन किया गया वह श्री राधा का प्रताप यश ही है।

सरस्वती पाद श्री प्रबोधानन्दजी ने कहा है -

सृजति हरति पापाशंतु शक्तिर्यदीया
विगणित चतुरास्यं डानि राधा सुकांतम्॥
अनुपम तम वृन्दा काननेऽनंत शक्तिं
रसनिधिमभिवंदे वल्लभंराधिकाया॥

जिन राधाकांत की एक शक्ति के अंश से उत्पन्न त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव क्रमशः ब्रह्माण्ड का सृजन, पालन और संहार करते रहते हैं। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड जिनके एक रोम-कूप में लुढ़कते रहते है। उन श्री वृन्दा कानन विहारी अनन्त शक्तिशाली रस के अपार सागर श्री राधा वल्लभ लाल की मैं सदा वन्दना करता हूँ।

॥ श्री राधा प्रताप (दशम) यश समाप्त ॥

एकादश
श्री मंगल सार यश

राग सारंग

पिछले श्री राधाप्रताप यश में विस्तार के साथ परात्पर शक्ति सम्पन्ना, श्रीकृष्ण हृदयेश्वरी श्री राधा की यश पुंज माधुरी का सप्रमाण वर्णन करने के बाद प्रस्तुत मंगल सार यश में विद्वान ग्रन्थकार स्वामी चर्तुभुज दास जी आगे कहते हैं -

श्रीहरिवंश नाम मङ्गलमय 'मङ्गलसार' जु गावै हरि जू।
सकल भक्ति सुखसार माधुरी प्रेमलच्छिना पावै हरि जू।।१।।
मिटहिं सकल भवद्वन्द फन्द कटि रटि निशदिन जो गावै हरि जू।
सब सुखसार बिहार विपिन वानी माधुरी बतावै हरि जू।।२।।

"श्री हरिवंश" नाम मङ्गल अर्थात् आनन्द और कुशल क्षेम से ओत प्रोत है। मङ्गल का मूर्त-स्वरूप है। या यों जानो कि यह नाम ही मंगल-मूल है। इस मङ्गलमय नाम को संपूर्णतः कोई क्या कह सकेगा; अतएव उसका जो सार है मैं उसी का गान करता हूँ। जो इस मङ्गलमय नाम को गावेगा वह भक्ति की सार-सर्वस्व माधुरी प्रेमलक्षणा भक्ति पावेगा। जो कोई इस नाम को रात्रि-दिवस गावेगा अर्थात् निरन्तर रट लगा देगा उसके संसार की द्वन्द रूप सब फांसियाँ कट जायँगी; याने सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण रूप में जो द्विविधा रूप माया है और जिसने 'मैं और मेरा एवं तू और तेरा' का जाल फैला रखा है; वह नष्ट हो जायेगा।

सन्तों की दयालुता और लोक-कल्याण की उनकी निस्पृह भावना के क्या कहने हैं जो द्वादश यश के निष्कर्ष रूप में नाम रूपी सार तत्व को मन और वाणी पर विराजमान करने का उपाय बताते हैं जिसे मानों अपनी साधना से स्वयं ग्रन्थ रचयिता ने सिद्ध कर लिया था। वे समझाते हैं कि अब प्रश्न होता है कि कौनसी

माधुरी नाम स्मरण से प्राप्त होगी? तो कहते हैं कि सब सुखों अर्थात् विषयानन्द, विद्यानन्द, आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द और परमानन्द की सार-भूता जो वृन्दावन निकुंज-बिहार-माधुरी है जिसे श्रीहरिवंश जी की वाणी (वाणी-ग्रन्थ) बताती है उसे प्राप्त करेगा।

तब करि कृपा किसोर किसोरी बृन्दाविपन बसावै हरि जू।
माया काल व्याल डरु तातें नेंकु न नियरौ आवै हरि जू।।३।।
क्रीड़ा सारु चारु दम्पति रति वह गति अति मन भावै हरि जू।
श्रीहरिवंश गिरा मारग चलै तो पै भलें दिखावै हरि जू।।४।।

ग्रन्थकार स्वामी चर्तुभुजदास जी अब आगे कहते हैं जो उस वाणी (ग्रंथ) को पढ़कर उस विपिन-विहार माधुरी को जान लेगा उसे प्राप्त करने की चाह उत्पन्न होगी। उसकी प्राप्ति के लिये -

श्री हरिवंश नाम मंगलमय रटि निसिदिन गावै।
सकल भक्ति सुखसार माधुरी प्रेम लच्छिना पावै।।

यह पहिले ही छन्द में बता दिया है। जब कोई 'श्रीहरिवंश' नाम रटने लगता है - तब श्रीराधाकृष्ण युगल किशोर कृपा करके उस श्रीहरिवंश नाम जापक को अपने वृन्दावन में बसा लेते हैं। श्रीवृन्दावन माया, प्रलय काल आदि से अतीत है। जहाँ बसाये हुए व्यक्ति का माया एवं काल रूप सर्प से डरना तो दूर रहा; जरा देर के लिये उनका भय तक उसके निकट नहीं आता। नित्य किशोर श्री युगल की अनन्य और सार-रूप क्रीड़ा तथा उनकी सहज लीला के प्रति उसके मन में अनुराग उत्पन्न हो जाता है तथा वह गति (प्राप्ति) मन को अच्छी लगने लगती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि श्रीहरिवंश की वाणी ने जो मार्ग दिखाया है उसके अनुसार चले तो वह गति जो मन को सुहाती है - वह भी मिल सकती है अर्थात् नित्य वृन्दावन वैभव दिखाई पड़ने लग सकता है।

"तब करि कृपा किसोर किसोरी वृन्दा विपिन बसावे" के सम्बन्ध में इस लाभ को स्वयं जिन महात्मा श्री ध्रुवदास जी ने पाया उनके ह मुँह से सुनिये कि वे क्या कह रहे हैं -

दुर्लभ दुर्घट सबन तें वृन्दावन निज भौन।
नवल राधिका कृपा बिनु कहिधौं पावै कौन॥

सोऊ कृपा अति सुगम नहि ताकौ कौन उपाव।
चरन सरन हरिवंश की सहजहि बन्यौ बनाव॥

हरिवंश चरन उर धरनि धरि मन वच कै विश्वास।
कुंवरि कृपा ह्वै है तबहि, अरु वृन्दावन वास॥

श्री वृन्दावन में माया तथा काल-व्याल का भय नहीं है। इसके विषय में कहा है -

काले महति संवर्ते लीयन्ते लोक भावितः।
आब्रह्म कोविदाः सर्वेन श्रीराधाचरणान्विताः॥ इत्यादि॥

- मुक्तिमृग्यसागर तन्त्र

सांवर्त्तक प्रलय काल में ब्रह्मलोक से लेकर अन्य समस्त लोक दुर्निवार्य गति रूप काल के कारण लीन हो जाते हैं परन्तु श्रीराधाचरण-रज-प्रताप से श्रीवृन्दावन भूमि लीन नहीं होती।

कीनी भक्ति सत्य जुग वैसी जैसी वेद बताई हरि जू।
सार रूप हरि भजनं यजन ते अभै महानिधि पाई हरि जू॥५॥
तत्व ज्ञान उपदेश सार हरि हंस रूप धरि दीनौ हरि जू।
सारा सार विचार परे मुनि वह धुनि सुनि जस कीनौ हरि जू॥६॥

सतयुग में सबने वही भक्ति की जो वेद ने उस युग के लिये बताई है अर्थात् ध्यान ही जो भक्ति का एक अङ्ग है - उस युग में प्रधान माना गया। उसी हरि ध्यान रूप सार भजन से मुक्ति रूप निर्भय महा पद पाया। जब सनकादि मुनि सार तत्व तथा असार तत्व के द्विविध-विचार में पड़े तब श्रीभगवान ने हंसावतार धारण करके उन मुनियों को सार रूप तत्त्व-ज्ञान का बोध कराया। भगवान का वह उपदेश सुनकर मुनियों ने उसको सर्वत्र प्रकट किया। इस प्रकार वह हरि यश सर्वत्र छा गया।

सतयुग में भगवान की ध्येय मूर्ति कैसी होती थी तथा सतयुग के लोग कैसे होते थे यह इस प्रकार बताया गया है -

भगवान की मूर्ति चार भुजा, शुक्लवर्ण, जटाजूट, वल्कलवस्त्र, यज्ञोपवीत, मृगचर्म, कमलाक्षमाला, दण्ड कमण्डलु आदि से युक्त होती है। इसी प्रकार उस समय के मनुष्य शांत, निर्वैर, सुहृद, सम-चित्त तथा शम, दम और तपस्या के साथ श्रीभगवान का यजन करने वाले होते थे।

स्मृति रीति जु भजन सार हरि त्रेतायुग जु यजाये हरि जू।
ऋषि मुख कै उपदेश सबनि सों तैसे मारग लाये हरि जू।।७।।
अष्टादश पुरान कहि द्वापर व्यास सु भजन करायौ हरि जू।
महाराज उपचार सारु कथि सबहिं यजन सिखायौ हरि जू।।८।।

अब कहते हैं कि त्रेतायुग में स्मृति में बताई हुई रीति (अर्थात यज्ञ-भगवान की पूजा) से हरि यजन किया गया। ऋषियों के मुख से भी उपदेश करवाकर सब लोगों को इसी मार्ग पर लगाया गया। द्वापर युग में श्री वेदव्यासजी ने अठारह पुराणों की रचना करके सबसे उत्तम भजन करवाया। अपनी रचना में श्रीभगवान की पूजा को ही सार कथन करके सबको पूजन (परिचर्या) भक्ति ही सिखाई।

त्रेता में भगवान का स्वरूप एवं उनकी प्राप्ति का साधन तथा उस काल के मनुष्यों का वर्णन इस प्रकार है - भगवान का स्वरूप रक्त वर्ण, चारभुजा, तीन मेखला, स्वर्णकेश, वेदत्रयी के आत्मा, सुक, श्रुवा, यज्ञ पात्र एवं सामान सहित था। इसी तरह उस समय मनुष्य भगवान को तीन वेदों के स्मृति मार्ग से यज्ञ पुरुष के रूप में यजन करते थे। वे लोग धर्मिष्ट, ब्रह्मवादी, वेदत्रयी के ज्ञाता थे।

द्वापर युग में भगवान का स्वरूप एवं उनकी प्राप्ति का साधन तथा मनुष्यों का वर्णन इस प्रकार है - द्वापर में भगवान श्याम वर्ण, पीत वस्त्र, शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म आयुध, श्री, वत्स आदि चिह्न युक्त थे। उस समय के मनुष्य राजाओं की सी विभूति वाले, वेद, तन्त्र आदि की रीति से बड़ी कामनाओं से श्रीभगवान का पूजन करने वाले थे।

इस प्रकार भागवत धर्म युगानुसार सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के कारण तथा इन गुणों के मेल से क्रमशः घटता गया। यहाँ तक कि द्वापर युग में रजोगुण-तमोगुण मिला हुआ धर्म रहा। इसके पश्चात कलिकाल की बात कही है।

कलियुग कठिन महा अति बाँकौ सबै धर्म हरि लीने हरि जू।
अन्त्यज जमननि मंत्र सुने सब वेद सार बिनु कीने हरि जू।।९।।
पाखंड धर्म प्रचुर पहुमी मह उतपथ पंथ चलायौ हरि जू।
सार रूप हरिभजन गुपत भौ सब जगशिव बौरायो हरि जू।।१०।।

अत्यन्त वक्र गति वाले महा कठिन कलि काल ने सब धर्मों का हरण कर लिया। अस्पृश्य तथा यवन आदि ने वेद मंत्रों को सुन लिया फलतः वे मन्त्र निस्सार हो गये। विपुल प्रमाण में पाखण्ड धर्म पृथ्वी पर उपस्थित हो गये एवं निराधार (सिद्धांत रहित) मत वाले धर्म-पंथ चल गये। जो शुद्ध भागवत धर्म था वह गुप्त हो गया। इधर शिवजी ने सारे जगत को भ्रमित कर दिया।

कलियुग ने धर्म की गति कैसी कर दी सो इस प्रकार बताई है -

कुकर्माचरणांत्सारा: सर्वतोनिर्गतोधुना।
पदार्था संस्थिता भूमौ बीजहीनास्तुषायथा॥
नहि वैष्णवताकुत्र सम्प्रदाय पुरस्सरा:।
एवं प्रलयतां प्राप्तो वस्तुसारस्थलेस्थले॥
अयं तु युग धर्मोहि वर्तते कस्य दूषणम्।
अतस्तु पुण्डरीकाक्ष: सहिते निकटेस्थित:॥

कुकर्मों के आचरण से सब (वस्तु एवं भाव मात्र) का अब (कलिकाल) में सार निकल गया। पृथ्वी पर जप, तप, ज्ञान, ध्यान आदि सारे पदार्थ सारहीन हो गये हैं जैसे बीज रहित छिलका पड़ा रहता है। वैष्णवता कहीं नहीं रह गई। परम्परागत सम्प्रदाय स्थान-स्थान तथा तीर्थ-तीर्थ सब जगह की वस्तुओं का सार नष्ट हो गया। यह तो युग ही का धर्म है दोष किसको दिया जाय जबकि पुण्डरीकाक्ष भगवान के रहते हुए भी यह सब हो रहा है।

धर्म का युगानुसार क्रम इस प्रकार रहा है यह दृष्टव्य है -

कृते: श्रुत्युक्त मार्गस्यात् त्रेतायांस्मृति भावित:।
द्वापरे तु पुराणोक्त: कलौचागम संभव:॥

- पञ्चरात्रे

सतयुग में वेदानुसार धर्म मार्ग था और त्रेता, द्वापर एवं कलियुग में क्रमशः स्मृति, पुराण तथा आगम के अनुसार धर्म पद्धति चलती हुई आई।

कलियुग में धर्म क्षय होते-होते लुप्त हो गया -

तब करि कृपा व्यासनदन सुख का सुख सार बतायौ हरि जू।
आगम निगम सिंधु मथिकथिकैं सार कौ सर्वस गायौ हरि जू॥११॥

कठिन कर्म जेबरी वँधे जे ते काटिकै छुआये हरि जू।
श्रीहरिवंश प्रताप सार वर जे नर सरन जु आये हरि जू।।१२।।

तब व्यास नन्दन अर्थात् व्यास मिश्र के पुत्र श्री हरिवंशजी ने कृपा करके सुखों का भी सुख और उसका सार भजन सबको बताया। वेद, पुराण, तन्त्रादि रूपी समुद्रों के मंथन से जो हरिभक्ति निकली उस के भी सर्वस्व प्रेम-लक्षणा भक्ति का गायन किया। जो लोग कठिन कर्मठता की रस्सी से बँधे थे उन्हें बन्धन काटकर छुड़ाया। अर्थात् कर्म आस्था बन्धनमूलक है यह तत्व दिखाकर उन लोगों की कर्म जड़ता दूर की। जो लोग श्री हरिवंशजी के प्रताप रूप सार का वरण करके उनके शरणागत हुए वे ही लोग कठिन कर्म बन्धन से छूटे।

"कठिन कर्म जेवरी बंधे जे ते काटिकैं छुड़ाये" - के सम्बन्ध में कहा है -

गुप्त रीति आचरण प्रगट सब जग दिये।
ज्ञान धर्म व्रत कर्म भक्ति किंकर किये।।
भक्ति हित जे सरन आये द्वन्द दोष जु सब घटे।
कमल कर जिन अभय दीने कर्म बन्धन सब कटे।।

- सेवक वाणी

पाखंड अभ्र पटल छल छाये गिरा समीर उड़ाये हरि जू।
सारासार विचार कुठार मोह मद विटप कटाये हरिजू।।१३।।
मत्सर दम्भप्रपंचनि पर्वत आनन्द असि तिन मोरे हरिजू।
शुभ अरु अशुभ कलुष कालिम पुर प्रेम सार बोरे हरि जू।।१४।।

आगे कहते हैं कि पाखण्ड रूपी बादलों की घटाएं जो छल (वञ्चना) रूप से घिर आई थीं उन्हे श्री हरिवंशजी ने अपनी वाणी रूपी वायु के प्रवाह (सत्य वस्तु के उपदेश रूपी प्रभाव) से तितर बितर कर उड़ा दिया। मोह एवं गर्व रूपी वृक्षों को सार और असार का निर्णय करने वाले विवेक रूपी कुठार (कुल्हाड़ी) से कटवा

दिया। मत्सर, आडम्बर तथा प्रपंच आदि पर्वतों को आनन्द रूप बज्र से तोड़-फोड़ डाला। शुभ, अमंङ्गल, पाप आदि कालिमा के स्थानों को सार रूप प्रेम से भरे हुए सरोवर में डुबा दिया। कहने का सारांश यह है कि श्री हरिवंश जी ने अपने उपदेश से पाखंड, छल आदि नष्ट कर दिये। मनुष्यों के मन का मोह एवं अहंकार - विवेक उत्पन्न कराकर दूर किया। द्वेष, दम्भ, प्रपंच आदि को अपने सत्संग एवं रस का आनन्द देकर उसे भी दूर किया और शुभ, अशुभ की धर्म भीरु ऐसी भावनाएं जो लोगों के चित्त को कालिमा से घेरे हुए थीं उस चित्त को भगवद् रस सरोवर में डुबा दिया।

बिसन मदन विष विषै लहरि हरि, हरि गद सार सिधायौ हरि जू।
श्रीहरिवंश किसोर किसोरी कौ जस विमल जु गायौ हरि जू।।१५।।
चारवाक् छपनक छबि कुहुर समान तिमिर महा छाये हरि जू।
तारा तनय तरनि सम ह्वै कै अति तम तेज नसाये हरि जू।।१६।।

सर्प रूपी व्यसनों, कामदेव के विष तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों को हरि-भगवान ने रूप संजीवनी बूटी के सार के द्वारा दूर किया। श्री हरिवंशजी ने किशोर किशोरी युगल श्री राधाकृष्ण का विशुद्ध यश गायन किया। इस गायन का बड़ा प्रभाव हुआ। चार्वाक् (नास्तिक मत वादी), और क्षपणक धर्म जो देखने भर को सुन्दर हैं ऐसे मतवाद रूप कुहरे के घने अन्धकार को श्री तारा जी के पुत्र श्री हरिवंशजी ने सूर्य के समान प्रकट होकर अपने तेज से नष्ट कर दिया।

तृष्णा लोभ तुरंग तरल सन्तोष लगाम निवारे हरि जू।
सत्य सार केहरि करि क्रोध घटा कुंजरनि विदारै हरि जू।।१७।।
करि निकलंक संक सब मेटी तब रस रीति चलाई हरि जू।
सबही के अभिमान सार हरि दुनी सरन सब आई हरि जू।।१८।।

श्री हित हरिवंश चन्द्र महाप्रभु जी ने तृष्णा तथा लोभ रूपी चञ्चल घोड़ों को सन्तोष रूप लगाम लगाकर स्थिर किया। क्रोध रूपी हाथियों के झुण्ड को सत्य-तत्व रूपी सिंह के द्वारा खदेड़ कर विदीर्ण कर दिया। सबको कलंक रहित करके तथा सब शंकाओं का समाधान करके फिर अपनी रस रीति (प्रेम-लक्षणा भक्ति और उसकी प्राप्ति का साधन) को चलाया। जब सब अबगुणों का सार अभिमान का भी हरण किया तब सब दुनिया वाले चरण-शरण में आये।

श्री हरिवंशजी के सम्बन्ध में उनके समसामायिक सरस्वतीपाद् श्री प्रबोधानन्द जी कहते हैं -

तृष्णा प्रपञ्च मदमोह विषाद लोभाः
कामादि काव्यसन यूथ गजाः प्रमत्ता।
तावच्चरंती भुवि जीव बाधा-
यावन्न नाम हरिवंश हरिस्तु गर्जेत्।।

तृष्णा, प्रपंच, मद, मोह, विषाद, लोभ, काम-क्रोध, विषय आदि मतवाले हाथियों का झुण्ड तब ही तक जीवों को बाधा पहुँचता हुआ इस पृथ्वी पर घूमता है जब तक कि 'श्री हरिवंश' नाम रूपी सिंह गर्जना नहीं करता।

आगम उक्ति भक्ति परिचर्या तैसी सबनि बताई हरि जू।
गुपति रीति श्रुति सार रूप सो हस्तामलक दिखाई हरि जू।।१९।।
प्रेमलक्षणा प्रकट करी तब सबहिनु के मन भाई हरि जू।
सार रूप दशई नवधा तें श्री हरिवंश सुनाई हरि जू।।२०।।

अपनी रस रीति में श्री हिताचार्य प्रभु ने आगम में कथित भक्ति और सेवा परिचर्या सब को प्रकट की। जो सेवा की रीति वेदों की सार रूप है, जो अब तक गुप्त थी उसे हाथ में रखे हुए आंवले की तरह प्रत्यक्ष करके दिखाया। और इसी

प्रकार, साधन रूप नवधा भक्ति का मन्थन करके दसवीं सार रूप प्रेम लक्षणा भक्ति सब को बतलायी।

आगम कथित सेवा-परिचर्या से तात्पर्य अष्टयाम (अष्ट-प्रहर) सेवा का है। अर्थात् श्री राधावल्लभ युगल इष्ट की सेवा दिन रात्रि के चौबीसों घण्टे करते रहना। जैसे प्रातःकाल ठाकुर का जागरण कराने के पश्चात् उनका मुख प्रक्षालन कराना, उसी मङ्गलमय समय में भोग-ताम्बूलादि अर्पण करके मङ्गला-आरती उतारना। इसके बाद स्नान-श्रृंगार सेवा तथा श्रृङ्गार आरती करना, फिर यथाविधि भगवान के योग्य भोजन तैयार करके राजभोग रखना एवं पश्चात् आरती करके शयनागार में पलंग पर पौढ़ा दिया जाना। इसी प्रकार सूर्यास्त के लगभग पुनः जागरण कराकर भोग ताम्बूल अर्पण करके आरती करना, जिसे धूप आरती कहा जाता है। फिर कुछ राग-गायनानन्द ठाकुर को श्रवण कराया जाना और उसके उपरान्त संध्या आरती करके दर्शनानन्द प्राप्त करना। इसके उपरान्त रात्रि में ब्यालू अर्पण कर आरती करके ठाकुर को शयन कराना। इस प्रकार ब्राह्ममुहुर्त से लेकर ड़ेढ़ पहर रात्रि तक श्री भगवान की सेवा में लगे रहना तथा शेष काल में भी उनकी सेवा सम्बन्धी वस्तुऐं (अन्न, वस्त्र; साज-सामान) तैयार करने में लगे रहना; यही अष्टयाम सेवा का बहुत साधारण सा अर्थ है। वास्तव में तो इस सेवा में प्रेम एवं भाव का ही मूल्य एवं आवश्यकता है। पूजा जैसा विधि-विधान एवं क्रिया मात्र का बखेड़ा नहीं है। श्री भगवान ही भक्त के सर्वस्व हैं। जिस भांति पतिव्रता स्त्री पति सेवा में अहर्निश संलग्न रहती है उसी प्रकार भक्त भी भगवान की सेवा में लगा रहता है। परन्तु केवल श्रद्धा भक्ति से नहीं बल्कि एक मात्र प्यार से की हुई सेवा ही इस अष्टयाम सेवा का तात्पर्य है। सात भोग; सात आरती एवं जागरण-शयन कराना तथा राग-तान सुनाना मात्र तो क्रियाएं है परन्तु जब ये सब क्रियाएं प्यार से ओतप्रोत होकर की जाती हैं तब ही ये सेवा परिचर्या कहलाती हैं।*

संतत हरि आराधत राधा नाम उक्ति यह जानी हरि जू।
जो रसरीति सुरासुर दुरलभ प्रगट व्यास सुव बानी हरि जू॥२१॥
सकल अभै श्रुतिसार रूप श्रीराधा पद आराधन हरि जू।
नवधा भक्ति करै जुग जुग प्रति प्रेमभक्ति को साधन हरि जू॥२२॥

श्रीकृष्ण निरन्तर आराधन करते रहते हैं इसी से ''राधा'' नाम है। इस राधा नाम की निरुक्ति ''आराध्यतेति राधा'' है। इस नाम की यह उक्ति सब लोगों ने जानी। जो रस पद्धति (राधा-मोहन की प्रीति-रीति) देव, दनुज, मनुज सब ही को दुर्लभ थी सो व्यासजी के पुत्र श्रीहित हरिवंशचन्द्र जी ने अपनी वाणी में प्रगट कर दी। कैवल्य मुक्ति, वैकुण्ठ आदि अभय पद हैं परन्तु सर्व अभय पदों का शिरोमणि रूप तथा वेदों की सर्व साधनाओं का सार रूप श्री राधिका जी के चरण कमलों का आराधन करना है। इस प्रेम लक्षणा भक्ति की प्राप्ति के लिए नवधा भक्ति साधन रूप है। जब कोई इस नवधा को जन्म जन्मान्तर करेगा, तब उसे पराभक्ति की प्राप्ति होगी। ''संतत हरि आराधत राधा नाम'' का भाव इस प्रकार से श्री राधा सुधानिधि स्तोत्र में दर्शाया गया है -

देवानामथ भक्ति मुक्त सुहृदामत्यन्त दूरं च यत् -
प्रेमानन्द रसं महासुखकरं चोचारित प्रेमतः।
प्रेम्णाकर्णय ते जपत्यथ मुदा गायत्यथालिवयं-
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेतिमे जीवनम्॥

'जो देव, भक्त, मुक्त तथा सुबलादि सखाओं के लिये अत्यन्त दूर हैं, जो स्वयं प्रेमानन्द स्वरूप एवं महा सुखकर हैं और जिसका गान अलियों के द्वारा होने पर श्रीकृष्ण बड़े प्रेम से सुनते हैं तथा स्वयं जपते हैं और प्रेमाश्रुपूर्ण गद्गद कण्ठ से गाते हैं वह राधा नाम रूप अमृत ही मेरा जीवन है।

* जिन्हें विस्तार से अष्टयाम का क्रम समझना हो वे "रुद्रयामल तन्त्र" को देखें

द्विजकुल कुमुद चंद प्रगटत वर शीतल करि रस दाई हरि जू।
अमीसार रस श्रवत गिरामुख रसिक जननि सुखदाई हरि जू॥२३॥
तिहि रस सार मोद मदमाते आरज क्रिया भुलानी हरि जू।
'जहाँ प्रेम तहाँ नेम नहीं' यह श्रीहरिवंश बखानी हरि जू॥२४॥

द्विज कुल रूपी कुमुद को प्रफुल्लित करने वाले श्री हरिवंश चन्द्र ने प्रगट होकर शीतल एवं रसीली ज्योत्स्ना फैला दी। अपने मुख में से अमृत का भी सार-रस रूपी वाणी का क्षरण (झरना, प्रगट) किया। जो रस पिपासुओं (रसिकों) को सुखकर हुआ। इस सार रस को पीकर रसिक आनन्द में मतवाले हो गये।

इससे उन्हें लोक-वेद की आर्य मर्यादाओं का भी होश न रहा अर्थात् वे मर्यादाएं भूल गईं। और यह कोई आश्चर्य भी नहीं हुआ; क्योंकि श्री हरिवंशजी ने स्वयं बताया कि जहाँ प्रेम होता है वहाँ नियम नहीं रहता अर्थात् उसका भूल जाना स्वाभाविक ही है।

प्रीति न काहु की कानि विचारै।
मारग अपमारग विथकित मन कौ अनुसरत निवारै॥
ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनसुख सिन्धु सिधारै।
ज्यों नादहि मन दिये कुरंगनि प्रगट पारधी मारै॥
हित हरिवंश हिलग सारंग ज्यों सलभ सरीरहि जारै।
नायक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनपौ हारै॥

लीला नेम प्रेम पूरित घट रट राधा गुन गावत हरि जू।
क्रिया किसोर-बिहार सार सर तन मज्जन जु करावत हरि जू॥२५॥
तर्पन तद आनन्द अश्रु उर कुस वरुनि नुजु बहावत हरि जू।
पुलकित रोम होत सुर नर मुनि मोद महा सचु पावत हरि जू॥२६॥

ऐसे मतवाले रसिक भक्तों के सम्बन्ध में आगे कहते हैं कि उनका हृदय प्रेम से परिपूर्ण रहता है। श्रीराधा के गुण एवं लीला का गायन करते रहना ही उनका एक मात्र नियम है और कोई नियम नहीं। साररूप युगलकिशोर के क्रीड़ा रूपी सरोवर में वे शरीर का मज्जन कराते हैं। यही मात्र उनकी क्रिया है। उस बिहार को देख हृदय में प्रेमानन्द भर जाता है। उसके कारण जो आनन्दाश्रु नेत्रों में से वरुनियों से लगकर टपकते हैं वही मानों उनकी वरुनि रूप कुश के सहित अश्रुजल युक्त जलाञ्जलि (तर्पण) है। उन्हें उसी आनन्दातिरेक में जो रोमाञ्चादि होते हैं उसे देख सुर-मुनि तथा इस संसार के मनुष्य सब आनन्द एवं महा सुख शान्ति को पाते हैं जिस प्रकार तर्पणादि से देव-पितर सुखी होते हैं।

वास्तव में लौकिक तथा वैदिक यम नियम,-क्रिया तर्पण आदि को छोड़ ये रसिक महानुभाव ही धन्य हैं। कहा है -

कैशोराद्भुतभाधुरी भरधुरीणाङ्ग छबिं राधिकां
प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्तिये तद्धियः।
त्यक्ताः कर्मभिरात्म नैव भगवद्धर्मेप्यहो निर्ममाः
सर्वाश्चर्य गतिं गता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥

- श्रीराधा सुधा निधि

अद्भुत कैशोर माधुरी के प्रवाह से भरी अंग छबि वाली तथा एक मात्र सीमा रहित प्रेमतरङ्गोत्थान भरी श्री राधिका को-लौकिक-वैदिक सब कर्मों को छोड़ तथा भागवत धर्म के प्रति उदासीन होकर जो भजते हैं उन रसमयी एवं आश्चर्यमयी रीति से भजनेवाले महानुभावों को हम नमस्कार करते हैं।

ये कर्म सन्त करत सन्तत अति श्री हरिवंश बताये हरि जू।
सुधासार रसरीति जानि कैं सब रसिकनि मनभाये हरि जू॥२७॥

दियौ बताय प्रसाद सार फल श्रुति स्मृति बल भाख्यौ हरि जू।
कोटि कोटि तीरथ ब्रत कीनें एक सीथ जब चाख्यौ हरि जू॥२८॥

उपरोक्त बताये कर्म अर्थात् आनन्द में मस्त रहकर आनन्दाश्रुमोचन, रोमाञ्च आदि के साथ सन्त लोग श्रीराधा गुण गान निरन्तर करते रहते हैं। यह करना ही उनका एक मात्र कर्तव्य है; ऐसा महाप्रभु श्रीहित हरिवंश जी ने उन्हें बताया। इस रस पद्धति को अमृत का भी सार रूप जानकर सब रसिकों का मन उसी में लग गया। यही पद्धति उनकी मनभावती हो गई। महा-प्रसाद का एक सीथ जिसने चख लिया उसने करोड़ों तीर्थ-ब्रत आदि करने का फल पा लिया क्योंकि महाप्रसाद की महिमा इसी प्रकार है। यही सार वस्तु है ऐसा महाप्रसाद का महात्म्य वेद-पुराण-स्मृति आदि के प्रमाणों द्वारा पुष्ट करके श्री हित हरिवंश चन्द्र जी ने बता दिया।

सब जग जस जगमगत विमल अति सुनी विमल जिन वानी हरि जू।
सार रूप भागवत वेद मत बुधि विभूति पहिचानी हरि जू॥२९॥
कुटिल हृदै बालिस जे दग्धमन ते या रसहिं न जानत हरि जू।
सव सुख रस आनन्द सार बिनु कन तजि छोकल छानत हरि जू॥३०॥

श्री हरिवंश की वाणी जो सब संसार में जगमगा रही है और जिसकी विमल कीर्ति सर्वत्र फैल रही है उसे जिन शुद्ध एवं माया मल रहित लोगों ने सुना, मानों उन्होंने ही वेद के तत्व का सार रूप भागवत का मर्म अपनी बुद्धि के सहारे पहिचान लिया। परन्तु जो कपटी हृदय के मूर्ख हैं या जो ज्ञानदग्ध हैं वे इस रस को नहीं जान पाते और सब सुखों एवं आनन्द के सार रूप रस को छोड़ धान्य कण रहित छिलकों को छानते फिरते हैं।

श्रीहरिवंश कृपा माने बिनु जे या रसहिं बखानत हरि जू।
गैर साल नानें जिमि जानें रसिक ताहि पहिचानत हरि जू॥३१॥
सुख कौ सुख अरु मोद मोद रस कौ रस एकत कीनौ हरि जू।
तुषा तुषा की गुन कौ गुन ताकौ जु सार मथि लीनौ हरि जू॥३२॥

महाप्रभु श्री हित हरिवंशचंद्रजी की कृपा से ही यह रस सबको प्रगट रूप से मालूम हुआ। यदि कोई उनकी कृपा को न मानकर अपने ढंग से इसका वर्णन करके अपने घर की (अपने आचार्यों द्वारा कही हुई) वस्तु कहता है, उसे रसिक लोग पहिचान जाते हैं कि यह तो उस क्षुद्र हृदय के मनुष्य के समान है, जो अन्य के घर को अपने घर से छोटा जानता है अर्थात् क्षुद्र मानता है। वास्तव में तो श्री हरिवंश ने सुखों को भी सुखी, मोद को भी मुदित करने वाला रस तथा रसों का निचोड़ अर्थात् सबका सार रस एकत्र कर दिया है और उसमें जो कुछ तुष (छिलका) था उसमें से भी गुण युक्त वस्तु निकाली और उस गुण युक्त वस्तु का भी मन्थन करके सार वस्तु निकाल ली।

ता सार कौ शोधि सर्व सलयौ पुनि जु माधुरी लीनी हरि जू।
तव निज आनन्द प्रेम मिलै कै रुचि की रुचि जिन कीनी हरि जू।।३३।।
प्रेमलछना नाम तासु सुख सेवत सदा बिहारी हरि जू।
अति आनन्द प्रेममयी विग्रह तातें प्रिया विचारी हरि जू।।३४।।

अब फिर कहते हैं कि उस निकाली हुई सार वस्तु का भी शोधन करके पुनः सार सार निकाला। उस सार की माधुरी को लेकर उसमें अपना निज प्रेमानन्द मिलाया। उससे रुचि की रुचि बनाई अर्थात् चाहने वाले के द्वारा चाही जाने वाली वस्तु भी बनाई। इसी अन्तिम रुचि का नाम प्रेम लक्षणा है। अर्थात् श्रीराधा नाम ही वह प्रेमलक्षण है जिस नाम को सुख के सहित श्री बिहारी (श्रीकृष्ण) सेवन करते हैं और यह ''श्रीराधा नाम'' जिस अति आनन्द एवं प्रेममय विग्रह (मूर्तिमान रूप) का है उसे ही ''प्रिया'' माना गया, क्योंकि यही उस चाहने वाले की चाह का आधार (अवलम्बन) है।

कहने का सारांश यह है कि उपरोक्त तीन छन्दों में (छं. नं. ३२, ३३ और ३४ में) वर्णित विषय संक्षेपतः इस प्रकार हैं - यज्ञ, दान, ब्रत, तीर्थ, जप, तप,

स्वाध्याय, संयम, यम, नियम, आदि कर्म-स्वर्ग, पाताल, ब्रह्मलोकादि चौदह भुवनों में नर, देव, राक्षस, गन्धर्व, यक्ष आदि तथा चौरासी लक्ष जड़ चेतन योनियों में भटकाने वाले हैं। कर्ममात्र-मुक्ति, भक्ति अथवा प्रेम प्राप्ति में सहायक नहीं है; प्रत्युत बाधक है; अतएव त्याज्य है। वेद में तीन काण्ड हैं - ज्ञान, उपासना और कर्म। जब कर्म को निकाल दिया तो ज्ञान और उपासना रूप सार बचा लिया। ज्ञान का फल मुक्ति है जिसे भक्त नहीं चाहता। इसी प्रकार ज्ञान को निकाल कर केवल शुद्ध उपासना बच रही।

उपासना के भी दो भेद हैं - एक वैधी और दूसरी अवैधी। वैधी उपासना में वेद, शास्त्र, पुराण के अनुसार बँधे हुए विधि निषेधादि नियमों का पालन आवश्यक है। और अवैधी में नियमों का बन्धन नहीं। अतः उपासना में भी वैधी की अपेक्षा अवैधी ही ग्राह्य रही। तात्पर्य यह कि उपासना रूप सारासार का भी सार अर्थात सारातिसार रूप अवैधी उपासना हुई। इसी अवैधी उपासना को भक्ति भी कहते हैं। भक्ति के नौ प्रकार पिछले पृष्ठों में कह आये हैं जो नवधा भक्ति कहलाती है। जो परस्पर उत्तरोत्तर 'भाव' प्रधान होती है। ये भाव इस प्रकार हैं - शांत, दास्य सख्य, वात्सल्य और कांत; सारातिसार रूप अवैधी उपासना का सार आत्म निवेदन रूप में निकला और इसका भी पाँच-भावों के तारतम्य से जो सार निकला, उसे कांताभाव 'सारातिसारतर' कहा जा सकता है।

कांता-भाव के भी भक्तों की रुचि के हिसाब से पुनः भेद हो जाते हैं। यथा - (१) स्वकीया और (२) परकीया। परकीया कांता भाव से स्वकीया श्रेष्ठ है। अतएव इसे कांताभाव का भी सार कहना पड़ेगा। अर्थात् स्वकीय कांताभाव "सारातिसारतम" कहा जा सकता है।

जहाँ स्वकीय-परकीय का भेद उड़कर केवल नित्य निकुंज क्रीड़ा होती है, श्रीराधा और माधव ही एकमात्र दम्पति हैं और अन्य सखियाँ दास्य को लिये हुए

संग रहती हैं; यह उस स्वकीया का भी सार है। अतएव इस रस को - 'परम सारातिसारतम' कहा जा सकता है।

यहाँ तक तो हुई रस के तारतम्य की बातें, वेद-पुराणादि वर्णित श्रीराधा-माधव के बिहार की; अब वेद अलक्षित परम गोप्य रस की भी बात सुनिये।

जो नित्य क्रीड़ा एक रस होती रहती है, जिसे वेद नेतिनेति कहकर लक्ष्य कराते हैं; जिसका प्रगट (स्पष्ट) वर्णन वेदादि में है नहीं; केवल सूत्र रूप से वेद 'रसौ वै सः' मात्र कहकर वर्णन करते हैं - अनिर्वचनीय है; जहाँ रस के सिवा और कुछ है ही नहीं; वही एक मात्र सब रस की जड़ है। यही नित्य वृन्दावन का रस श्रीमन्महाप्रभुहित हरिवंशचन्द्र आचार्यवर्य ने बताया है। यहाँ का रस तत्व ही सब अवतारों, रसों और भक्तियों का मूल है। यह रस-तत्त्व सभी का मूल है। वह अपने आप अपने ही आनन्द से ओतप्रोत है।

अति अगाध गुपति तें गुपति सो सुर मुनि मरम न जानत हरि जू।
ता जु महल की बात सार सुख श्री हरिवंश बखानत हरि जू।।३५।।
एक प्रान द्वै देह सनातन अविनासी रसरासी हरि जू।
वृन्दावन में बसत सदा सु तहाँ संतत निजदासी हरि जू।।३६।।

यह सारातिसारतम प्रेमलक्षणा के द्वारा सेव्य-तत्व गुप्त से गुप्त एवं अतिगूढ़ातिगूढ़ है जिसका रहस्य देवता, मुनि आदि कोई नहीं जानते थे। जैसे राजमहल की बात जनसाधारण को ज्ञात नहीं हो सकती। श्री चर्तुभुजदास जी कहते हैं कि श्री वृन्दावन धाम में श्री रसिक युगल किशोर दो देह होते हुए भी एक प्राण होकर सदा सर्वदा निजदासी श्री हरिवंशी एवं उनके परिकर के सहित बसते हैं। यह युगल किशोर एवं दासियों का परिकर सनातन है, अविनाशी है तथा इस रस की तो राशे ही है।

''एक प्राण द्वै देह सनातन'' के सम्बन्ध में वेद में इस प्रकार उल्लेख है -

ये यं राधायश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहश्चैकः क्रीडनार्थं द्विधाभूत।

-यजुर्वेद

ये राधा-कृष्ण दोनों रस के सागर एक रूप ही हैं केवल क्रीड़ार्थ (खेल, लीला) दो रूप हुए हैं।

इस सनातन, अविनाशी, रस राशि परम तत्त्व रूप श्री वृन्दावन धाम के विषय में श्री प्रबोधानन्द जी कहते हैं -

यत्छ्रीमाननमपिस्पृशेन्ननिगमो दूरात्परं लक्ष्यते -
किञ्चिद्गूढ़तयायदैव परमानन्दोत्सवै कावधिः।
यन्माधुर्य्य कथाप्यवे दिनमिवस्वायंभुवाद्यै रहं-
तद्वृन्दावन नाम धाम रसदं विन्दामि राधायतेः॥

—वृन्दावनशतक

इस राधापति के स्थान को निगम (वेद) दूर से ही यत-तत (यह-वह) कहके लक्ष्य कराते हैं परन्तु उसकी सीमा को भी स्पर्श नहीं कर पाते। जो अति गूढ़ परम रस-आनन्द-उत्सव की अवधि है और जिसकी माधुरी के कण को ब्रह्मा, शिव, स्वायंभुव आदि नहीं जानते, ऐसे श्रीवृन्दावन नाम वाले रसदाता धाम की अभिलाषा करता हूँ।

जब कलि कठिन प्रबल जुग जान्यौ सबै धर्म तिहि भाने हरि जू।
तब करि कृपा रसिक भक्तनि पर रस सुख सार बखाने हरि जू॥३७॥
तिहि रस सार गिरा महि पूरी आनंद रसिक कलोलत हरि जू।
संजम व्रत तप विसरि गये सब मोद मत्त अति डोलत हरि जू॥३८॥

सब युगों में प्रबल एवं कठिन कलियुग है। उसने सब धर्मो को ढहा (भ्रष्ट) दिया। जब यह देखा तब रसिक भक्तों पर कृपा करने के लिये सब सुखों का सार

रस का वर्णन महाप्रभु श्रीहरिवंश ने आचार्य रूप में अवतीर्ण होकर किया। उस रस को वाणी के द्वारा प्रगट करके पृथ्वी को पूर्ण कर दिया उसी आनन्द सिंधु में रसिक कलोलने (खेलने) लगे। उसी रस मादकता में मतवाले ऐसे घूमने लगे कि तप, व्रत, संयम आदि सब भूल गये।

श्री हरिवंश प्रताप सार जस मोपै कहत न आवै हरि जू।
कोटि शेष मिलि जौ वरनहिं तौ ताकौ पार न पावैं जू।।३९।।
हरि हरिवंश प्रताप जाप सों मेरे अन्तर नाहीं हरि जू।
शपथ करत तृन लियें सुनहुँ सब सुमिरिन अघ जरि जाहीं हरि जू।।४०।।

अन्त में श्री स्वामी चतुर्भुजदास जी कहते है कि आचार्यवर्य्य श्री हित हरिवंशचंद्र महाप्रभु के प्रताप का सार रूप यश भी मुझसे कहे नहीं आता क्योंकि करोड़ों शेषजी (सहस्रमुख) भी मिलकर उसका वर्णन करना चाहें तो भी उसका पार (अन्त) नहीं पा सकते। पुनः चतुर्भुजदास स्वामी जी कहते हैं –

भगवान श्रीहरि के प्रताप के जाप में और श्री हितहरिवंशचंद्र आचार्यवर्य्य महाप्रभु के प्रताप के जाप में अर्थात् दोनों की महिमा वर्णन करने में मेरे लिये किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं है। मै दोनों को अभेद रूप से देखता हूँ। जो हरि हैं सो ही हरिवंश हैं और श्री हरिबंश ही श्रीहरि हैं। मैं अपनी इस सत्यनिष्ठा के लिये तृण लेकर शपथ करता हूँ। सब सुनिये-इस श्री हरिवंश प्रताप के स्मरण करने से सब पाप भस्म हो जाते हैं। इसमें साक्षी श्री हरि जू ही हैं।

ऐसे श्री हरिवंश तत्त्व के ज्ञाता एवं मर्मी श्रीदामोदरदास जी 'सेवक जी' महाराज ने भी कहा है–

हरि हरिवंश भेद नहिं होय, प्रभु ईश्वर जानै सब कोय।
दोय कहे न अनन्यता।।
–सेवकवाणी

करहिं कृपा राधा जु खन कहि हैं हरिवंश सुबानी हरिजू।
मुरली धरन बिहार सार रति चतुर्भुजदास बखानी हरि जू।।४१।।
यह जस सुनि गुनि जो उर धरि है । सो माया न कालतें डरि है।
पावै निज बृन्दावन वास। राधावल्लभ सदा निवास।।४२।।

जो 'हरिवंश' यह नाम प्रेम से अपनी वाणी से कहेंगे उन पर श्रीराधा एवं रमण (श्रीकृष्ण) कृपा करेंगे। श्री स्वामी चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि मैंने मुरलीधारी युगल किशोर के बिहार रूप सार रस की प्रीति का वर्णन किया है। जो यह यश सुनकर तथा मननकर अपने हृदय में धारण करेगा वह न तो माया से डरेगा और न काल ही से। साथ ही साथ युगलकिशोर की निज राजधानी श्री वृन्दावन का वास पावेगा, जहां श्री राधा वल्लभलाल नित्य निवास करते हैं। • • •

टीकाकारोक्ति-द्वादश यश के भाष्यवाद आचार्य युगलवल्लभ गोस्वामी कहते हैं–

कवित्त
हित जू की रीति है पुनीति सब लोकन में,
जिनके द्वै रूप सो अनूप नव नागर हैं।
वृन्दावन धाम इक विहरन काम तिन्हैं,
सेवत निकाम सखी रसहि कौ सागर है।।
दीनन के हेतु हित लीन्हों अवतार प्रभु,
हित हरिवंश नाम जग में उजागर है।
गावैं यश शेष शिव 'वल्लभयुगलहित',
पावैं नहिं पार कोऊ ऐसो रस आगर है।।

।। श्री मंगल सार (एकादश) यश समाप्त ।।

द्वादश
विमुख-मुख भञ्जन यश

छप्पय

अष्टादश (ति) पुराण स्मृति मथि सोधि व्यास किय।
कर्म धर्म व्रत दान गान नहिं जरनि गई जिय।
व्यग्र महामुनि निरखि तबहि नारद प्रबोध दिय।
सकल सार श्रुति सोधि भक्ति भागवत सुरस लिय।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन-भेषज शीतल केवल कर्‌यौ।
तहाँ कर्म उपचार करि रोग बढ्यौ संश्रित पर्‌यौ।।१।।

'मंगल सार यश' शीर्षक ग्यारहवें यश में श्री स्वामी चतुर्भुजदासजी ने भारतीय दर्शन के तत्वों के निष्कर्ष रूप जीवन के समस्त सुखों का रहस्य श्री राधा नाम को प्रतिपादन करते हुए इस नाम की महिमा गाई है। यहाँ अन्तिम यश में पाराशर नन्दन भगवान वेद-व्यास ने सारे वदे और स्मृतियों का मंथन करके अठारह पुराणों की रचना की, जिनमें कर्म, धर्म, व्रत और दानादि-पारमार्थिक लौकिक धर्मों का वर्णन किया गया है; किन्तु इतना करने पर भी व्यास जी के हृदय में फिर लोकोपचार की भावना उठी। महामुनि व्यास को व्यग्र देखकर देवर्षि नारद ने उन्हें प्रबोधन दिया जिससे फिर उन्होंने पुनः समस्त श्रुति-स्मृतियों का शोध करके भक्ति-सार-रस पूर्ण ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की रचना की। स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि मुरलीधर श्री कृष्ण की भक्ति-भजन रूप औषद से व्यासजी ने अपना हृदय शीतल किया अर्थात् शांति ली। किन्तु जिन्होंने भक्ति का आश्रय त्याग कर कर्म का उपचार किया, उनका तो भव-रोग बढ़ता ही गया और अन्त में संसृति आवागमन ही हाथ लगा।

व्यास जी ने अपनी ऐसी अशांति का वर्णन नारद जी से किया है। श्रीमद्भगवत में वह इस प्रकार है –

भारतव्यपदेशे न ह्याम्नायार्थश्च दर्शित।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्री शूद्राभिरप्युत॥
तथापि वत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मनाविभुः।
असम्पन्न इवा भाति ब्रह्मवर्चस्य सत्तमः॥
किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।

व्यास जी ने कहा - देवर्षि ! मैंने भारत आख्यान के रूप में सारे वेदोक्त धर्मों का निरूपण कर दिया जिसमें स्त्री, शूद्र आदि के लिये भी सब धर्म सुलभ बता दिये गये हैं। फिर भी मेरे शरीर, हृदय और अन्तःकरण में अशांति ही बनी है। हे ब्रह्म वित्तम नारद जी ! मुझे ऐसा मालूम होता है कि अभी मुझ में कुछ न कुछ कमी है ही। क्या कारण है?

इस पर नारद जी ने कहा – मुने ! आप यद्यपि यह सब जानते हैं। आपने विशुद्ध भागवत धर्म का निरूपण नहीं किया; इसीसे अशांति है; अतः आप परमहंसों के प्रिय भागवत-धर्म का निरूपण कीजिये।

आगे ग्रन्थकार कहते हैं–

वरन धर्म आश्रम दान व्रत तहाँ कहे मुनि।
ते तौ वचन कर्मठनि कण्ठ करि वाद करत पुनि।
भक्ति जहाँ कथि कही सही नवधा जु बताई।
प्रेम लच्छना प्रगटि निवटि व्रज बधुवनि गाई।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन जहाँ तहाँ कर्म क्यों करि रहै।
सत्य वचन मानौ जु जब रवि छित ज्यौं रजनी कहै॥२॥

व्यास जी ने अपनी ऐसी अशांति का वर्णन नारद जी से किया है। श्रीमद्भगवत में वह इस प्रकार है –

भारतव्यपदेशे न ह्याम्नायार्थश्च दर्शित।
दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्री शूद्राभिरप्युत ॥
तथापि वत मे दैह्यो ह्यात्मा चैवात्मनाविभुः।
असम्पन्न इवा भाति ब्रह्मवर्चस्य सत्तमः॥
किंवा भागवता धर्मा न प्रायेण निरूपिताः।

व्यास जी ने कहा - देवर्षि ! मैंने भारत आख्यान के रूप में सारे वेदोक्त धर्मों का निरूपण कर दिया जिसमें स्त्री, शूद्र आदि के लिये भी सब धर्म सुलभ बता दिये गये हैं। फिर भी मेरे शरीर, हृदय और अन्तःकरण में अशांति ही बनी है। हे ब्रह्म वित्तम नारद जी ! मुझे ऐसा मालूम होता है कि अभी मुझ में कुछ न कुछ कमी है ही। क्या कारण है?

इस पर नारद जी ने कहा – मुने ! आप यद्यपि यह सब जानते हैं। आपने विशुद्ध भागवत धर्म का निरूपण नहीं किया; इसीसे अशांति है; अतः आप परमहंसों के प्रिय भागवत-धर्म का निरूपण कीजिये।

आगे ग्रन्थकार कहते हैं–

वरन धर्म आश्रम दान व्रत तहाँ कहे मुनि।
ते तौ वचन कर्मठनि कण्ठ करि वाद करत पुनि।
भक्ति जहाँ कथि कही सही नवधा जु बताई।
प्रेम लच्छना प्रगटि निवटि व्रज बधुवनि गाई।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन जहाँ तहाँ कर्म क्यों करि रहै।
सत्य वचन मानौ जु जब रवि छित ज्यौं रजनी कहै॥२॥

इस प्रकार ग्रन्थकार कहते हैं कि इसी श्रीमद्भागवत में महामुनि व्यास ने वर्ण, धर्म आश्रम, दान और व्रत आदि का भी वर्णन किया है। बस, इन्हीं वचनों को कण्ठकर करके कर्मठ लोग व्यर्थ वाद-विवाद करते हैं। उसी श्रीमद्भागवत शास्त्र में भक्ति भी बताई गई है और भक्ति के नौ भेद भी किये गये हैं। इसके सिवाय ब्रज-गोपियों की प्रेम परक एकान्तिक भक्ति का निरूपण भी किया गया है। स्वामी चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि जहाँ मुरलीधर का भजन है – उनकी भक्ति है; फिर भला वहाँ कर्म कैसे रह सकता है? भजन के साथ साथ कर्म का रहना तभी सत्य माना जा सकता है जब सूर्य के विद्यमान रहते रात भी हो जाय।

श्रीमद्भागवत शुद्ध भक्ति का ग्रन्थ है। कर्म-निष्ठा के लिये तो उसमें कहीं कोई स्थान ही नहीं है। उसकी महिमा के विषय में कहा गया है–

आगे ग्रन्थकार पुनः भक्ति की श्रेष्ठता का ही निरूपण करते हैं–

निशि भूल्यौ नर जबहि चलै वासर मारग लगि।
वासर भूल्यौ जबहि तबहि अतिहि भटक्यौ डगि।
जाकौ मन भागौत भ्रम्यौ सो अनत न लहि है।
मन की रुचि के अर्थ साधु-संगति बिनु कहि है।
घोर रूप पितर भूतपति व्रतनि आदि बस नाँहि हरि।
चतुर्भुज कर्मठ हठि करि कहत तब श्रीधर कही करुना ज्यु करि॥३॥

जो मनुष्य रात्रि के समय मार्ग भूल जाता है वह दिन होने पर पुनः अपने रास्ते से लग जाता है; किन्तु जो मनुष्य दिन में ही भूल जाता है वह तो भटकता ही फिरता है। इसी तरह जिसका मन दिवस रूप श्रीमद्भागवत में ही भूल गया अर्थात् उसी में भक्ति को त्याग कर कर्म ज्ञानादि का प्रतिपादन करने लगा वह तो फिर अन्यत्र कहीं कुछ भी न पा सकेगा। क्योकि श्रीमद्भागवत का यथार्थ अर्थ साधु

संग के बिना प्राप्त नहीं हो सकता; इसीलिये वह भूला हुआ व्यक्ति अपने मन की रुचि के अर्थ - कर्म परक करता है।

स्वामी चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि श्रीहरि घोर रूप, प्रेत, भूत, पितृ आदि एवं कर्म, व्रत आदि किसी के भी वश में नहीं हैं। कर्मठ - कर्म काण्डी लोग अपनी बात पर ही हठ करते हैं; किन्तु श्रीधर स्वामी ने श्रीमद्भागवत का यथार्थ अर्थ करके इस हठवादिता को कदापि स्वीकार नहीं किया है।

भक्ति कहाँ रहती है इस पर कहते हैं –

भक्ति तहाँ भागवत जहाँ भागवत भक्ति तहाँ।
कर्म धर्म परधान तहाँ हरि भक्ति रहै कहाँ।
राजस तामस पुराण तहाँ भक्तिहि अवगाहत।
पसरा गाजर बेर तहाँ कर्पूरहि चाहत।
चतुर्भुज मुरलीधर भक्ति तब जब साधु भक्त करुणा करत।
बिनु भक्ति भैया ! भगवन्त की सुभव भटकत भ्रमि-भ्रमि परत।।४।।

अब आगे ग्रन्थकार कहते हैं कि जहाँ श्रीमद् भागवत है वहीं भक्ति रहती है और जहाँ भक्ति है वहीं भागवत शास्त्र की यथार्थता है । किन्तु जहाँ कर्म और धर्मों की प्रधानता है वहाँ हरि-भक्ति कैसे रह सकती हे ? जो राजस, तामस पुराणों में भक्ति खोजता है; वह उसे वहाँ कैसे मिल सकती है ? उसका खोजना तो ऐसा ही है जैसा गाजर और बेर के पसारों - दूकानों पर कोई कपूर खोजता फिरे।

चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि मुरलीधर की भक्ति तभी आ सकती है जब भक्त साधुजन कृपा करते हैं; नहीं तो भैया ! बिना भगवान की भक्ति के सभी संसार में भटकते डोलते हैं और बार-बार भ्रमित होकर जन्म-मरण को प्राप्त करते हैं।

श्रीमद् भागवत-परायण का अधिकारी वही है जो भक्त है, केवल पण्डित नहीं। इस पर द्वादश यशकार कहते हैं –

पंडित पढ़ि भागवत भक्ति भक्तनि जु सिखावत।
महिषी ज्यौं पय श्रवै आप सो स्वाद न पावत।
मृग सु नाभि नहिं लखै लेत मृगमद शिल घ्रानै।
ऊंट अगर कर्पूर वहै पै मरम न जानै।
दर्विनी न्याय चतुर्भुज सु गुनि हरि भजन बिना मण्डूक-धुनि।
दर्पण दिया जु नैन बिनु यों अन्ध आन्धरे डोरि पुनि ।।५।।

इस छप्पय में भक्ति के बिना भक्ति ग्रन्थ श्रीमद्भागवत की कथा सुनाना किस तरह भावना और प्रेम रहित होता है इसे बताते हुए द्वादश यश शास्त्रकार कहते हैं कि पण्डित लोग श्रीमद् भागवत का शब्दार्थ पढ़कर लोगों को बताते हैं – साधक भक्तों को भक्ति सिखाते हैं। उनका श्रवण कराना – भक्ति समझाना ऐसा ही है जैसा भैंस दूध देकर दूसरों का पोषण करती है किन्तु स्वयं उसका स्वाद नहीं जानती। इसी तरह मृग पत्थरों को सूँघता फिरता है कि यह सुगन्ध कहाँ से आ रही है किन्तु मूढ़ यह नहीं जानता कि यह गन्ध मेरी नाभि में ही बस रही है। ऊँट भी अपने ऊपर लाद कर चन्दन और कपूर यहाँ से वहाँ ढो देता है; परन्तु उसका मर्म नहीं जानता; वरन् कांटे खाता फिरता है। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि दर्वी-न्याय* से इन सबका कार्य मण्डूक-ध्वनि जैसा व्यर्थ मूर्खतापूर्ण 'टर्र-टर्र' है और ऐसा ही जैसे अन्धे को अन्धे का सहारा होता है।

....

* दर्वी न्याय - कड़छुली खोर आदि अनेक रस मय मीठे पदार्थों में प्रवेश करती और सिद्ध करती है, पर पूर्ण रूप से उसमें डूबने पर भी उसका स्वाद नहीं जानती- कोरी रह जाती है।

अब विशुद्ध भक्ति के लिये संकेत करते हुए कहते हैं –

कर्म करत हरि अर्प जानि आन देव न यजई ।
कर्म कृष्ण के किते कवन अवकास जु भजई ।
ज्यौं सुख न लहै अरु स्वाद नासिका कोद पान करि।
जद्यपि जठर में जाइ कही गीता जु अवधि परि।
चतुर्भुज मुरली भक्ति हित तनक सशल्य नष्टहि करै।
ज्यों सुरसरी जल कुम्भ में सुरा बूंद रंचक परै॥६॥

कोई अन्य देवताओं का यजन करता है और समस्त कर्मफल श्री हरि के अर्पित करता है। इस प्रकार एक तरह से वह अन्य देव-पूजन भी श्री हरि अर्पित होने से श्री हरि का यजन ही हुआ। किन्तु श्री कृष्ण के सारे जन्म-कर्म के भजन के लिये उसके पास अवकाश ही नहीं है। जिस प्रकार नाके से जल पान करने पर पेट तो भर जाता है पर सुख और स्वाद नहीं
मिलता. इसी प्रकार अन्य कर्म, देव-पूजा आदि श्री हरि के अर्पित कर देने से भी श्री हरि का पूजन हो जाता है (सर्व देव नमस्कारं केशवं प्रति गच्छति) किन्तु इससे भक्ति रूपी सुख शांति नहीं मिल पाती। यह बात गीता में कही गई है।

चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि प्रेम-भक्ति में थोड़ी सी सशल्यता (अन्य देवाश्रय) अजाय तो भक्ति का स्वरूप ही बिगड़ जाता है। उस व्यक्ति से भक्ति चली जाती है या ऐसे सशल्य के हृदय में भक्ति आती ही नहीं। जिस प्रकार कलश भर गङ्गाजल में यदि एक बूंद मदिरा गिर जाय तो सम्पूर्ण जल-कलश अपावन हो जाता है, इसी प्रकार थोड़ी सी सशल्यता से भी शुद्ध हरि भक्ति बिगड़ जाती है ।

कर्म धर्म कुल काज करें कहौं को जु भक्त भयौ।
हरि रस जस जे विवश भये कहि को न पार गयौ।

नृप दिलीप कहा कर्म किये कहु कोंन दान दियौ।
युग्म मुहूर्त श्रद्धा सहित हरि कथा पान कियौ।
अहि-ग्रसत, न अघ जात पुनि नृपति परीक्षत भव तर्‍यौ।
चतुर्भुज मुरलीधर वर सुजस सप्त द्यौस श्रवणानि धर्‍यौ॥७॥

कर्म धर्म और कुलाचार करते हुए बताओ तो आज तक कौन मुक्त हुआ? और श्री हरि रस भक्ति में विवश चित्तवालों में से कौन मुक्त नहीं हुआ? अर्थात् सभी संसार-सागर से पार हो गये। राजा दिलीप ने कौन से कर्म किये थे और कौन सा बड़ा दान दिया था? केवल श्रद्धा सहित अपनी शेष आयु के दो मुहूर्त्तों में श्री हरि की कथा का पान ही किया था। शास्त्र कहते हैं कि सर्प के काटे हुए व्यक्ति के पाप नष्ट नहीं होते, उसे नरक भोगना पड़ता है; किन्तु इसके विपरीत राजा परीक्षित तक्षक से काटे जाने पर भी भव से पार हो गये। चतुर्भुजदास जी कहते हैं, कि राजा परीक्षित ने केवल सात ही दिन प्रेम से श्री हरि कथामृत का पान मात्र किया था; कुछ कर्म धर्म नहीं।

राजा परीक्षित ने स्वयं अपना मोक्ष स्वीकार किया है –

भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्योन विभेम्यहम्।
प्रविष्टा ब्रह्म निर्वाणमभयं दर्शितं त्वया॥

– श्रीमद्भाभागवत

भगवन्! मुझे अब तक्षक आदि के कारण मृत्यु से भय नहीं है क्योंकि मैं आपके द्वारा दिखाये गये निर्वाण पद-मोक्ष में प्रवेश कर गया हूँ। ग्रन्थकार अब बताते हैं कि कर्म से कोई भव-पार नहीं हुआ-

तप कर्म कियौ माण्डव्य कीट साँटे जु सूलि दियौ।
दान नृपति नग दियौ बाँधि केंटिया समान कियौ।

पतितराज द्विज अजामिल तरि एक नाम गौ।
कर्मधर्मभव भटकि मिटै नहिं कोटि करहु जौ।
जज्ञ जु प्राचीन वरहि कियौ देखि पशुनि संकट पर्‌यौ।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन अनन्य बिनु कहु जु कौंन इनतें तर्‌यौ॥८॥

माण्डव्य ऋषि ने तप रूप कर्म किया था किन्तु कीट का छेदन करने के बदले में उन्हें शूली मिली। नृग राजा ने खूब दान दिया था परन्तु उसे कृकलास (गिरगिट) होकर कूप में गिरना पड़ा। इसके विपरीत पतित-शिरोमणि द्विजाधर्म अजामिल भी एक भगवन्नाम से संसार से तर गया। तात्पर्य यह है कि कोई करोड़ो कर्म-धर्म क्यों न करता रहे संसार से भटक न मिटेगी।

राजा प्राचीन वर्हि ने अमित यज्ञ किये थे जिनमें अनेक पशुओं का वध किया था। वे सब पशु आकाश में उन्हें छेदने के लिये क्रूर दृष्टि से देख रहे थे। जब नारद ने यह दृश्य दिखाया तो उन्हें बड़ा संकट आ पड़ा। पश्चात् नारद ने भक्ति का उपदेश देकर उन्हें भागवत-धर्म में लगा दिया। अतएव स्वामी चतर्भुछदास जी कहते हैं कि बताओ तो श्री मुरलीधर के अनन्य भजन बिना कौन भव-सागर से पार हुआ?

कोकिलनी मालिनी कर्म स्योरी जु कोंन कियौ।
व्याध गीध गनिका जु जुगल तिन कोंन दान दियौ।
सुपच पुरन्दर पुरहि पार पर्‌यौ एक नाम हरि।
तुलाधार गज द्विज जु तरे कहु कौन कर्म करि।
चतुर्भुज मुरलीधर प्रेम बस तजि तप व्रतादि साधन इतर।
गोपिनु प्रमान किये श्याम इमि जिमि दारु नारि नचै कुहूक कर॥९॥

अनेक पतित और पापात्मा नाम-स्मरण से उद्धार पा गये; इस प्रसंग में ग्रन्थकार कहते हैं कि कोकिलनी मालिन और शबरी भीलनी ने कौनसा कर्म किया

था? व्याध, गृद्धराज जटायु गणिकाओं (दो वेश्याओं में से एक जनकपुर की और दूसरी तोते की पढ़ानेवाली), ने कौन सा दान दिया था? किन्तु ये भी तर गये।

पुरन्दर पुर का श्वपच केवल एक ही 'हरि' नाम से भव-पार गया। इसके सिवाय तुलाधार, गजेन्द्र और अजामिल ब्राह्मण कौनसा कर्म करके भव-पार हुए? इन सबने ही केवल हरि-नाम का आश्रय लिया था। मुरलीधर तो केवल प्रेम के वश में हैं इसलिये भाई ! तू तप, व्रत आदि अन्य साधनों को त्याग दे। तुझे नहीं मालुम? गोपियों ने तो प्रमाणित कर दिया है कि श्यामसुंदर प्रेम से ऐसे नाचते हैं जैसे मदारी (कुहक) के हाथ से उसकी कठ-पुतली नाचती है।

कर्मधर्म अपराध बाँधि विधि देत दण्ड जम।
हरि जन तन निरखें न नेंन जद्यपि लागै क्रम।
ज्यौं मन्त्री राजा-घर राज कुवर सों न मटकत।
नृपसुत पै अपराध तरै तौ नृप पुनि हटकत।
यों निज तन कहँ दण्ड दैहिं हरिजू बहुरि कृपा करें
स्वप्न प्राय कर्म काटि जन चतुर्भुज जात नहिं जम-पुरें॥१०॥

कर्म और धर्म में जो अपराध बन पड़ते हैं उनके लिये गन्थकार कहते हैं कि यम राज जीवों को बाँधकर विधिपूर्वक दण्ड देते हैं। वही यमराज भगवद्भक्तों की तरफ आँख भरकर देख भी नहीं सकते। चाहे उन भक्तों के भले ही कोई कुटिल कर्म शेष क्यों न हों? उदाहरण के लिये देखो कि राजा का मंत्री राजकुमार की ओर थोड़ा भी तीव्र दृष्टि से नहीं देख सकता। यदि राजकुमार कोई अपराध भी कर दे तो भी उसे दण्ड देने में स्वयं राजा ही मना कर देता है। इसी प्रकार यमराज भक्तों को दण्ड नहीं दे सकता। उन्हें स्वयं श्री हरि दण्ड देते और पुनः स्वयं ही कृपा भी करते हैं। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि अपने जन के कर्मों को स्वप्न के समान काट कर उसे अभय कर देते हैं और यमपुर नहीं जाने देते।

पतिव्रता की धर्म कहत गनिकहि क्यौं आवै।
जोरु कहै तो सर्म और कुल नष्ट कहावै।
जिन अनन्यव्रत गह्यौ सु कैसें होइ ससल्य सर।
सकल कर्म अरु धर्म विसरि सेवै एकै हरि।
चतुर्भुज कंचन काँच ज्यों अरु फेर राज मृगराज ज्यौं।
समसरि केसरि गेरू जु गुनयौ भक्त-अनन्य ससल्य त्यौं।।११।।

पतिव्रता का धर्म गणिका से कैसे कहते बनेगा यदि व कहे भी तो उसके लिये ही शर्म (लज्जा) होगी और वह अपने (वेश्या) कुल से कुल नष्ट कहावेगी। जिन भक्तों ने अनन्य व्रत धारण किया है वे सशल्य के समान कैसे हो सकते हैं। चतुर्भुजदासजी कहते हैं इन दोनों की तुलना करना तो ऐसा ही है जैसे स्वर्ण और काँच, सियारों का राजा और सिंह एवं केशर और गेरू की तुलना। अर्थात् अनन्य भक्त स्वर्ण मृगराज और केशर के समान तथा सशल्य (बहुदेव सेवी) काँच, सियार पति और गेरू के समान हैं। आगे ग्रन्थकार कहते हैं -

वरु विचार मन माँझ अगनि पिंजर प्रवेश करि।
वरु तौ व्याल अवलंबि वरु तौ मृगराज अंकभरि।
वरु वरुनालय करि प्रवेस ग्रासहि जल उकसि।
वरु गिरिवर चढ़ि शिखिर रूढ़ तहाँ देह अधहि धसि।
चतुर्भुज मुरलीधर भक्त अनन्य तब भूलि न संग ससल्य करि।
वरु तन जु जाउ हरिभजन विनु हरिभजन जात रवि तात डरि।।१२।।

अरे भाई ! यही विचार श्रेष्ठ है कि मन में सोच विचार कर अग्नि के पिंजर में प्रवेश करना, समुद्र में प्रवेश करके मगर के मुख में प्रवेश कर जाना या डूब मरना, एवं पर्वत या वृक्ष पर चढ़कर पृथ्वी पर कूद के मर जाना; किन्तु चतुर्भुजदास जी कहते हैं अनन्य भक्त के लिये सशल्य का संग करना श्रेष्ठ नहीं है। श्रीहरि का

भजन बना रहे और यह शरीर चला जाय सो उचित किन्तु हरि भजन चले जाने से यम के हाथ पड़ना होगा जो सशल्य के साथ में सहज ही प्राप्त है यह ठीक नहीं।

अब स्वामी जी सशल्य का लक्षण बताते हैं -

दिक्ष्या मंत्र जु ग्रहै कृष्ण किंकर जु कहावै।
हरि आराधन करै आँन देवनि पुनि धावै ।
कर्म धर्म कुल काज काम कबहूँ न बिसारै।
सन्तनि सों अस्तब्ध काम मत क्रिया पसारै।
ये ससल्य सब निरखि कें भूलि न संग ससल्य धरि।
हरि भजन न उर चतुर्भुज रहै अरु सहै मारि जम दुवार परि॥१३॥

वैष्णवी दीक्षा ग्रहण करके जो श्रीकृष्ण किंकर -दास तो कहलाता है और श्री हरि की आराधना भी करता है; पर साथ-साथ अन्य देवताओं का भी सेवन करता है; साथ ही कर्म धर्म एवं कुल-व्यवहारों को कभी नहीं भूलता सन्तों-भगवान के अनन्य भक्तों से तो चुप हो रहता है। (जहाँ निष्काम भक्ति कही जाती है वहाँ मौन रहता है) और अन्यत्र सकामता वश कर्म-काण्ड का विस्तार करता है-उसका अनुष्ठान कराता व करता है, ऐसे लक्षण वालों के सम्बन्ध में स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि इन सशल्यों को अच्छी तरह जानकर या देख समझ कर इनका संग फिर कभी भूलकर भी नहीं करना चाहिये। अब जो इतने पर भी उनका संग करेगा उसके हृदय से श्रीहरि का भजन चला जायगा और अन्त में यमराज के द्वार पर पड़ने पर भयंकर मार सहनी पड़ेगी।

अब ऐसी यम यातना के लक्षण कहते हैं-

कोटि कोटि बृश्चिक ग्रसित तन त्राश होत ज्यौं।
कोटि सूर्य अति अरुण अग्नि तन ताप होत त्यौं।
जरत सण्डासिनु परत जद्यपि आमिष आकर्षत।

धर पर सहै सौ वर्ष सु तौ ऐसें तन तर्सत।
चतुर्भुज त्राश जमराज की एक जाम दुःसह जु अति।
मुरलीधरवर भजन अनन्य विनु सुनि पुनि पुनि यह होत गति॥१४॥

कोटि-कोटि बिच्छओं के दंश से जैसा कष्ट होता है और कोटि सूर्य से भी अधिक तप्त अग्नि का ताप होता है, जलती हुई लोहे की संडासियों से जब मांस नोंचा जाता है तब एक तो जलती हुई संडासी का ही कष्ट उस पर भी मांस का खींचा जाना और भी दुःसह वेदना देता है। ऊपर से कोटि सूर्य का ताप, कोटि-कोटि बिच्छुओं का दंश, तप्त संडासियों से मांस नोंचा जाना और इस पर भी वह यातना शरीर धारी सौ सौ वर्ष तक उसी तरह की अत्यन्त तपी हुई भूमि पर पड़ा घोर कष्ट पाता रहता है।

चतुर्भुजदासजी जी कहते हैं कि यमराज का यह त्रास एक याम (पहर) काल की भी अत्यन्त दुःसह है जो श्री मुरलीधर के श्रेष्ठ भजन बिना बार-बार भोगना ही पड़ता है।

सुत वित हित संकेत दैत्य देवतनि न परसै।
वेंन आन नहिं चवै नैन पुनि आन न दरसै।
श्रवण आन नहिं सुनें चित्त चिन्तै नहिं आनै।
मन वच हरि हरि कर्म और कर्म कछू न जाने।
अखिल लोक के जंतु जे सत्ता सकल कृष्ण की कहत।
चतुर्भुज निज जन मन भजन द्वै हरि जनहि जजत कै हरि भजत॥१५॥

अब अनन्य लक्षण कहते हुए ग्रन्थकार उपदेश करते हैं कि जो पुत्र एवं धन के लिये अथवा संकट में भी अन्य देवता अथवा दैत्य का स्पर्श नहीं करता, वाणी से अन्य का कथन नहीं करता, नेत्रों से किसी अन्य को नहीं देखता, कानों से किसी अन्य के विषय में कुछ नहीं सुनता और चित्त के द्वारा किसी अन्य का

चिन्तन भी नहीं करता है; मन, वचन और कर्म से केवल श्री हरि के सेवा-परिचर्य्या आदि के कर्म करता है तथा इसके सिवाय किन्हीं अन्य कर्मों को जानता ही नहीं, समस्त विश्व के जीवों में श्रीकृष्ण की ही सत्ता मानता है; श्री हरि के ऐसे इन निज-जनों के दो ही भजन हैं - एक भगवद्भक्तों की सेवा और दूसरा श्रीहरि का भजन।

अनन्यता के लक्षण पद्म-पुराण में इस प्रकार कहे गये हैं -

अनन्य शरणो नित्यं तथैवानन्य साधनः।
अनन्य साधनार्थं त्वात्स्पादनन्य प्रयोजनः॥
नान्यं च पूजयेद्देवं ननमेत्स्मरेन्न च।
न च पश्येन्नयापेतन विंदेच्च कदाचन॥

भक्त नित्य अनन्य शरण एवं अनन्य सघन रहे तथा अनन्य भाव दृढ़ रहे यही अनन्यता से प्रयोजन है। वह अनन्य अन्य देवों का न तो पूजन करता, न नमन करता, न स्मरण करता, न देखता, न स्तुति करना न निन्दा ही, एवं अन्य किसी का उच्छिष्ट प्रसाद, माला आदि भी ग्रहण नहीं करता स्वामी चतुर्भुजदास जी और भी अनन्य-लक्षण कहते हैं-

नवधा में मन लगै तबहि कर्मनि क्यों करि है।
सिंघनि सुत ढिंग तात मात स्यारहि क्यों डरि है।
चढयौ बड़े गजराज करत स्वान कौ कोंन डर।
प्रबल अगिन प्रज्वलित करै ताको कहा विषधर।
महानदी कौ नीर क्यों जु पावस तृन अटकै।
मुरलीधर की भक्ति भयें चर्तुभुज क्यौं कर भटकै॥१६॥

यदि नवधा भक्ति में मन लग जाय तो फिर कर्म में रुचि ही क्यों होगी और उन्हें अनन्य सेवी क्यों करेगा? जो सिंह का बालक अपनी माता सिंहनी और पिता

सिंह के समीप है वह भला सियार से कैसे डर सकता है? जो बड़े भारी गजराज पर बैठा है वह भला कुत्ते से क्यों डरेगा? जो प्रज्वलित अग्नि के घेरे में बैठा हो उसे सर्प से क्या डर है? बड़ी भारी नदी का प्रवाह भी भला एक तुच्छ तिनके से कैसे रुक सकता है? अर्थात् जो श्री भगवान का आश्रय ले चुका वह अभय और बेपरवाह हो गया। स्वामी चतुर्भुज दासजी कहते हैं कि मुरलीधर श्रीकृष्ण की भक्ति हृदय में आ जाने पर कोई कैसे भटक सकता है? अब अनन्यों की महिमा ग्रंथकार कहते हैं-

भूख-भयें जु सिंघसुत क्यौं मंजारी जाचै।
स्यार सभा के मध्य कहौ केहरि क्यों नाचै।
भक्ति भागवत त्यागि कर्म धर्मनि उठि धावै।
कामधेनु परिहरै मूढ़ गाडरहि मुल्यावै।
नकटी नासा सजि चून की ज्यौं जु महामुक्ता धरै।
चर्तुभुज मुरलीधर भक्ति अनन्य बिनु सब साधन यौं ही करै।।१७।।

भूखा होने पर भी सिंह का बालक साधारण बिल्ली से क्यों याचना करेगा? सियारों की सभा में सिंह क्यों नाचेगा? किन्तु जो मूढ़ भागवत-शास्त्र कथित भक्ति को त्यागकर कर्म-धर्मों में दौड़ता-फिरता है वह तो ऐसा ही करता है जैसे कोई कामधेनु को छोड़कर भेड़ों को दुहता फिरे, वह निरा मूढ़ ही है। इसी प्रकार जैसे कोई नकटी अपनी दूसरी बनावटी नाक बनाकर उसमें आटे की सफेद-सफेद वेशर-नासा मुक्ता धारण करले तो भी शोभा को प्राप्त न होगी। चतुर्भुज दास जी कहते हैं इसी तरह मुरलीधर की अनन्य भक्ति के बिना सभी अन्यान्य साधनों का करना है।

अब अनन्य भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए उसका महत्त्व बताते हैं-

भक्ति सुलभ सुख सकल अन्त आनन्द लहत नरु।
तप कर्म कृत कृश कष्ट शेष सुख कठिन हठ न करु।
ज्यौं अम्ब नाम द्रुम फलै स्वाद सज्जन शुक लैहै।
नीब निबोरी फलै ताहि वाइस खल खैहै।
चतुर्भुजदास मन माँझ गुनि पुनि मुरलीधर वर शरण धरि।
साधन अनेक हरि भजन बिनु सुनि चार खानि गति रति न करि॥१८॥

भक्ति अत्यन्त सुलभ है एवं समस्त सुखों को देनेवाली है । इसके द्वारा मनुष्य अन्ततः अनन्त आनन्द की प्राप्ति करता है। किन्तु कर्म तपस्या रूप हैं, इनके करने से शरीर कृश होता, कष्ट मिलता और सुख अल्प क्या अति अल्प मिलते हैं, इसलिये भाई! इस कठिन कर्म उपासना के लिये हठ न कर। इसका त्याग कर दे।

जिस प्रकार आम के उत्तम फल का स्वाद कोई सज्जन शुक ही पाता है किन्तु नीम में जो निबौरियां लगती हैं उन्हें सज्जन छूते भी नहीं, केवल मूर्ख कौआ ही खाता रहता है। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि इस बात का तू अपने मन में विचार कर - मनन कर पश्चात् श्री मुरलीधर की अभय-सर्व श्रेष्ठ शरण ग्रहण कर। नहीं तो श्रीहरि के भजन बिना अन्य साधनों पर भी जो निबौरी के ही समान हैं अवश्य चार खानियों (अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज) की गति को प्राप्त होना पड़ेगा। अरे भाई! सुन; तू इसमें (कर्म-धर्म रूप अन्य साधनों में) रति न कर और भी आगे भक्ति की महिमा बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं-

जब जु जगत निर्मयौ जीव पुरि पुनि निर्मान किये।
जल थल भव अति भ्रमत कर्म कृत संग बांधि दिये।
कर्म-कर्म किम कटै पंक करि पंक न छूटै।
बिनु मुरलीधर भजन समुद्र सरवा क्यों खूटै।

चतुर्भुजदास भक्ति अनन्य बिनु क्यौं कुंभ-अंबु गज वर बुड़त।
साधन अनेक हरि भजन बिनु क्यों मूक फूँक गिरिवर उड़त॥१९॥

जब विधाता ने जगत का निर्माण किया; उसने जीव रूपी देह हा भी निर्माण साथ ही साथ किया। ये देह जल, थल और नभचर के हिसाब से अनेक हैं, जिनके संग में विधाता ने कर्मों के पुण्य और पाप फल भी लगा दिये जिनसे बँधा हुआ जीव नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है।

अब उन पाप, पुण्य आदि कर्मों को काटने के लिये यह जीव पुनःकर्म करता है। परन्तु जानता नहीं कि कर्म के द्वारा कर्म कैसे कट सकता है? जिस तरक पंक से पंक (कीचड़) नहीं धोया जा सकता। बिना मुरलीधर श्रीकृष्ण-भजन के कर्मरूप सकोरे से इतना बड़ा समुद्र कैसे उलीचा जा सकता है? स्वामी चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि अनन्य भक्ति के बिना कैसे उद्धार हो सकता है? अरे भाई! कहीं एक घड़े भर पानी में हाथी डूब सकता है? इसी तरह जीव का उद्धार कर्म से नहीं हो सकता। श्रीहरिभजन के सिवाय अन्य सभी साधनों से क्या भव-बन्धन छूट सकता है। क्या गूँगे की फूंक मे पर्वत राज उड़ाया जा सकता है? कदापि नहीं, इसका सारांश यह कि कर्म के द्वारा जीव का जगत् से उद्धार नहीं हो सकता; होगा तो एक मात्र अनन्य भक्ति से ही।

'पंक करि पंक न छटे' - को श्रीमद्भभागवत में इस प्रकार समझाया गया है -

यथा पंकेन पंकांभः सुरया वा सुराकृतम्।
भूत हत्यां तथैवैकां न यज्ञैमीर्ष्टुमर्हति॥

"जिस प्रकार कीचड़ से कीचड़ और मदिरा से मदिरा धोकर शुद्ध नहीं की जा सकती, उसी तरह यज्ञादि कर्मों से -भूत हत्या नहीं जा सकती -उसका पाप नहीं छूट सकता।" ऐसा युधिष्ठिर ने कहा है।

अब और भी स्वामी जी कर्मों की हेयता और भक्ति की श्रेष्ठता का निरूपण करते हैं -

तप व्रतादि कृत कर्म धर्म करि हरिहि समर्पत।
भेद भागवत लहै न कहै यह है गीता मत।
कोटि कलप भव भ्रमत कर्म फल खल नर लहि है।
जो बिन अनन्य हरि भजन चतुर्भुज बीज न दहि है।
ज्यों सुख हित विधवा जारहि भजै, गर्भ न जाचत होत पुनि।
यों जु भक्त करै कर्म रति, भुगतें बिनु निघटै न सुनि॥२०॥

कर्म-निष्ठा लोग तप, व्रत आदि पुण्य कर्म करके श्रीहरि को समर्पित करते हैं। कर्म करते-करते भागवत-शास्त्र का रहस्य लक्ष्य तो समझते नहीं; वरन् अपने मत की पुष्टि के लिये गीतोक्तवर्ग का सहारा लेते हैं, क्योंकि गीता में निष्काम-कर्म अथवा तदर्पित-कर्म करने की आज्ञा दी गयी है। परन्तु भागवत के अनुसार निष्काम कर्म तत्त्व समझना जरूरी है। कर्म-निष्ठा के कारण मूढ़ मनुष्य संसार में आवागमन के चक्र में फँसता हुआ कोटि कल्पों तक अपने कर्मों का फल पाता ही रहेगा। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि अनन्य भाव से हरि-भजन के बिना उसके भव-प्रवाह रूप कर्म बीज का नाश न होगा -बीज न जलेगा और जब तक बीज जलेगा नहीं तब तक वह उगता ही रहेगा।

जिस प्रकार विधवा अपने इन्द्रिय-सुख के लिये किसी जार-पुरुष का सेवन करती है और यद्यपि वह उससे गर्भ नहीं चाहती फिर भी उसे वह प्राप्त तो होता ही है। उसी प्रकार यदि भक्त कर्मों से प्रीति करे तो कर्म-प्रवाह अर्थात् संसार आवागमन से कभी छूट नहीं सकता।

कहै यह है गीता मत - के बारे में भगवान श्रीकृष्ण भीमद्भगवत गीता में

अर्जुन को समझाते हैं -

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषिददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्जुन ! तू जो कुछ कर्म करे, जो कुछ खावे, जो कुछ हवन आदि करे, जो कुछ दान दे एवं जो तप करे वह सब मुझे अर्पित कर दे। पुनः कर्म का तिरस्कार करते हुए कहते हैं -

करहि तौ करि षट कर्म-धर्म संध्या त्रिकाल पुनि।
वैश्वदेव बलि काग जु दान अरु नित्य श्राद्ध सुनि।
सम्वतसर प्रति श्राद्ध सहित करि श्राद्ध वहत्तर।
पंच-सून नव ग्रह प्रगट पाप तिनतें तब निस्तर।
चतुर्भुज अकरन प्रतिवाइ तब कहे इनमें जौ एकौ घटै।
कै छूटै मुरलीधर भजन तें कै नवधा निज नामहि रटै॥२१॥

यदि तेरी कर्म-निष्ठा ही प्रबल है तो कर्म ही करता चल। उनमें से बाह्मण के षट कर्म, त्रिकाल संध्यावाले वैश्व-देव, काग-दान, नित्य श्राद्ध, वर्षभर के श्राद्धों के सहित बहत्तर श्रात्र और प्रतिदिन घर में होनेवाले चूल्हे-चक्की आदि के पंच-पाप के लिये किये जानेवाले कर्मों के अनेक नित्य नैमित्तिक रूप हैं। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि इनसे तभी निस्तार हो सकता है जो ये सभी साङ्गोपांग विधिवत किये जायें। यदि प्रमादवश इनमें थोड़ी भी त्रुटि हो गयी तो तुरन्त ही प्रत्यवाय दोष लगेगा। उस प्रत्यवाय दोष से अन्य सभी कर्म-धर्म से एवं भव-सागर से तभी उद्धार हो सकता है जब भगवान मुरलीधर का भजन करे अथवा नवधा भक्ति करे और उनके नाम का ही जप-रटन करे। भक्ति में प्रत्यवाय दोष नहीं है - जिसे श्रीमद् भागवत में स्वीकार किया गया है -

अकरणे प्रत्यवैतिनान्यत्रस्याज्जु गुप्सितम्॥

इस भक्ति में अकारण प्रत्यवाय दोष नहीं है एवं कोई जुगुप्सा भी नहीं हैं।

कर्म कुशल अति करै धरै नहीं सही भक्ति बल।
बीस हाथ रजु यद्यपि कूप इकइस न लहै जल।
मैल खाण्ड कौ मिष्ट परै तौ खाण्ड बिगारै।
होइ भक्ति अति मलिन मिलै जौ कर्मनि डारै।
मुरलीधर भजन अनन्य विनु मिटै नहीं भव भटक जम।
नवधा जु विमुख साधन सकल ज्यों उन्मुख हरै न अकास तम॥२२॥

यदि कोई बड़ी कुशलता से भी कर्म करता है किन्तु भक्ति का बल नहीं ग्रहण करता जो यथार्थ है, तो वह ऐसा ही है जैसे बीस हाथ की रस्सी लेकर भी इक्कीस हाथ गहरे कूप से पानी नहीं निकाला जा सकता। जैसे खाँड़ का मैल पुनः खाँड को ही बिगाड़ देगा इसी तरह भक्ति भी मलिन हो जायगी, यदि उसमें कर्म-मल मिला दिया जाय। यम यातना और आवागमन का चक्र भगवान मुरलीधर के अनन्य भजन बिना नहीं मिट सकता। नवधा-भक्ति से विमुख जितने भी साधन हैं वे जलती हुई लकड़ी के समान हैं। उनसे कभी भी रात्रि के घोर आकाश का अंधकार नहीं मिट सकता। इसी तरह अन्य साधनों से भव-प्रवाह नहीं मिट सकता। भजन के बिना कर्म-निष्ठा द्वारा संसार से नहीं छूट सकता। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं -

कर्म धर्म, कुल-गर्व गहै भव पार न परि है।
बिनु तुम्बिन नव नेह माल उर कण्ठ न धरि है।
संश्रित सूजि न रहै गहै तौ लगि क्रम डोरै।
सीवौ विथकै तब हित गानि घटै कै तोरै।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन अनन्य बिनु संसार तीर जै है न तरि॥२३॥

कि अरे भाई ! कर्म, धर्म और कुल का गर्व लेकर भव-सागर से पार नहीं हो सकता? और जब तक नवधा-प्रेम की तूम्बियों की माला नहीं पहिनेगा अर्थात् नवधा भक्ति नहीं करेगा तब तक भव से पार नहीं होगा। जब तक तेरे पास कर्म रूप डोरा है, तब तक संसृति या आवागमन रूप सुई भी रहेगी और तब तक सीना रूपी कर्म-प्रवाह चलता ही रहेगा। प्रेमरूप गान-कीर्तन से ही यह सीना समाप्त हो सकता है।

चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि इतने पर भी तू वेद की विधि-निषेध रूप स्वर्ण और लोहे की बेड़ियों से बँधा है। बन्धन दोनों से है चाहे स्वर्ण की बेड़ी हो या लोहे की बेड़ी हो। श्री मुरलीधर के अनन्य भजन बिना संसार से पार नहीं हो सकता।

प्रगट वदन रसना जु प्रगट अरु प्रगट नाम रढ़ि।
जीभ निसेनी मुक्ति तिहि बल आरोहि मूढ़ चढ़ि।
ऊंच नीच पद चहत ताहि कामिक कर्म करि है।
कबहु होहि सुरराज कबहु तिर्यक-तनु धरि है।
चतुर्भुज मुरलीधर भजन अनन्य बिनु द्वैतुर्ग एक परि पारि परि।
विद्याबल कर्म बल ना तरै भव सिन्धु स्वान की पूँछ धरि।।२४।।

अरे मूढ़ ! तेरा मुख और वाणी दोनों प्रकट हैं। इनके द्वारा तू प्रकट नाम का गान कर अर्थात् अहर्निश नामोच्चारण का तांता बांध दे। जिह्वा की नसैनी के द्वारा नाम के बल से मुक्ति के पद चढ़ जा। तू अज्ञान वश ऊँचे स्वर्ग आदि लोकों की इच्छा से और दूसरी ओर नरक के भय से काम्य-कर्मों का अनुष्ठान करता है इसलिये कभी तो सुरराज इन्द्र बन जाता है और फिर कभी (कूकर शूकर आदि) तिर्यक् योनि प्राप्त करता है।

चतुर्भुजदास जी कहते हैं श्री मुरलीधर की अनन्य-भक्ति के बिना भला दो घोड़ों पर बैठकर कैसे पार पाया जा सकता है? यह बिल्कुल सत्य है कि विद्या-बल, कर्म-बल एवं और भी अन्यान्य बल जो कुत्ते की पूँछ के समान हैं; उनके सहारे भव-सिन्धु को पार नहीं किया जा सकता।

सुपच पहिरि यज्ञोपवीत कर कुश जु धरत जब।
कर्म करै अघि परै डरै पुनि विश्व त्रास तव।
पुनि लिलाट पट तिलक देहि उर तुलसिमाल धरि।
हरि-हरि गुन उच्चरै पाप कुल कर्म ते परहरि।
चतुर्भुज पुनीत अन्त्यज भयौ जब मुरलीधर वर शरण लियौ।
पाछे ताके किनि लागियै जिन लोह पलटि कंचन कियौ ॥२५॥

यदि चाण्डाल यज्ञोपवीत पहिन कर हाथ में कुश धारण करे और वेदोक्त कर्म करने लग जाय तो उसे पतित कहा जाने लगेगा। सारा संसार उसके पीछे पड़कर उसे त्रास देने लगेगा। इसके विपरीत वही श्वपच यदि अपने ललाट-पटल पर तिलक धारण करले, कण्ठ में सुन्दर तुलसी की माला धारण करके श्री हरि एवं श्री हरि-भक्तों का नाम और गुण-गान करने लग जाय तो उसके समस्त पाप और कुल कर्मों का नाश ही हो जायेगा।

चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि जब अन्त्यज ने श्री मुरलीधर की शरण ली तभी वह अन्त्यज पुनीत हो गया, इसलिये हे भाई! अब तू कर्म-धर्मों को त्यागकर श्री मुरलीधर के चरण पर विन्दों में क्यों नहीं लगता जिसने अन्त्यज का लोहे से स्वर्ण बना दिया।

प्रगट दारु मथि अगनि-अगनि पुनि मिलै न दारु महिं।
दधि मथि घृत भयौ भिन्न घृत मिलहि न दधि महिं।

ऊख पेरि सर्करा भई सर्करा मिलै न ऊख पुनि।
कनक लोह तें भयौ-भयौ नहिं कनक लोह सुनि।
चतुर्भुज दारु चन्दन भयौ चन्दन होहि न दारु अब।
संसार पार मुरलीधर जु जन पै जन न मिलै संसार तब ॥२६॥

अरणियों (लकड़ियों) को मथकर जब अग्नि उत्पन्न करली गई फिर वह अग्नि पुनः काठ में नहीं मिल सकती, दधि को मथकर ही घृत तैयार किया गया, अब वह भिन्न किया हुआ घृत पुनः दधि में नहीं मिल सकता। गन्नों को पेर कर गुड़ से शर्करा बनाई जाती है वही शर्करा फिर से गन्ने में नहीं मिलाई जा सकती। लोहे से पारसमणि के स्पर्श द्वारा जब स्वर्ण बना दिया गया तब वह स्वर्ण अब पुनः लोहा नहीं बन सकता और जिस प्रकार साधारण काष्ठ से चन्दन बन जाने पर चन्दन साधारण सा काष्ठ पुनः नहीं बन सकता। चतुर्भुजदास जी कहते हैं, इसी प्रकार जो भक्त मुरलीधर का भजन करके उनके जन हो गये वे अब फिर से संसार सागर में नहीं आ सकते उनका आवागमन हो ही नहीं सकता। यह आवागमन भक्ति से ही मिटेगा। इस पर स्वामीजी कहते हैं -

अखिल लोक के जीव हैं जु तिनकी जीवनि जल।
सकल सिद्धि अरु रिद्धि जानि जीवन जु भक्ति फल।
और धर्म अरु कर्म करत भव भटक न मिटि है।
जुगम महा श्रृंखला वा जु हरि भजनन कटि है।
चतुर्भुज मुरलीधर कृपा परै पार हरि भजन बल।
छीपा चमार ताँती तुरक जगमगात जानें सकल॥२७॥

समस्त लोकों के जीवों का जीवन जल है और समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का जीवन भक्ति फल है, ऐसा जानना चाहिये। अन्यान्य कर्म और धर्मों को करते हुए संसार के आवागमन रूपी भटक न मिटेगी। जन्म एवं मरण की युगल श्रृंखला

केवल उसी एक हरि-भजन से ही कटेगी। चतुर्भुजदास जी कहते हैं कि श्री मुरलीधर की कृपा एवं हरि भजन के बल से ही जीव भव से पार हो सकता है। इसी भक्ति के प्रभाव एवं बल से नीच छीपा, (नामदेव) चमार (रैदास) ताँती (कबीर) और तुरक (मुसलमान रहीम, रखखान आदि) भी इस विश्व में जगमगा उठे।

जो श्रीहरि को त्याग कर अन्य किसी की वांच्छा करते हैं; उनके लिये श्रीमद्भागवत में कहा है-

नूनं विमुष्ट मतयस्तवमाययाते
येत्वां भवाप्यय विमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चंति कल्प कतरुं कुण पोप भोग्य
मिच्छंति यत्स्पर्शजं निरयेपि नृणाम्।

हे प्रभो ! अवश्य आपकी माया ने उन सब प्राणियों की मति को मूस लिया है जो आप जैसे अनन्य हेतु कल्पवृक्ष के समान उद्धारक प्रभु को त्यागकर नाशवान और मृगतृष्णा के समान अस्थिर भोगों की इच्छा करते हैं, जिनके स्पर्श मात्र से नरक की प्राप्ति होती है।

जिनकी शरण जाना चाहिये ऐसे भगवान कैसे है; उनका परिचय स्वामी चतुर्भुजदासजी देते हैं -

सकल तू बल छल छाँड़ि मुग्ध सेवै मुरलीधर।
मिटहिं महा भव द्वंद फन्द कटि रटि राधावर।
वत्सलता अरु अभय सदा आरत अघ सोखन।
दीनबंधु सुख सिन्धु सकल सुख दै दुख मोचन।
चतुर्भुज कल्याण अनन्त तुव हरि रति गति सब साखि हुव।
प्रहलाद विभीषण गज सु द्विज पञ्चाली अहिल्या प्रगट ध्रुव ॥२८॥

अरे भाई ! तू अब अपने सारे छल और बल को छोड़कर प्रसन्न-भाव से श्रीमुरलीधर का ही सेवन कर। इससे तेरे लोक-वेद एवं कर्म के सारे बन्धन कट कर भव-द्वंद्व (आवागमन) मिट जायगा। तू अब एक दम 'श्रीराधावर राधावर' ही रटता जा। वे प्रभु बड़े ही भक्त-वत्सल, अभयद और सदा ही अपने आर्त जनों का अघ शोषण करने वाले हैं। वे दीनबन्धु, सकल सुखों के दाता और दुःखों से छुड़ाने वाले हैं। चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि वे अनन्त कल्याण मय हैं और तेरे ही हैं। तू केवल उनसे प्रीति कर। वे अगतियों की भी गति हैं। इसके साक्षी हैं - प्रह्लाद, विभीषण, गजेन्द्र, अजामिल ब्राह्मण, पांचाली (द्रौपदी), अहिल्या और ध्रुव। ये प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इनके जीवन की ओर देख।

और देखिये भक्तों पर जहाँ जहाँ आपत्ति आई श्रीहरि ने वहीं-वहीं उनकी रक्षा की-

अम्बरीष को शाप दैन दुरवासा आयौ।
शुक्र सुतनि वह करी सुतौ प्रहलाद बँधायौ।
शंख लिखित तच तेल मध्य जु सुधन्वा डार्‌यौ।
दक्षि नारदहि श्राप द्विजनि मिलि द्विजवर मार्‌यौ।
चतुर्भुज नामा कबीर सों सवै विप्र लागत रहे।
मुरलीधर वर भजन बल जगमगात हरि पद लहे ॥२९॥

भक्त राजा अम्बरीष को शाप देने के लिये दुर्वासा जी आये थे; किन्तु श्रीहरि ने वहां भी दुर्वासा से अम्बरीष को बचाया। शुक्राचार्य्य के पुत्र षण्ड और अमर्क ने प्रह्लाद को बंधवा दिया और नाश करा देना चाहा; पर भगवान ने उसे बचाया। शंख एवं लिखित दोनों मंत्रियों ने गर्म खौलते तेल तें भक्त सुधन्वा को डलवा दिया, किन्तु सधन्वा का कुछ भी न बिगड़ा। श्रीहरि ने रक्षा की। नारद को दक्ष ने शाप दिया पर उनका भी बचाव ही हुआ। यज्ञपत्नियों में से एक भक्त

ब्राह्मणी को मथुरा के कई कर्मठ ब्राह्मणों ने मिलकर मारा परन्तु वह भगवान को प्राप्त हुई। चतुर्भुजदासजी कहते हैं भक्त नाम देव और कबीरदास से उस समय के सभी ब्राह्मण लोग डाँट रखते थे, किन्तु इन भक्तों ने मुरलीधर के भजन-प्रताप से विश्व में ख्याति; भगवत्कृपा और प्रेम के साथ-साथ उनका जगमगाता हुआ परम पद भी पाया[१]।

सत्य सकुच भजि गयौ पुन्य परि पौरिन अछयौ।
जस गयौ हँसि-करि बिडरि संग करि कीरति गछयौ।
लाज भाज गई दूर साँच लाग्यौ करि लगन।
परमारथ पथ अपथ भक्ति गुन गान दियौ न मन।
चतुर्भुज स्वामित्व न विराजही इन तन दृष्टि दिये।
शोभा हत साधु सकाम जौ लोभ पेखि परमिष्ट किये ॥३०॥

अब सकामी और लोभी भक्ति-विमुख साधु का स्वरूप वर्णन करते हैं - जिस सकामी साधु ने लोभ को ही परम इष्ट बनाया है; वह समस्त शोभाओं से हत हो चुका जानना चाहिये। उसके पास से सत्य सकुच कर भाग जाता है। पुण्य उनकी पौर को त्याग देता है। यश उन्हें हंसकर चपलता से भाग खड़ा होता है। उसी के साथ कीर्ति भी चली जाती है। लज्जा तो उससे बहुत दूर भाग जाती है। लगन संकुचित होने लगती एवं परमार्थ का पथ अपथ होने लगता है, क्योंकि उसने प्रभु के गुण-गान में मन नहीं दिया। चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि इन विमुख लोभियों की ओर दृष्टि डालने से ही स्वामित्व (भक्ति का बाना) नष्ट सा हो जाता है; शोभा नहीं देता।

---

[१] उक्त सभी कथा प्रसंग श्रीमद्भागवत में देखना चाहिये।

ता दिन पुत्र कलत्र प्राण तन धन अर्पन किये।

करि कर जल खल मुदित कृष्ण चरणनि सर्वश दिये।
सु धन आप स्वारथ जु स्वजन मंगित कों दीनौ।
विषै भोग जस योग लोग भल-भल जब कीनौ।
चतुर्भुज चोर मुरलीधर कौ दासनि देखें दुरै जौ।
भयौ भक्त भगवन्त कौ जा दिन नर गुरु शरण गौ।।३१।।

अब जो श्रीहरि के शरण होकर सशल्य रहते हैं, उसके लिये कहते हैं - रे भाई! उस दिन तो तू भगवान की शरण में जाकर बड़ा भक्त बना था जिस दिन श्रीहरि और श्री गुरु की शरण में गया था; तब उसी दिन तूने हाथ में जल लेकर अपने प्राण, तन, धन, पुत्र, स्त्री आदि सभी को प्रसन्न मन से श्री कृष्ण-चरणों में दे दिया था। किन्तु उस बात को भूलकर अब तू अपने परम धन श्री कृष्ण को छोड़कर परम स्वार्थी स्वजन भिखारियों के पीछे पड़ा है, उनका पालन-पोषण रूप कर्तव्य में लगा है; उनके साथ विषय में लगा है और जगत् की वाह वाही पाकर प्रशंसा में फूला-फूला फिरता है। प्रतिष्ठा में भगवद् भक्ति को भूल बैठा है। चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि तू निश्चय ही श्री मुरलीधर का चोर है जो उनके दासों के समाने नहीं आ सकता, यहाँ वहाँ छिपता फिरता है।

सन्तन आवत सुनत तुरत सनमुख न जोइ जौ।
उठहिं न ठाढ़ौ होहि जोहि आसन न देहि जौ।
प्रणय न आदर करै धरै अभिमान बहुत तन।
अहं एव मद-अंध भक्ति आवै न तासु मन।
चतुर्भुज चोर मुरलीधरन कौ जाके पूजे बिन जात जन।
किये सुकृतशत जनम के तिहि पाछें ही करें गवन ।।३२।।

अब साधु महिमा और साधु अवज्ञा का दुष्परिणाम बताते हुए कहते हैं कि जो मनुष्य सन्तों को सम्मुख आते सुनकर उनके सामने न जावे, आने पर उठकर

खड़ा न होवे, दर्शन न करे, आसन न देवे, प्रेम के साथ आदर न करे; उनके प्रति अभिमान धारण करे, अहंकार एवं मद से अन्धा होकर उनका असम्मान करे, उनके हृदय में भक्ति नहीं आती।

चतुर्भुज दासजी कहते हैं कि वे लोग तो श्री मुरलीधर के चोर हैं जिन व्यक्तियों के यहां से बिना ही पूजित हुए भक्त जन चले जाते हैं। उन व्यक्तियों के जन्म-जन्मों के किये हुए पुण्य उन संतों के पीछे ही विदा हो जाते हैं। पांचरात्र में साधु सम्मान की विधि इस प्रकार बताई गई है -

श्री भगवद्भक्तान्सल्लक्षण विभूषितान्।
गत्वा तान्दूरतो दृष्ट्वा दंडवत्प्रणमे द्भुवि।

जो व्यक्ति भगवद्-भक्त एवं सत्लक्षण विभूषित महापुरुषों को दूर से आता देखकर पृथ्वी पर लोट कर प्रणाम करता है वही धन्य है।

ज्यौं अंगार पर किरिम-रिंगें तौ जन जाइ रवि जु तात घर।
कोटि कर्म अरु धर्म करत जैहें निजु जमपुर।
कोटि व्रत तप करत अन्त तब गिरत जु भव महँ।
ब्रत अनन्य विनु भजन परै गुन गन प्रवाह महँ।
मुरलीधर की भक्ति सदा जुग-जुगा सर्वोपर।
चतुर्भुज जन जाइ तौ किरमि-रिंगें जौ अंगारपर।।३३।।

अब बताते हैं कि भक्त का नाश नहीं होता वह अवश्य संसार से छूट जाता है। यदि यह संभव हो कि अग्नि के अंगार पर छोटे-छोटे कृमि (कीड़े) रेंग सकें तो शायद भक्त भी यम के घर जा सकता है। किन्तु जो भक्ति छोड़कर कोटि-कोटि कर्म-धर्मों में लगे हैं वे अवश्य यमपुर में जावेंगे। कोटि-कोटि व्रत, तप आदि करते हुए भी अन्त में स्वर्गादि लोकों से पुनः संसार में गिरना ही पड़ता है। बिना

अनन्य हरि-भजन के त्रिगुण प्रवाह में पड़ना ही पड़ता है।

स्वामी चतुर्भुजदासजी कहते हैं कि श्री मुरलीधर की भक्ति ही सदा सर्वदा युगों युगों में सर्वोपरि-सर्वश्रेष्ठ है। इस भक्ति को पाकर भक्त तभी भव-प्रवाह में पड़ सकता है, भूतो न भविष्यति कीड़ा अंगार पर रेंगने जैसा असम्भव कार्य कर सके। अब इस यश का उपसंहार करते हुए कहते हैं -

ये कवित्त कृति कवनि? ठवनि विमुखन मुख भंजन।
जन अनन्य आनन्द देंन भ्रम भार निकन्दन।
श्रुति स्मृति श्री भागवत सन्त बुधिवन्त विचारै।
क्षीर नीर ज्यौं करि विवेक हरि भजन निहारै।
श्री हरिवंश सुरीति प्रगट कीनी करुणा करि।
चतुर्भुज हित चित चेत रह्यौ मुरलीधर मन धरि।।३४।।

कि ये सम्पूर्ण कमनीय कवित्त सिंह ही तरह अकड़कर विमुखों का मुख-भञ्जन करने के लिये सन्नद्ध खड़े हैं। ये भक्तों के लिये आनन्ददायक और समस्त भ्रमों के भार का नाश करने वाले हैं। ये समस्त श्रुति, स्मृति और शास्त्रों का सार एवं श्रीमद् भागवत का भी सार केवल शुद्ध भागवत तत्व है। जिन्हें सन्त और बुद्धिमान जन विचार कर सम्मान देंगे - उनका आदर करेंगे तथा वेही लोग क्षीर-नीर का विवेक करके यह देख लेंगे कि सब कर्म-धर्मों का सार केवल शुद्ध हरि-भक्ति ही है।

परम भागवत, महा पण्डित अनन्य वैष्णव और ओजश्री विभूषित प्रखर व्यक्तित्व धारी स्वामी श्री चतुर्भुजदासही कहते हैं कि उस सार रूपा भक्ति का भी सार-प्रेम लक्षणा भक्ति-की सुन्दर रीति श्री मन्महाप्रभु आचार्य्य श्री हित हरिवंशचन्द्र जू ने जीवों पर दया करके प्रगट की है। इन्हीं की दया से मेरा मन भी चेत गया -

चैतन्य हो गया और उसने प्रेमपूर्वक मुरलीधर श्रीकृष्ण को अपने में धारण कर रखा है।

वर्णाश्रमादिधृत धर्म सुबौद्ध चार्वाक् जैनी च शैव क्षपणः व्रत ज्ञान कर्माः।
मीमांसकादि षट् याज्ञिक कृच्छ योगा सर्वेषु श्रेय समिदं मम द्वादशाख्यम्॥
सर्वेश्रुणुश्च वचन हृदि लाभ युक्त मीर्षा विहाय विमृषं तु विविक्त मेतत्।
विश्वस्य छेदन करं सतु भक्ति लाभं येनांजसोच्च पदविं गमितो श्वपाकः॥

मेरा यह "द्वादश यश" नामक ग्रंथ वर्णाश्रम धर्म-धारी, बौद्ध, चार्वाक, जैन, शैव, क्षपणक, व्रती, ज्ञानी, कर्म-काण्डी, मीमांसक, छः यज्ञों के करनेवाले याज्ञिक एवं अष्टाङ्ग योगी आदि सभी लोगों के श्रेय (कल्याण) के लिये बना है। अतएव आप सब अपने अपने हृदय की ईष्या-बुद्धि का सर्वथा त्याग करके मेरी इस लाभ-मयी वाणी का ध्यानपूर्वक श्रवण करें। ये वचन विश्व-वृक्ष का छेदन करनेवाले और शीघ्र ही भक्ति का परम लाभ देनेवाले हैं। इन वाक्यों में अवगाहन करके चाण्डाल भी उच्च पदवी को प्राप्त हो चुके हैं और हो सकते हैं।

विमुख-मुख भंजन (द्वादश) यश समाप्त

॥ इति श्री द्वादश यश ग्रन्थ सम्पूर्ण ॥